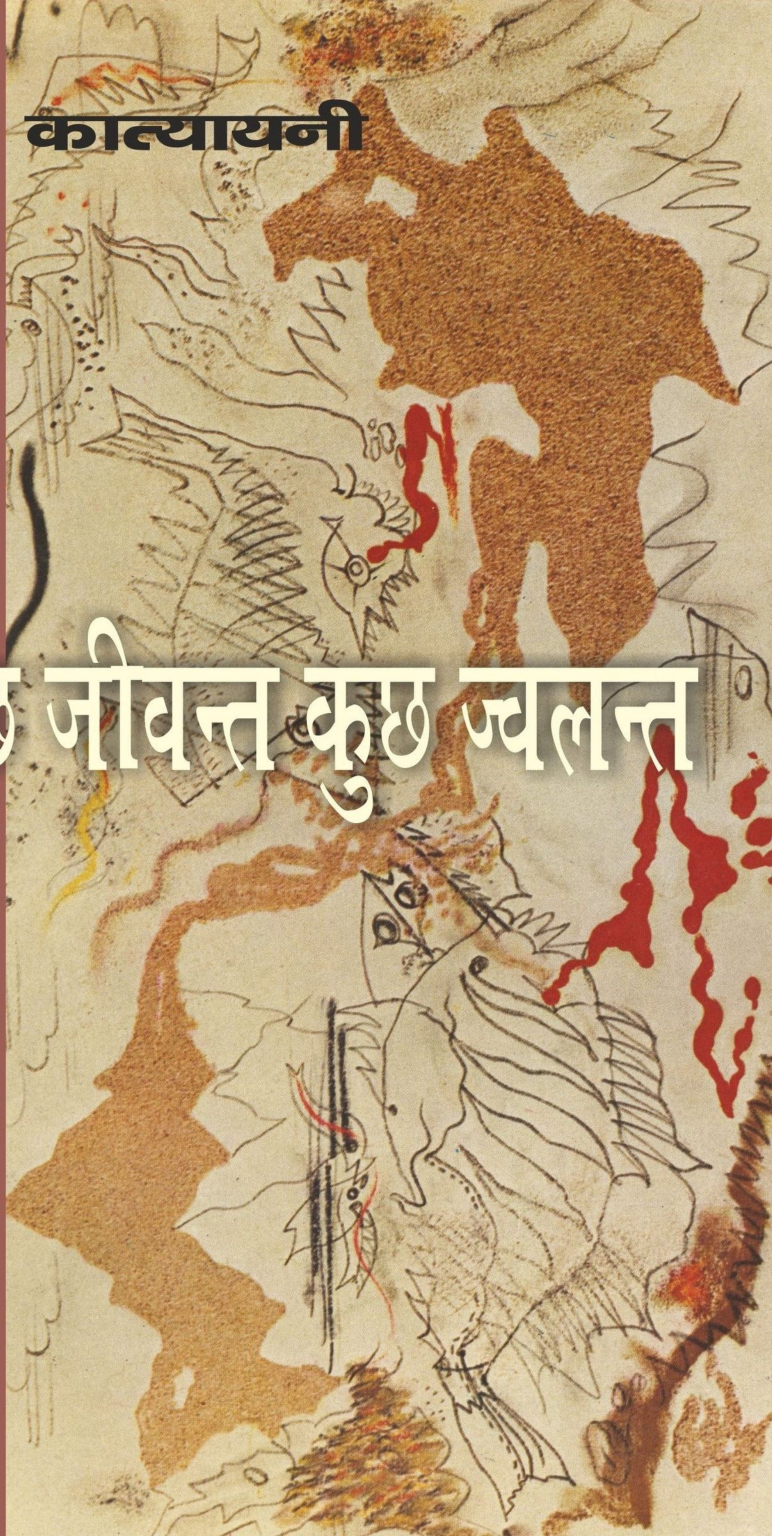

कात्यायनी
कुछ जीवन्त कुछ ज्वलन्त

समकालीन हिन्दी कविता में अपनी ओजस्विता, मर्मस्पर्शिता, वैविध्य और मुखर जन-प्रतिबद्धता के नाते जो विशिष्ट स्थान और पृथक पहचान कात्यायनी की कविताओं की है, अपनी कुशाग्र और वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक दृष्टि, 'पॉलिमिक्स' के बेलौस अन्दाज़ और जीवित-ज्वलन्त प्रश्नों पर गहन सामाजिक चिन्ताओं-सरोकारों के साथ चिन्तन के नाते आज के हिन्दी गद्य की दुनिया में उनके गद्य को भी वही स्थान प्राप्त है।

स्त्री-विमर्श पर केन्द्रित उनके लेखों का संकलन 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' भारतीय स्त्री के त्रासद वर्त्तमान और मुक्ति-स्वप्नों से गहरा सरोकार महसूस करने वाले लोगों और संघर्ष के कार्यक्रम पर व्यावहारिक ढंग से सोचने वाले लोगों के बीच बहुत चाव से पढ़ी गयी और चर्चा का विषय बनी। उनके निबन्धों का दूसरा संकलन 'षड्यंत्ररत मृतात्माओं के बीच' साम्प्रदायिक फासीवाद के ऐतिहासिक विश्लेषण, उसके प्रतिरोध की रणनीति और उससे जुड़े प्रमुख विचलनों की आलोचना तथा भारतीय सन्दर्भों में बुद्धिजीवी प्रश्न पर गहन-गम्भीर ऐतिहासिक विचार-विमर्श के चलते विशेष रूप से चर्चित हुआ। इसी संकलन के एक अन्य निबन्ध में उन्होंने आज के समय में साहित्य और प्रतिरोध कर्म के द्वन्द्वात्मक रिश्तों की सर्वथा नये कोण से गहन पड़ताल की थी।

प्रस्तुत संकलन के पहले खण्ड में कात्यायनी के साहित्यालोचना-विषयक कुछ महत्वपूर्ण निबन्धों को शामिल किया गया है। कात्यायनी आलोचना को निरन्तर अनुसन्धान और सतत पुनरान्वेषण की विधा और एक ज़िम्मेदारी भरा वैज्ञानिक कर्म मानती हैं। "सभी विद्यमान अवस्थाओं की निर्मम आलोचना"—कार्ल मार्क्स के ये शब्द कात्यायनी के आलोचनात्मक लेखन का सूत्रवाक्य प्रतीत होते हैं। अपनी निर्भीक वस्तुपरकता के चलते कात्यायनी के आलोचनात्मक निबन्ध चीज़ों को सही जगह पर, सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

संकलन के दूसरे खण्ड के निबन्ध मीडिया और साहित्य में स्त्री की स्थिति और भूमिका के अलग-अलग पक्षों को विषय बनाते हुए स्त्री विमर्श का एक नया क्षितिज और एक नया आयाम उद्घाटित करते हैं। तीसरा खण्ड संस्कृति और मीडिया के कुछ ज़रूरी और ज्वलन्त प्रश्नों पर केन्द्रित निबन्धों का है।

चौथे खण्ड की सामग्री कात्यायनी के अपने जीवन, कविताओं और उनकी रचना-प्रक्रिया पर केन्द्रित है। काफ़ी हद तक आत्मकथ्य जैसे ये निबन्ध हिन्दी के काव्यात्मक गद्य की एक नयी शैली आविष्कृत करते प्रतीत होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इनका संवेदनात्मक आवेग वैचारिक गुरुत्व का निषेध नहीं करता, बल्कि ये दोनों तत्त्व इन निबन्धों में एक द्वन्द्वात्मक संश्लेषण के विचित्र तनाव की अवस्था में देखने को मिलते हैं। हाल के वर्षों में हिन्दी के कवियों ने ही सबसे अच्छा गद्य लिखा है। कात्यायनी के ये लेख इसी धारा को और आगे विस्तार देते हैं।

कात्यायनी की प्रकाशित कृतियाँ :

1 चेहरों पर आँच (कविताओं की पुस्तिका)
2 सात भाइयों के बीच चम्पा (कविता संकलन)
3 इस पौरुषपूर्ण समय में (कविता संकलन)
4 जादू नहीं कविता (कविता संकलन)
5 राख-अँधेरे की बारिश में (कविता संकलन)
6 फुटपाथ पर कुर्सी (कविता संकलन)
7 दुर्ग-द्वार पर दस्तक (स्त्री-प्रश्न विषयक निबन्धों का संकलन)
8 षड्यंत्ररत मृतात्माओं के बीच (साम्प्रदायिक फासीवाद, बुद्धिजीवी प्रश्न और साहित्य की सामाजिक भूमिका पर केन्द्रित निबन्धों का संकलन)

कात्यायनी लिखित

कुछ जीवन्त कुछ ज्वलन्त

यह पुस्तक परिकल्पना प्रकाशन द्वारा प्रकाशित की गयी है व प्रगतिशील साहित्य के वितरक जनचेतना द्वारा कम से कम दामों में जनता तक पहुँचाई जा रही है। अगर आप पीडीएफ की बजाय प्रिण्ट कॉपी से पढ़ना चाहते हैं तो जनचेतना से खरीद सकते हैं।

जनचेतना सम्पर्क : D-68, Niralanagar, Luc-know-226020
0522-4108495; 09721481546
janchetna.books@gmail.com
Website - http://janchetnabooks.org

आप जनचेतना द्वारा वितरित किया जा रहा अन्य प्रगतिशील, मानवतावादी साहित्य दिये गये अमेजन लिंक से भी खरीद सकते हैं।

अमेजन लिंक : https://goo.gl/bxmZR5

इस पीडीएफ फाइल के अंत में जनचेतना द्वारा वितरित किये जा रहे प्रगतिशील, मानवतावादी व क्रान्तिकारी साहित्य की सूची भी दी गयी है।

हर दिन प्रगतिशील, मानवतावादी साहित्य पाने के लिए

- सुबह-सुबह प्रगतिशील कविताएं, कहानियां, उपन्यास, गीत-संगीत
- देश के महान क्रान्तिकारियों भगतसिंह, राहुल, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि का साहित्य पीडीएफ में
- देश-दुनिया की हर महत्वपूर्ण घटना पर मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण से लेख
- हर रविवार किसी महत्वपूर्ण पुस्तक की पीडीएफ



मजदूर बिगुल व्हाटसएप्प चैनल से जुड़ने के लिए इस लिंक का इस्तेमाल करें

www.mazdoorbigul.net/whatsapp

जुड़ने में समस्या आने पर अपना नाम और जिला लिखकर इस नम्बर पर भेज दें – 9892808704

वैकल्पिक नम्बर : 9619039793

फेसबुक पेज : fb.com/unitingworkingclass

टेलीग्राम चैनल : www.t.me/mazdoorbigul







कुछ जीवन्त कुछ ज्वलन्त

कुछ जीवन्त कुछ ज्वलन्त

साहित्य-समाज-संस्कृति के समकालीन परिदृश्य और ज्वलन्त प्रश्नों पर केन्द्रित कुछ निबन्ध

जिन्दा लोग जिन्दा सवालों पर सोचते हैं।

प्लेखानोव

कात्यायनी



परिकल्पना प्रकाशन

लखनऊ

मूल्य : रु. 90.00

सर्वाधिकार : परिकल्पना प्रकाशन

प्रथम संस्करण : जनवरी, 2006

परिकल्पना प्रकाशन
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226 020 द्वारा प्रकाशित

कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन द्वारा टाइपसेटिंग

क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

आवरण : **रामबाबू**

KUCHH JEEVANT KUCHH JWALANT by **Katyayani**

ISBN 978-81-87425-21-2 (Paperback)

प्रस्तावना

हेगेल ने कहा था कि *"सभी यथार्थ चीज़ें बुद्धिसंगत होती हैं और सभी बुद्धिसंगत चीज़ें यथार्थ होती हैं।"* इस स्थापना को थोड़ा विस्तार देते कहा जा सकता है कि सभी यथार्थ चीज़ें समय के साथ अबुद्धिसंगत हो जाती हैं और क्रान्तियों द्वारा उनका ध्वंस कर दिया जाता है।

कला-साहित्य और विचारों की दुनिया में भी यही होता है। जो कुछ भी समय के साथ अबुद्धिसंगत हो जाता है, उसका ध्वंस और नये, बुद्धिसंगत को स्थापित करने का क्रान्तिकारी दायित्व आलोचना का होता है। विपर्यय और गतिरोध के ऐतिहासिक कालखण्डों में, आलोचना प्रायः अपने इस दायित्व से विमुख हो जाती है और तब इस आलोचना की आलोचना भी एक ज़रूरी काम बन जाता है।

आलोचना की दुनिया में कोई भी मान्यता या स्थापना शाश्वत नहीं होती। इसलिए आलोचना निरन्तर अनुसन्धान की, सतत् पुनरान्वेषण की विधा है। यह एक वैज्ञानिक कर्म है। अमूर्त और कलात्मक बनाने की अतिरिक्त चेष्टाएँ इसे प्रयोजन-विमुख कर देती हैं।

आलोचना कला-कृति का मूल्याँकन करती है। लेकिन यह मूल्याँकन रचना या रचनाकार की प्रतिष्ठा, प्रशंसा या सम्मान के लिए नहीं, बल्कि इसलिए होता है कि रचना में जीवन का और अधिक सटीक परावर्तन हो, जीवन का कलात्मक पुनर्गठन और अधिक उन्नत धरातल पर हो। आलोचना एक ऐतिहासिक रूप से ज़रूरी सामाजिक दायित्व है।

आलोचना की दुनिया में आज जो अराजकता व्याप्त है, वह मौजूदा साहित्यिक परिदृश्य के वैचारिक पक्ष के दिवालियेपन का द्योतक है। एक पक्ष वह है, जिसकी इस अराजकता से लक्ष्यसिद्धि हो रही है। दूसरा पक्ष उनका है, जो नासमझी या निजी महत्वाकांक्षाओं के चलते इस अराजकता को फैलाने में सहायक हैं। और वामपंथी शिविर के ऐसे 'ट्रोज़ेन हॉर्स' भी हैं, जो रूपवाद के नये-नये भाषाई छल रच रहे हैं तथा प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की विभाजक रेखाओं को हर तरह से धूमिल करते हुए तरह-तरह के विभ्रम रच रहे हैं। यह सबकुछ आज जीवन-जगत में हुए परिवर्तनों के नाम पर किया जा रहा है और तुर्रा यह कि उन परिवर्तनों पर कुछ अमूर्त सूत्रों

से आगे, कुछ बात भी नहीं होती। पुराने सर्वसमावेशी सिद्धान्तों की "ऐतिहासिक पराजय" हर टुटपूँजिये को सिद्धान्तकार बनने के लिए प्रेरित कर रही है और आलोचना की दुनिया में बौने कूपमण्डूकों ने धुमगज्जर मचा रखा है। इस स्थिति की निर्मम और सुव्यवस्थित आलोचना चीज़ों को पटरी पर लाने के महाउपक्रम का एक ज़रूरी हिस्सा होगा।

मार्क्स ने बुर्जुआ यथार्थ की अपनी आलोचना के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध करते हुए लिखा था : *"मैं यहाँ **सभी विद्यमान अवस्थाओं की निर्मम आलोचना** की बात कर रहा हूँ। यह आलोचना दो अर्थों में निर्मम होनी चाहिए : यह स्वयं अपने ही निष्कर्षों से भयभीत न हो और सत्ताधारियों के टकराव से बचने की कोशिश न करे।"* हिन्दी साहित्य को भी आज ऐसी ही आलोचना की ज़रूरत है।

आलोचना मेरे लेखन का क्षेत्र नहीं। आज एक आलोचक का दायित्व जितना गम्भीर हो गया है, वह कुशाग्र और वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक दृष्टि की माँग करता है। फिर भी, आज स्थिति ही ऐसी है कि प्रायः ऐसा होता रहता है कि किसी जारी बहस में अपना पक्ष या विचार रखना बेहद ज़रूरी, बल्कि अपरिहार्य लगने लगता है। कभी किसी गोष्ठी या परिचर्चा का विषय इतना ज्वलन्त होता है कि उसमें भागीदारी का आग्रह स्वीकारना ही होता है। इन्हीं कारणों से राजनीतिक-सामाजिक गतिविधियों और कवि-कर्म के बाद, प्राथमिकता-क्रम से तीसरे स्थान पर, साहित्य के विचार-पक्ष या आलोचना-पक्ष से जुड़े विषयों पर और विविध सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों पर कुछ न कुछ लिखना होता रहा है। ऐसा जो कुछ भी मेरा लेखन है, वह बहुत व्यवस्थित नहीं है। लेकिन मेरी कोशिश हमेशा यही रही है कि जिस मुद्दे को उठाया जाये, उस पर दो टूक ढंग से अपनी राय रखी जाये, जो ग़लत लगे उसकी निर्मम आलोचना, बिना किसी चीज़ की परवाह किये, की जाये, और जो तर्कसंगत हो, जनपक्षीय हो, भविष्योन्मुख हो, उसे स्थापित करने या रोशनी में लाने की कोशिश की जाये।

इस संकलन के पहले खण्ड में कुछ आलोचनात्मक निबन्ध और कुछ टिप्पणियाँ हैं। दूसरा खण्ड मीडिया और साहित्य में स्त्रियों की स्थिति और भूमिका को अलग-अलग कोणों से उठाने वाले लेखों और टिप्पणियों का है। तीसरे खण्ड में हमारे समय में पढ़ने की संस्कृति की समस्या पर, किताबों की दुनिया पर बाज़ार उपनिवेशवाद के हमले पर केन्द्रित दो लेख हैं।

चौथे खण्ड की सामग्री काफ़ी हद तक आत्मकथ्य जैसी है, अपने जीवन पर, अपनी कविताओं पर और उनकी रचना-प्रक्रिया पर केन्द्रित। इनमें से पहला 1996 में अश्क स्मृति व्याख्यान के रूप में *'मैं और मेरा समय'* विषय के अन्तर्गत इलाहाबाद में पढ़ा गया था। दूसरा *अन्यथा* पत्रिका के लिए कविताओं के साथ प्रकाशन के लिए लिखा था। यह इस दृष्टि से दिलचस्प है कि इसमें डायरी के पन्नों को पिरोकर जीवन, कविता और रचना-प्रक्रिया के बारे में अपने विचारों को एक सिलसिला देने की

कोशिश की गयी है।

इस संकलन की सामग्री को विभिन्न ज़रूरी मुद्दों पर जारी बहसों में हस्तक्षेप के रूप में लिया जाना चाहिए। बहस के लिए बहस का कोई मतलब नहीं, लेकिन कुछ मामलों में ज़रूरी नतीज़ों तक पहुँचने के लिए आज बहस बेहद ज़रूरी है।

- कात्यायनी

1 जनवरी, 2006

अनुक्रम

I

II

III

IV

दलित प्रश्न और प्रेमचन्द के आलोचक

राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में दलित-प्रश्न को लेकर विचार और बहस का आज जो घनघोर अविराम क्रम जारी है, उसमें परम्परा के पुनर्मूल्याँकन का प्रश्न आना ही था। लेकिन क्षोभ की बात यह है कि सारी बहस बेहद सतही धरातल पर हो रही है और तर्क की वस्तुपरकता की जगह पूर्वाग्रही भावावेश का घटाटोप-सा छाया हुआ है। दलित-हितों के कुछ नये चौंक-चमत्कारवादी, ग़ैर-दलित मसीहाओं के धुमगज्जर और कुछ पराजित-मन नवमार्क्सवादियों के, अतीत की "ग़लतियों" को लेकर "पाप स्वीकृति" की भावना से ओत-प्रोत हो जाने तथा दलितों का हृदय जीतने के लिए वैचारिक प्रश्नों और ऐतिहासिक तथ्यों को दरकिनार कर (मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के) विचित्र विचारधारात्मक समन्वयवादी खिचड़ी पकाने में मशगूल हो जाने के चलते स्थिति थोड़ी और जटिल हो गयी है, संजीदगी और चिन्ता के साथ सोचने-विचारने के माहौल में थोड़ी और गिरावट आ गयी है, कूपमण्डूकता और अविचारी-दुर्विचारी सतहीपन थोड़ा और बढ़ गया है।

हम समझते हैं कि इस बहस को थोड़ी और गहराई में ले जाने की ज़रूरत है। ख़ासकर जो दलित बुद्धिजीवी सच्चे अर्थों में दलित-मुक्ति और जाति के स्थायी उन्मूलन की किसी परियोजना को लेकर चिन्तित हैं, जिनकी चिन्ता शहरी मध्यवर्गीय परजीवियों के समाज में कामचलाऊ सामाजिक सम्मान पा लेने मात्र की नहीं है, जिनकी प्रतिबद्धता पाँच प्रतिशत दलित मध्यवर्ग के प्रति नहीं, बल्कि 95 प्रतिशत दलित सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा के प्रति है, उन्हें वर्तमान के साथ ही अतीत के प्रति भी एक द्वन्द्वात्मक वस्तुपरक रुख अपनाना होगा और परम्परा एवं विरासत के सर्वनिषेधी अनैतिहासिक मूल्याँकन से बचना होगा। दागिस्तानी लोक कवि **अबू तालिब** (*'मेरा दागिस्तान'* में रसूल हमज़ातोव द्वारा उद्धृत) के शब्दों में, *'यदि तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली चलाओगे तो भविष्य तुमपर तोप से गोले बरसायेगा।'* निरे क्रोध और भावोच्छवासों से या अम्बेडकरवाद की दुहाई-मात्र देते हुए 'भोगे हुए यथार्थ' के यथातथ्य चित्रण भर से न तो किसी तरह की दलित-मुक्ति-परियोजना प्रकट होती है, न ही उस पर सोचने का कोई पूर्वाधार तैयार हो पाता है।

प्रेमचन्द फिर विवादों के घेरे में हैं। साहित्य में दलितों की रहनुमाई का दम भरने वाली एक संस्था ने *'रंगभूमि'* पर दलितों की भावनाओं को आहत करने का

आरोप लगाते हुए उसे जलाने की घोषणा की ही थी कि **मुद्राराक्षस** ने अपने सुपरिचित बड़बोले अन्दाज़ में फतवा दे डाला कि *"रंगभूमि का जैसा विरोध किया जा रहा है, उससे ज़्यादा बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए"* (*'हिन्दुस्तान'* लखनऊ, 1 अगस्त 2004) यही नहीं, इसी वर्ष प्रेमचन्द जयन्ती पर लखनऊ में आयोजित एक गोष्ठी में और फिर *'राष्ट्रीय सहारा'* (8 अगस्त, 2004) में प्रकाशित अपनी एक टिप्पणी में उन्होंने प्रेमचन्द को न सिर्फ़ दलित विरोधी तथा वर्णाश्रम व्यवस्था और बालिका विवाह का समर्थक, बल्कि नाज़ीवाद का भी समर्थक सिद्ध कर डाला। अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जितने सस्ते और शातिराने ढंग से प्रेमचन्द की कुछ तात्कालिक टिप्पणियों के हवाले सन्दर्भों से काटकर दिये, वह शर्मनाक़ है और निन्दनीय भी। लेकिन ज़रूरत इस बात की है कि 'रंगभूमि'-दहन के दुस्साहस और मुद्राराक्षसी बड़बोलेपन की ताजा सनसनीखेज घटनाओं की पृष्ठभूमि में जाया जाये और यह देखा जाये कि दलित-प्रश्न को लेकर किसतरह कुछ दलितवादी लेखक प्रेमचन्द को पहले से ही कटघरे में खड़ा करते रहे हैं।



प्रेमचन्द की कालजयी यथार्थवादी कहानियों की चाहे कोई भी सूची बनाई जाये, उसमें *'क़फन', 'सद्‌गति'* और *'ठाकुर का कुआँ'* - दलितों के जीवन के दाहक-मारक यथार्थ की ये तीन कहानियाँ अवश्य ही शामिल होंगी। कतिपय दलित लेखक इन्हीं तीन कहानियों पर सर्वाधिक आपत्ति प्रकट करते रहे हैं। कुछ आपत्तियाँ मात्र यह कहने तक सीमित रही हैं कि प्रेमचन्द दलित जीवन के कई पहलुओं से अपरिचित थे, या, दया और सहानुभूति से वे आगे नहीं जा पाते, लेकिन कुछ ने तो उन्हें सवर्णवादी और दलित-विरोधी तक घोषित कर डाला। कुछ ने उन्हें गाँधीवादी बताते हुए उनके विचारों को उनके बोध एवं धारणा की सीमा बताया और यह घोषणा की कि अम्बेडकरवादी चिन्तन को आधार बनाये बिना दलित जीवन के यथार्थ को समझना और प्रस्तुत करना असम्भव है, या कि सिर्फ़ एक दलित ही अपनी "स्वानुभूति" के आधार पर दलित जीवन के यथार्थ का प्रामाणिक चित्रण कर सकता है। इन मसलों पर एक बार फिर सिलसिलेवार विचार करने की ज़रूरत है। यह ज़रूरत सर्वोपरि तौर पर इसलिए है कि दलित मुक्ति के प्रश्न पर सिर्फ़ दलितों का ही सर्वाधिकार सुरक्षित नहीं हो सकता, क्योंकि यह समूची उत्पीड़ित-शोषित भारतीय जनता की मुक्ति का एक बुनियादी और अनिवार्य प्रश्न है। दलित मुक्ति परियोजना जन मुक्ति की किसी व्यापक परियोजना के एक अंग के रूप में ही सार्थक हो सकती है और जन-मुक्ति की कोई भी परियोजना दलित-मुक्ति के प्रश्न को एजेण्डे पर लिये बिना अधूरी और अव्यावहारिक ही रहेगी। साथ ही, उपरोक्त मसलों पर सिलसिलेवार विचार की ज़रूरत इसलिए भी है कि यथार्थवाद की अवधारणा की नानाविध भ्रामक

और सतही समझों का विश्लेषण और उनकी आलोचना आज बेहद ज़रूरी है। दलित बुद्धिजीवियों को नाराज़ कर देने की भय-ग्रन्थि से पीड़ित और दलित जनों को साथ लेने की सोच से विचारधारात्मक-सैद्धान्तिक मसलों पर भी लीपापोती करने वाले या 'नरो वा कुंजरों' की भाषा बोलने वाले मार्क्सवादियों ने भी यथार्थवाद की वैज्ञानिक अवधारणा पर तरह-तरह से कुत्सित समाजशास्त्रीय और उत्तरआधुनिक विखण्डनवादी विचारों की कालिख पोतने की कोशिश की है।

'क़फन' कहानी पर दलित लेखकों का एक बड़ा हिस्सा यह आरोप लगाता रहा है कि घीसू और माधव - इन दो दलित चरित्रों को कामचोर, निठल्ला और हृदयहीन दिखलाकर प्रेमचन्द ने दलित जीवन के प्रति एकांगी, अपमानजनक और अयथार्थवादी रुख अपनाया है, कि ऐसा करके उन्होंने अपनी सवर्णवादी मानसिकता का परिचय दिया है... आदि-आदि! क्या सचमुच इस कहानी में प्रेमचन्द ने दलितों के प्रति अपमानजनक रवैया अपनाया है? क्या उनका मकसद यह दिखलाना था कि दलित होते ही ऐसे हैं? क्या कहानी का उद्देश्य घीसू और माधव को प्रतिनिधि दलित चरित्र के रूप में प्रस्तुत करना है?

यदि इस आरोप को सच माना जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि **मक्सिम गोर्की** ने अपनी अधिकांश कहानियों और उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग को पर्याप्त लांछित-अपमानित किया है। उनकी कई कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में लम्पट-आवारा- पियक्कड़-कामचोर सर्वहारा चरित्र बहुतायत में देखने को मिलते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, *"मुझको लम्पट और आवारागर्द आम प्रथा से हटे हुए लोग प्रतीत होते थे। वे लोगों की रीति से भिन्न थे क्योंकि जाति की हानि तथा अपने वर्ग से निष्कासन के कारण उन्होंने अपनी पुरानी पृष्ठभूमि के सर्वाधिक विशिष्ट गुणों का विसर्जन कर दिया था" ('मैंने लिखना कैसे सीखा')*। विमानवीकृत (डीह्युमनाइज़्ड) और लम्पट सर्वहारा चरित्रों का सृजन करते हुए गोर्की के प्रहार का निशाना सर्वहारा वर्ग नहीं, बल्कि अमानवीय (इनह्यूमन) शोषण की वह सामाजिक प्रणाली थी जो शोषितों से मानवीय जीवन की न्यूनतम शर्तें तक छीन लेती थीं और नतीज़तन उनके बीच से ऐसे विमानवीकृत, लम्पट चरित्र सामने आते थे जिनकी चेतना विघटित हो चुकी होती थी।

इस बात को समझने के लिए हमें **कार्ल मार्क्स** की कुछ बुनियादी दार्शनिक प्रस्थापनाओं तक वापस लौटना होगा। यह चर्चा लम्बी होने के कारण थोड़ी असुविधाजनक हो सकती है, लेकिन फिर भी यह नितान्त आवश्यक है। *'पवित्र परिवार'* नामक अपनी सुप्रसिद्ध कृति में मार्क्स ने लिखा था कि समाजवादी लेखक जब निजी सम्पत्ति के नाश की विश्व-ऐतिहासिक भूमिका सर्वहारा वर्ग की बताते हैं तो वे ऐसा सर्वहारा वर्ग को देवता मानने के चलते नहीं करते, बल्कि बात इसके उलट है। वह लिखते हैं : *"चूँकि पूर्ण रूप से गठित सर्वहारा वर्ग में सभी मानवीय चीज़ों*

*से, मानवीय चीज़ों के **आभास** तक से पृथक्करण लगभग पूरा हो गया है; चूँकि सर्वहारा वर्ग के जीवन की अवस्थाओं में आज के समाज के जीवन की तमाम अवस्थाओं का अमानवीय रूप में समाहार है; चूँकि सर्वहारा में मनुष्य अपने को खो बैठा है, परन्तु साथ ही उसने इस खोने की सैद्धान्तिक चेतना हासिल ही नहीं की है, अपितु वह तात्कालिक, अब दूर न की जा सकने वाली, अब छुपायी न जा सकने वाली, सर्वथा अपरिहार्य **आवश्यकता - अनिवार्यता** की व्यावहारिक **अभिव्यक्ति** - के जरिए इस अमानवीयता के विरुद्ध सीधे विद्रोह करने के लिए विवश है, तो इससे यह अर्थ निकलता है कि सर्वहारा अपने को स्वतंत्र कर सकता है तथा उसे ऐसा करना होगा। परन्तु वह अपने जीवन की अवस्थाओं का उन्मूलन किये बिना ऐसा नहीं कर सकता"* ('पवित्र परिवार')। मार्क्स के अनुसार, जो मानवीय आत्मपार्थक्य सम्पत्तिशाली वर्गों के चैन का और अपने अस्तित्व एवं शक्ति के आभास का सबब होता है, उसी में *"सर्वहारा वर्ग अपने को नष्ट हुआ देखता है और उसमें अपनी शक्तिहीनता तथा अमानवीय अस्तित्व की वास्तविकता देखता है।"* यथार्थ चित्रण के प्रति मार्क्स का यह दृष्टिकोण सामाजिक क्रान्ति और उसके वाहक वर्गों के प्रति भाववादी दृष्टिकोण के निषेध का परिचायक था, यह **गेटे** और **हेगेल** तक के *"सौन्दर्यपरक दौर"* के अन्त का, *"कुरूप"* क्रान्ति द्वारा *"सुन्दर"* क्रान्ति की जगह ले लेने का (जैसाकि मार्क्स इसे कहना पसन्द करते थे) द्योतक था।

उन्नीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक में **एजेन सू** का प्रसिद्ध उपन्यास *'दि मिस्ट्रीज़ ऑफ पेरिस'* की काफ़ी चर्चा थी। वामपन्थी हेगेलवादी **सेलिगा** ने उपन्यास में प्रस्तुत सामाजिक समस्याओं के पाखण्डपूर्ण नैतिक समाधानों की खूब प्रशंसा की थी। 'पवित्र परिवार' पुस्तक में मार्क्स और एंगेल्स ने कल्पनावादी (भाववादी) सौन्दर्यशास्त्र की आलोचना प्रस्तुत करते हुए इस उपन्यास की विस्तार से चर्चा की है। उपन्यास में एजेन सू ने अच्छे और बुरे के द्वन्द्व को आभिजात्य और ईमानदारी की अमूर्त स्थापना के प्रति अतिरिक्त आग्रह जताकर हल करने की कोशिश की थी। मूर्त को अमूर्त के अधीन करते हुए एजेन सू ने पात्रों की रचना इसतरह से की थी, मानो वे मात्र इस या उस विचार अथवा लेखकीय मन्तव्यों के प्रतिपादन मात्र के लिए बने हों। मार्क्स कुरूप सामाजिक ढाँचे की अमानवीय परिस्थितियों के विमानवीकारी (डीह्यूमनाइजिंग) प्रभावों के चित्रण के साथ ही जीवन्त शक्तियों और चरित्रों के स्वतः विकास के पक्ष में थे। उन्होंने सू के भाववादी नज़रिए की आलोचना करते हुए यह स्पष्ट किया कि *"दुनिया की जो अवस्था"* व्यक्ति को अंधी सामाजिक शक्तियों का महज़ एक पुर्जा बनाकर छोड़ देती है, वह **हेगेल** के सौन्दर्यशास्त्र में वर्णित *"दुनिया की महाकाव्यात्मक अवस्था"* के सीधे विरोध में होती है। एजेन सू की अमूर्त आदर्शीकृत स्थापनाओं के उलट, मार्क्स ने ईमानदारी और सामाजिक रूप से "मान्य" सद्गुणों के ख़िलाफ़ अपनी आलोचना में उन चरित्रों का पक्ष लिया जो ऐसे गुणों के

ख़िलाफ़ खड़े थे और सभ्य दुनिया के अनधिकृत पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। 'दि मिस्ट्रीज़ ऑफ पेरिस' में विभिन्न किस्म के जिन लम्पट सर्वहाराओं को चित्रित किया गया था, मार्क्स ने उनकी "विघटित चेतना" में पूँजीवाद का मानवद्रोही चरित्र और उसके विमानवीकारी प्रभावों को लक्षित किया। **मिखाइल लिफ्शित्ज़** के शब्दों में, *".....मार्क्स को एक महान वर्ग के इन पतित प्रतिनिधियों में भी ऐसे गुण दिखाई पड़े जो पूँजीवादी सम्बन्धों की उबाऊ नीरसता की अपेक्षा कहीं ज़्यादा ही कलाकार का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं" ('कार्ल मार्क्स का कला दर्शन')*। मार्क्स का विचार था कि सर्वहारा वर्ग *"मानवता का कोई ऐसा समूह नहीं है जो यांत्रिक ढंग से समाज के भार के नीचे दबा हुआ है, बल्कि यह ऐसा समूह है जो समाज के विघटन से पैदा हुआ है,* और इसलिए यह अन्ततः एक ऐसी शक्ति बन जाता है, जो *"मौजूदा समाज के अस्तित्व की समस्त मानवीय परिस्थितियों का निषेध करता है।"*

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'फेनामेनालोजी ऑफ माइण्ड'* में *"विघटित चेतना"* का विश्लेषण करते हुए **हेगेल** ने उन सामाजिक समूहों पर विचार किया है जो सामाजिक प्रगति के निषेधात्मक पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन समूहों में ग़रीबी, पारिवारिक जीवन एवं आत्मिक मूल्यों का विघटन और भद्र समाज के नैतिक मूल्यों के प्रति घृणा का भाव ख़ास तौर पर देखने को मिलता है। ये समाज-बहिष्कृत लोग अपने अस्तित्व के "अमानवीय" स्वरूप और सामाजिक सम्बन्धों के अन्तरविरोधों को पहचानते हैं और वहाँ तक अधिकृत समाज से ऊपर उठ जाते हैं, जबकि अधिकृत समाज आभिजात्य और ईमानदारी के आड़ में सिर्फ़ अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगा रहता है। **दिदेरो** के लघु उपन्यास *'रामो का भतीजा'* के नायक की हेगेल ने इसी रूप में व्याख्या की थी और मार्क्स का भी उसके बारे में वही विचार था। हेगेल के अनुसार, *"विघटित चेतना"* जब खुद को पुरानी विश्व व्यवस्था के विघटन के उपज के रूप में पहचानने लगती है, तब वह अपने विरोधी में बदल जाती है। यह सारे सामाजिक सम्बन्धों के छद्म और झूठ को समझने लगती है और *"क्रुद्ध चेतना"* बन जाती है। लेकिन चूँकि भाववादी द्वन्द्ववाद गति का विराम से, स्थायित्व का संगठनहीनता से और सामान्य सापेक्षता का सामान्य बोध से सामंजस्य स्थापित करता है, चूँकि वह अन्तरविरोधों के सतत् विकास में नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी प्रक्रिया के ठहराव में विरोधों की एकता का दर्शन करता है, इसलिए हेगेल का मानना था कि *"क्रुद्ध चेतना"* की क्रान्ति और आतंक-राज्य के रूप में अभिव्यक्ति के बाद *"नैतिकता"* का राज्य आ जायेगा, जिसमें *"आत्मसजग आत्मा"* प्रबोधनकाल के अन्तरविरोध हल कर देगी। इसके विपरीत, मार्क्स का भौतिकवादी द्वन्द्ववाद "क्रुद्ध चेतना" से क्रान्तिकारी चेतना की ओर संक्रमण की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि सामाजिक अन्तरविरोधों का विकास निम्न श्रेणी के लोगों को स्वतः एक ऐसी क्रान्तिकारी रचनात्मक शक्ति में बदल डालता है जो *"मौजूदा समाज के अस्तित्व की समस्त*

अमानवीय परिस्थितियों का निषेध करता है।" और फिर दुनिया के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में मेहनतकश स्वयं अपनी प्रकृति का भी पुनर्निर्माण करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में लिखी गयी मक्सिम गोर्की की बहुतेरी कहानियों के निम्नवर्गीय चरित्र "विघटित चेतना" वाले लम्पट सर्वहारा चरित्र हैं। *'वे तीन'* उपन्यास *'तलछट'* नाटक के सर्वहारा चरित्र और कुछ अन्य कहानियों के सर्वहारा पात्र "क्रुद्ध चेतना" वाले प्रतिनिधि पात्र है, जबकि *'दुश्मन'* नाटक के ड्राइवर **नील** और *"माँ"* के **पावेल व्लासोव** के रूप में हम "क्रुद्ध चेतना" को क्रान्तिकारी चेतना में रूपान्तरित होते देख सकते हैं।

विमानवीकरण और "विघटित चेतना" के बारे में मार्क्सवादी अवधारणा पर यह विस्तृत चर्चा शायद प्रसगांतर प्रतीत हुई हो, पर 'कफ़न' के विश्लेषण के लिए इसके विस्तार में जाने की मजबूरी थी। 'कफ़न' के मुख्य पात्र घीसू और माधव अर्द्धसामन्ती समाज के सबसे निचले पायदान के पात्र हैं - वे पूँजीवादी समाज के सर्वहारा के पूर्वज वर्ग के सदस्य हैं। दारुण ग़रीबी, पारिवारिक मूल्यों का विघटन और जातिगत अपमान उनकी ऐसी नियति है, जिससे छुटकारा उन्हें दूर-दूर तक नहीं दीखता। जिस समाज में हाड़तोड़ मेहनत के बाद भी दो जून का भोजन नसीब नहीं, और अपमान से किसी भी हाल में छुटकारा नहीं, उस समाज में काम बिना किये जीने और अपमान झेलने की आदत डालकर वे अधिकृत समाज की सारी मान्यताओं और रागात्मकता का निषेध प्रस्तुत करते हैं। उनका जीवन ही मानो सामाजिक-नैतिक नियमों की वस्तुगत, नकारात्मक आलोचना है।

कहानी का यह हिस्सा ख़ास तौर पर घीसू और माधव की जीवन स्थितियों और आत्मिक जगत को स्पष्ट कर देता है : *"जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत कुछ अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इसतरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरच की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज़्यादा विचारवान था, जो किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के अन्य लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उसपर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम से कम उसे किसानों की सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा नहीं उठाते!"*

समाज-बहिष्कृत घीसू और माधव अपने अस्तित्व के "अमानवीय" स्वरूप और सामाजिक सम्बन्धों के अन्तरविरोधों को पहचानते हैं और अपनी "आकाशवृत्ति" के जरिए हाड़तोड़ मेहनत करके भी कुछ न पाने की स्थिति का निषेध करते हुए अधिकृत

समाज से ऊपर उठ गये हैं। घीसू और माधव समूचे दलित मेहनतकश समाज के प्रतिनिधि या 'टाइप' चरित्र नहीं हैं। वे विमानवीयकरण की उस प्रक्रिया के प्रतिनिधि उदाहरण हैं जिसके मूल में गाँवों की प्राक्पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना में शताब्दियों से, बल्कि यूँ कहें कि सहस्राब्दियों से जारी दलितों के बर्बर शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया की परिणति है। घीसू और माधव "विघटित चेतना" के प्रतिनिधि उदाहरण हैं। उनकी चेतना यूरोप के उन लम्पट सर्वहाराओं की "क्रुद्ध चेतना" की अवस्था तक भी अभी विकसित नहीं हुई है, जिनका व्यापक अस्तित्व, मध्ययुग के अन्त के बाद, और सेक्युलर जागरूक सर्वहारा के उदय के पहले वहाँ देखने को मिलता है। भारतीय ग्राम समुदायों में सहस्राब्दियों से जारी दलित-उत्पीड़न को देखते हुए विमानवीकरण की इस विशिष्ट भारतीय परिघटना को सहज ही समझा जा सकता है। "विघटित चेतना" और विमानवीकरण की प्रक्रिया को घीसू-माधव जैसे प्रतिनिधि चरित्रों के जरिए दर्शाते हुए प्रेमचन्द ने वास्तव में समाज की उस अवस्था की ऐतिहासिक आलोचना प्रस्तुत की है जो व्यक्ति को अंधी सामाजिक शक्तियों का महज एक पुर्जा बनाकर छोड़ देती है, उसके व्यक्तित्व में मानवीय लगने वाले हर तत्व को विनाश के बिंदु तक पहुँचा देती है और उससे मानव होने की बुनियादी शर्तों तक को छीन लेती है। लेकिन प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत सामाजिक व्यवस्था की आलोचना को कतिपय दलित लेखकों द्वारा समूचे दलित समाज की आलोचना या उसका अपमान समझ बैठना अनायास नहीं है।

प्रेमचन्द के आलोचक ये दलित लेखक वास्तव में सामाजिक परिघटनाओं के कारण-कार्य-सम्बन्धों की पड़ताल करने के बजाय सिर्फ़ सतह के यथार्थ को ही पकड़ने के अभ्यासी हैं। इनका यथार्थवाद कहीं-कहीं यदि यथार्थवाद लगता भी है तो वह दरअसल "भोगे हुए यथार्थ" का संकीर्ण अनुभववाद है या फिर प्रकृतवाद है। 'दि मिस्ट्रीज़ ऑफ पेरिस' के विचारधारात्मक आधार और नवहेगेलपंथियों के भाववाद की संरचना की आश्चर्यजनक समानता का उल्लेख करते हुए मार्क्स ने कल्पनावादी (भाववादी) पद्धति और पूँजीवादी रोमांटिक पद्धति में इस समानता की चर्चा की थी कि *"... असल में ये दोनों ही वास्तविक मनुष्यों को अमूर्त दृष्टिकोणों में बदल देते हैं।"* वह एजेन सू पर यह आरोप लगाते हैं कि *"उसने पात्रों को यूँ गढ़ा है, मानो वे अपने विचारों, अपनी क्रियाओं के सचेतन प्रेरकों और उन लेखकीय इरादों का प्रतिपादन करने के लिए ही बने हैं, जिनके कारण लेखक उन्हें इस या उस तरीक़े से कार्रवाई करता हुआ दिखाता है।"* हिन्दी के अधिकांश दलित लेखकों की रचनाओं के बारे में ठीक यही बात कही जा सकती है, जो मार्क्स ने एजेन सू के बारे में कही है। उनके पात्र लेखकीय विचारों के यांत्रिक प्रवक्ता मात्र होते हैं और इसी मानसिकता से जब वे प्रेमचन्द के लेखन को देखते हैं तो 'कफ़न' में उन्हें सामाजिक व्यवस्था की आलोचना के बजाय समूचे दलित समुदाय का अपमान दिखाई देता है तथा

'सद्गति' और 'ठाकुर का कुआँ' में भी उन्हें प्रेमचन्द के समय के ग्रामीण समाज के निर्मम, घृणास्पद यथार्थ की जगह दलितों के प्रति प्रेमचन्द की सवर्णवादी मानसिकता झाँकती नज़र आती है।

यह अपेक्षा करना कि 'ठाकुर का कुआँ' के दलित पात्रों को प्रेमचन्द कहानी के दायरे के भीतर कुएँ से पानी भरने के सवाल पर महाड़ सत्याग्रह जैसा कोई आन्दोलन संगठित करते हुए दिखाते, या 'सद्गति' के दलित पात्रों को दुक्खी की लाश न उठाने जैसे निष्क्रिय प्रतिरोध से कुछ आगे बढ़कर मुखर प्रतिरोध करता हुआ दिखाते, यथार्थवाद की हत्या से कम कुछ भी नहीं होता। यह तत्कालीन यथार्थ के भाववादी-कल्पनावादी-रोमैण्टिक चित्रण से अधिक कुछ भी नहीं होता। प्रसंगवश, यह भी याद दिला देना यहाँ ज़रूरी है कि महाड़ सत्याग्रह भी अपने समय के दलित-प्रतिरोध की एक प्रतिनिधि घटना नहीं बल्कि एक प्रतीक-घटना था। दरअसल अपनी निम्नपूँजीवादी नकली क्रान्तिकारिता के चलते कल्पनावादी (भाववादी) पद्धति या पूँजीवादी रोमांटिक पद्धति का सहारा लेकर जो दलित मध्यवर्गीय लेखक हूबहू एजेन सू की तरह मनुष्यों की अमूर्त दृष्टिकोणों में बदल देते हैं और अपने पात्रों को यूँ गढ़ते हैं, मानो वे लेखकीय इरादों के प्रतिपादन के लिए ही बने हों, वे प्रेमचन्द से भी ऐसा ही करने की अपेक्षा करते हैं और ऐसा न होने पर उनके ऊपर दलित-विरोधी या सवर्णवादी या गाँधीवादी करुणावादी होने का ठप्पा लगा देते हैं। जो लेखक रचना के दायरे के भीतर ही घटनाओं को उनकी भावी तार्किक परिणति तक या किसी किस्म के सुकूनतलब काल्पनिक समाधान तक पहुँचा देते हैं, उनके आशावाद के खोल के भीतर गहन पराजय-बोध और पलायन की वृत्ति छिपी होती है। या फिर यह एक निम्नपूँजीवादी रोमांटिक प्रवृत्ति होती है, जिसकी परिणति अन्ततः पराजय-बोध और पलायन में ही होनी होती है। सत्तर के दशक में हिन्दी कथा-साहित्य की वाम धारा काफ़ी हद तक इस रोमाण्टिक और यूटोपियन आशावादी अतिरेक को झेल चुकी है। आज दलित-साहित्य इसका शिकार है।

जनता का साहित्य अनिवार्यतः प्रयोजनमुखी होता है, लेकिन अत्यधिक प्रयोजनमूलकता भी यथार्थवाद का निषेध ही करती है। इस विषय पर **मिन्ना काउत्स्की** को लिखे गये अपने पत्र में **एंगेल्स** ने लिखा है : *"....प्रयोजन को स्वयं परिस्थिति तथा कार्यकलाप में अपने को व्यक्त करना चाहिए, विशेष रूप से लक्षित किये बिना, और लेखक अपने द्वारा वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयारशुदा रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध नहीं है। साथ ही इतना और कहना भी ज़रूरी है कि हमारे यहाँ विद्यमान अवस्थाओं के अन्तर्गत उपन्यास अधिकतर बुर्जुआ मण्डलियों के पाठकों को सम्बोधित किये जाते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से हमारी नहीं हैं। इसलिए समाजवादी प्रयोजनमूलक उपन्यास, मेरी दृष्टि में, उस समय अपने ध्येय की पूर्णतया पूर्ति करता है जब वह वास्तविक*

सम्बन्धों का सच्चा चित्रण कर इस सम्बन्धों के स्वरूप के बारे में हावी रहने वाले प्रचलित भ्रमों को मिटा देता है, बुर्जुआ दुनिया के आशावाद को झकझोर देता है तथा अस्तित्वमान के आधार की शाश्वतता के बारे में शंका का समावेश करता है - भले ही लेखक ने इसके बारे में कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत न किया हो, भले ही उसने कभी-कभी कोई पक्ष तक न लिया हो" (मिन्ना काउत्स्की के नाम एंगेल्स का पत्र, 26 नवम्बर 1885)।



कई दलित लेखक दलित-जीवन विषयक प्रेमचन्द के लेखन की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि अपने राजनीतिक-सामाजिक विचारों में प्रेमचन्द गाँधीवादी थे, न कि अम्बेडकरवादी, इसलिए वे दलित जीवन के यथार्थ के वास्तविक चित्रण में सर्वथा अक्षम थे।

यह अपने आप में एक प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिविस्ट) दार्शनिक तर्क है। यदि ऐसा ही होता तो विचारों से राजतंत्रवादी **बाल्ज़ाक** पूँजीवादी समाज की निर्मम आलोचना के साथ ही, अपनी कृतियों में, अपने प्रिय अभिजातों के पतन की अपरिहार्यता को चित्रित नहीं कर पाते, न ही वह अपने कटुतम राजनीतिक विरोधी जनतंत्रवादी पात्रों को जनसाधारण के वास्तविक नायकों के रूप में प्रस्तुत कर पाते। एंगेल्स ने **मार्गरेट हार्कनेस** को लिखे गये अपने पत्र (अप्रैल, 1888) में अपनी वर्ग सहानुभूतियों और राजनीतिक पूर्वाग्रहों के विरुद्ध खड़े होने की इस परिघटना को *"यथार्थवाद की सबसे महती विजयों में से एक"* बताया है। वैरभावों से युक्त समाज में कला के वर्ग-स्वरूप पर गहन विचार प्रस्तुत करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने यह स्पष्ट किया था कि जिन बड़े लेखकों ने अपनी वर्ग-स्थिति और विचारों के बावजूद जीवन का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत किया, निस्सन्देह उनके ऊपर सत्तारूढ़ वर्गों के हितों एवं विचारों का दबाव पड़ता था और इस नाते उन्हें अपनी कृतियों में गम्भीर रियायतें भी देनी पड़ती थीं लेकिन उनकी कृतियों के अभिलाक्षणिक अन्तरविरोध उनकी मात्र व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक स्थिति के ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन के वास्तविक अन्तरविरोधों के भी विचारधारात्मक प्रतिबिम्ब होते थे।

फिर यह देखने का सवाल बचा रह जाता है कि अपने इन अन्तरविरोधों के बावजूद **शेक्सपियर**, **गेटे** और **बाल्ज़ाक** जैसे महान लेखक शोषण की पूँजीवादी प्रणाली की बुराइयों की प्रचण्ड कलात्मक शक्ति के साथ आलोचना करने में सफल कैसे हो सके? इसके कारणों की तलाश हमें मार्क्स की इस सुप्रसिद्ध स्थापना तक ले जाती है कि, *"पूँजीवादी उत्पादन आत्मिक उत्पादन के कुछ रूपों से, उदाहरण के लिए कला तथा काव्य से शत्रुता रखता है"* ('बेशी मूल्य के सिद्धान्त')। इसकी व्याख्या करते हुए **क्रिलोव** लिखते हैं : *...शोषण की पूँजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही*

उन मानवतावादी आदर्शों के गहन अन्तरविरोध में निहित है, जो सच्चे कलाकारों को प्रेरणा दिया करते हैं। कलाकार में अपने आदर्शों तथा पूँजीवादी यथार्थ के अन्तरविरोध के बारे में जितनी ही अधिक चेतना होती है, पूँजीवादी सम्बन्धों की अमानवीयता के प्रति उसका विरोध भरा स्वर (उसका वर्ग मूल चाहे कुछ भी हो) उतना ही अधिक तीव्र तथा स्पष्ट होता है। कला के प्रति बुर्जुआ समाज की शत्रुता बुर्जुआ साहित्य तक में इस या उस रूप में पूँजीवाद की आलोचना को जन्म देती है, उसमें पूँजीवादी यथार्थ का नाटकीय त्रासदीपूर्ण टकरावों से भरे यथार्थ के रूप में चित्रण किया जाता है" ('साहित्य और कला' : मार्क्स-एंगेल्स की भूमिका)।

दलित लेखकों द्वारा राजनीतिक विचारों के आधार पर की जाने वाली प्रेमचन्द की उपरोक्त आलोचना की अवैज्ञानिकता की चर्चा करने के साथ ही, इस तथ्यगत भूल का भी उल्लेख ज़रूरी है कि प्रेमचन्द एक गाँधीवादी थे। प्रेमचन्द की जिन रचनाओं पर गाँधीवादी भाववादी मानवतावाद का सर्वाधिक सघन प्रभाव बताया जाता है, वे असहयोग आन्दोलन और राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर गाँधी के नेतृत्व की स्थापना से पहले लिखी जा चुकी थीं। गाँधीवाद और अम्बेडकरवाद की विकास-प्रक्रिया के साथ-साथ प्रेमचन्द की चिन्तन-प्रक्रिया विकसित हुई थी और अपने आखिरी दौर तक कई मायनों में वह इनका अतिक्रमण कर चुके थे। 1934 में *'जागरण'* में दलित प्रसंग पर लिखे गये अपने अन्तिम लेख में वह वर्णव्यवस्था और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदने को राष्ट्रीयता की पहली शर्त बताते हैं और न केवल विदेशी जुए से बल्कि विदेशी शासन से भी अधिक घातक ब्राह्मणवादी पाखण्ड के जुए से मुक्ति को स्वराज्य का उद्देश्य बताते हैं। 1936 में लिखित उनका लेख *'महाजनी सभ्यता'* पूँजीवादी वर्ग-वैषम्य पर चोट करता हुआ वर्ग से वर्ग तक की उनकी विचार-यात्रा को दर्शाता है। प्रेमचन्द के चिन्तन का अन्तर्निहित अन्तरविरोध यह था कि किसानों की जागृति और राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधी की नेतृत्वकारी भूमिका से अभिभूत होते हुए भी वे वर्गीय सोच और वैज्ञानिक चिन्तन के पक्षधर थे और यह पक्षधरता क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा मुखर और विचारसम्मत होती चली गयी थी। वर्णाश्रम और सनातन धर्म के प्रति गाँधी की पक्षधरता के विपरीत उन्होंने ब्राह्मणधर्म की कटु आलोचना की थी। उनका आर्थिक चिन्तन गाँधी से ज़्यादा से ज़्यादा दूर होता चला गया था। गाँधीवाद के अमली रूप के अन्तरविरोधों और गाँधीवादी अभिजातों के आचरण को उजागर करने में उन्होंने कभी कोई छूट नहीं दी। अपने निजी जीवन में वे नास्तिक थे और हर तरह के धार्मिक कर्मकाण्ड के विरोधी थे। इन तथ्यों की पहले भी बार-बार चर्चा होती रही है और हाल ही में **वीरेन्द्र यादव** ने भी अपने एक लेख *'कुपाठ और विरोध के शोर में प्रेमचन्द'* (तद्भव, अगस्त 2004) में इनका विस्तार से उल्लेख किया है।

प्रेमचन्द के राजनीतिक विचारों में निहित अन्तरविरोधों की ऐतिहासिक विवेचना की जानी चाहिए, लेकिन तथ्यों के प्रति ईमानदार रुख अपनाना ज़रूरी है।

इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि किसी रचनाकार की रचना पर निर्णय उसके राजनीतिक विचारों के आधार पर नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि यह देखा जाना चाहिए कि उसके द्वारा किया गया सामाजिक यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन कितनी वस्तुपरकता के साथ सामाजिक अन्तरविरोधों को और उसके प्रमुख पक्षों को प्रतिबिम्बित करता है, समाज-विकास की गतिकी को वह किस हद तक आत्मसात् और प्रस्तुत कर पाता है!



प्रेमचन्द को गाँधीवादी सिद्ध करने के अतिरिक्त दलित लेखकों और उनके कुछ ग़ैरदलित बड़बोले समर्थकों की आलोचना का एक आधार-तर्क यह भी है कि दलित जीवन के यथार्थ का प्रामाणिक चित्रण केवल एक दलित ही कर सकता है। यदि सचमुच ऐसा ही होता तो अश्वेतों के जीवन और संघर्ष पर **हावर्ड फास्ट** *'फ्रीडम रोड'* जैसी महान कृति की रचना नहीं कर पाते और **काउण्ट तोल्स्तोय** रूसी किसानों के जीवन के प्रामाणिक चित्र नहीं प्रस्तुत कर पाते और न ही *'आन्ना कारेनिना'* में वे स्त्री-प्रश्न को उतनी महान अभिव्यक्ति ही दे पाते। वर्ग-अपचयनवाद (क्लास-रिडक्शनिज़्म) की तर्ज़ पर ही यह एक किस्म का वर्ण-अपचयनवाद ही है। इसके हिसाब से सिर्फ़ दलित दलितजीवन पर, सवर्ण सवर्णजीवन पर, मज़दूर मज़दूरों के बारे में, मध्यवर्ग मध्यवर्ग के बारे में आधिकारिक ढंग से, उसके पक्ष से, लिख सकता है। ऊपर हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि किस प्रकार पूँजीवादी युग में सच्चे कलाकार अपनी रचनाओं में अपने राजनीतिक विचारों के साथ ही अपने वर्ग-मूलों का भी अतिक्रमण करते रहे हैं। लेकिन प्रेमचन्द की इस आधार पर की जाने वाली आलोचना की आलोचना को और व्यापक और बोधगम्य बनाने के लिए ज़रूरी है कि 'भोगे गये यथार्थ' 'अनुभव की प्रामाणिकता' जैसे पुराने, घिसे हुए नारों-फिकरों की एक बार फिर चर्चा की जाये, जिन्हें दलित लेखकों ने दशकों पुराने नयी कहानी आन्दोलन के मध्यमवर्गीय रोमांटिक सूत्रधारों से उधार लिया है। यथार्थ के वस्तुपरक अवगाहन के लिए उसका प्रत्यक्ष भोक्ता होना अनिवार्य शर्त है - यह संकीर्ण अनुभववाद वस्तुतः यथार्थवाद नहीं बल्कि प्रकृतवाद का बुनियादी तर्क है, जिसका दार्शनिक आधार बुर्जुआ प्रत्यक्षवाद का दर्शन है। यदि भोगे गये यथार्थ से दूरी लेकर, कुछ समय लेकर, उसके बारे में धारणा न बनाई जाये तो वह धारणा वस्तुपरक नहीं हो सकती। निकट से किसी भी वस्तु या परिघटना को खण्ड-खण्ड में ही जाना जा सकता है, समग्रता में नहीं। उसके बारे में कई बोध (परसेप्शन) बनाये जा सकते हैं, पर धारणा (कंसेप्शन) नहीं बनायी जा सकती। इसके लिए दिक्-काल गत दूरी लेना आवश्यक होता है। इसके विपरीत, कई बार प्रेक्षक की स्थिति भोक्ता से भी अधिक वस्तुपरक हो सकती है। निस्सन्देह, भोक्ता होने के बाद यदि हम प्रेक्षक

की तरह दूरी ले सकें तो वह ज़्यादा अनुकूल स्थिति होगी, लेकिन वस्तुपरक ढंग से धारणा बनाने की यह अनिवार्य शर्त नहीं हो सकती।

सवर्ण जाति का एक सामाजिक कार्यकर्ता सही मायने में जातिच्युत होकर दलित खेत-मज़दूरों की बस्ती में जाकर काम करता है और उनके जीवन और संघर्षों से जुड़ता है तो उनके आर्थिक शोषण के साथ ही सामाजिक-जातिगत अपमान के बारे में वह उस दलित अफसर, प्रोफ़ेसर या बुद्धिजीवी से अधिक जानता-समझता है जो दलित होने के दंश को अपने समाज में झेलने के बावजूद आम दलित मेहनतकशों के जीवन से काफ़ी दूर हो चुका है। स्वानुभूति की प्रामाणिकता तभी हो सकती है, जब भोक्ता भोगी गई घटनाओं के वस्तुपरक विश्लेषण में सक्षम हो और यह तबतक नहीं हो सकता जबतक कि उक्त घटना की मूलकारक सामाजिक प्रक्रिया को समझ पाने में सक्षम वैज्ञानिक-ऐतिहासिक जीवन-दृष्टि और पद्धति भोक्ता के पास न हो। स्वानुभूति जीवन-दृष्टि का विकल्प नहीं हो सकती, न ही स्वानुभूति की बात करते हुए तदनुभूति (एम्पैथी) को सिरे से खारिज किया जा सकता है। स्वानुभूति पर अतिरिक्त बल देने के कारण ही दलित साहित्य और दलित राजनीति के पास आवेशपूर्ण प्रतिक्रिया या आत्मरक्षा की मुद्रा तो है, इसी व्यवस्था से रियायतें हासिल करने के तर्क तो हैं, या दलितों के अलग गाँव बसाने या धर्मान्तरण जैसे यूटोपियाई विकल्प तो हैं, लेकिन मुक्ति की ऐसी कोई परियोजना नहीं है जो जातिप्रथा को जड़मूल से समाप्त करने का व्यावहारिक मार्ग सुझाती हो।

भोगे गये यथार्थ की प्रामाणिकता पर अतिरिक्त बल देने वाले कुत्सित समाजशास्त्रीय नजरिए की ख़तरनाक परिणतियों पर सोचने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से हम **ग्योर्गी लूकाच** की प्रसिद्ध पुस्तक **'समकालीन यथार्थवाद'** से एक लम्बा उद्धरण देना चाहेंगे, जहाँ उन्होंने यथार्थ-चित्रण की दो प्रविधियों **- 'बाहर से'** उद्घाटन और **'भीतर से'** उद्घाटन की विस्तृत चर्चा की है :

"इसमें (यानी इन दो प्रविधियों में - का.) *मानव चरित्र की सतही और गहरी पकड़ में भेद का सवाल नहीं है। स्विफ्ट और साल्तिकोव-श्चेद्रिन जैसे महान व्यंग्यकारों ने हमेशा चरित्र को **'बाहर से'** ही देखा। वास्तव में अपने व्यंग्य का निशाना बनी दुनिया की तमाम आत्मगत जटिलताओं में जाने से इंकार करना अच्छी व्यंग्यात्मक प्रातिनिधिकता की पूर्वशर्त है। लेकिन मैं जिस विरोध की बात कर रहा हूँ, वह अलग है। "बाहर" की पद्धति से एक लेखक व्यक्ति और व्यक्तिगत द्वन्द्वों पर आधारित एक प्रातिनिधिकता हासिल करता है और इस आधार से वह व्यापक सामाजिक अर्थवत्ता पर पहुँचता है। "अन्दर" की पद्धति सामाजिक अन्तरविरोधों के बीचोंबीच एक आर्किमिडियन बिन्दु खोजने की कोशिश करती है और फिर अपनी प्रातिनिधिकता को इन अन्तरविरोधों के विश्लेषण पर आधारित करती है।*

"अनेक यथार्थवादी लेखक इन दोनों ही पद्धतियों का प्रयोग करते हैं और ये

दोनों पद्धतियाँ एक ही कलाकृति में साथ-साथ उपस्थित हो सकती हैं। डिकेंस इसका उदाहरण है। उसने अपने निम्नवर्गीय चरित्रों का उद्घाटन ***अन्दर से*** *किया है तथा उच्च और मध्यवर्गीय चरित्रों का* ***बाहर से****। हो सकता है डिकेंस एक अपवाद हो। लेकिन यदि हम परिवेश की सामाजिक उत्पत्तियों का अध्ययन करना चाहें तो इसका उदाहरण काफ़ी शिक्षाप्रद हो सकता है। यह स्पष्ट है कि एक लेखक का समाज का अपना अनुभव जिस वर्ग पर आधारित होगा, वह उसकी आंतरिक तस्वीर प्रस्तुत करने की कोशिश करेगा। वहीं दूसरे वर्गों को* ***बाहर से*** *देखा जायेगा। लेकिन यह केवल एक सामान्यीकरण है। मसलन, तोल्स्तोय की विश्वदृष्टि शोषित रूसी किसान जनता के काफ़ी क़रीब है। लेकिन वे निस्सन्देह कुलीन और अभिजात वर्ग के कुछ हिस्सों का चित्रण* ***अन्दर से*** *करते हैं।*

लूकाच ने आगे यह चर्चा की है कि सभी लेखक अपने निकटतम अनुभव की दुनिया को प्रायः **अन्दर से** प्रस्तुत करते हैं लेकिन महान यथार्थवादियों के "आंतरिक" ज्ञान की पहुँच प्रायः इस सीमा का अतिक्रमण करती है। और हमें यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि प्रेमचन्द को महान यथार्थवादियों की इस कोटि में रखा जा सकता है।

लूकाच के उक्त लम्बे उद्धरण के पीछे हमारा मन्तव्य यही है कि भोगे गये यथार्थ की एकमात्र प्रामाणिकता की जो शर्त दलित जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए प्रस्तुत की जाती है और फिर जिस कसौटी पर प्रेमचन्द को भी खारिज कर दिया जाता है, उसके सतही, यांत्रिक, एकांगी और कुत्सित समाजशास्त्रीय चरित्र को भली भाँति पहचाना और समझा जाना चाहिए।



लूकाच का कहना था कि, *"अन्य क्षेत्रों की तरह साहित्य में भी वर्तमान की आलोचनात्मक समझ ही अतीत की समझ की कुंजी है।"* वर्तमान समाज में दलित प्रश्न की केन्द्रीय अन्तर्वस्तु और इसके आधार को समझ पाने में दलित लेखकों की असफलता ही उन्हें प्रेमचन्द के युग के दलित प्रश्न को नहीं समझने देती और उन्हें प्रेमचन्द की अविवेकी आलोचना के मुकाम तक पहुँचा देती है। आज के पूँजीवादी समाज में दलित-प्रश्न का केन्द्रीय सारतत्व उजरती गुलामी (वेज-स्लेवरी) है। क्रमिक विकास के रास्ते (भूमि सम्बन्धों में प्रशियाई जुंकर टाइप रूपान्तरण के रास्ते से) विकसित भारत के रुग्ण-विकलाँग पूँजीवाद ने क्रान्तिकारी जनवादी मूल्यों के सृजन-पोषण के बजाय सभी मध्ययुगीन औपनिवेशिक मूल्यों-संस्थाओं को अपना लिया। पहले के बंधुआ गुलाम दलितों का 95 प्रतिशत हिस्सा आज पूँजी का उजरती गुलाम है, जिसके बर्बर शोषण के साथ ही सामाजिक उत्पीड़न पार्थक्य और अपमान की पुरानी प्रक्रिया आज भी जारी है। मात्र पाँच प्रतिशत दलित आबादी पूँजीवादी

सुधारों की प्रक्रिया में खुशहाल मध्यवर्ग में शामिल हो गयी है जो आर्थिक आधार पर अपने को ठीक-ठाक महसूस करती है, लेकिन सामाजिक अपमान और पार्थक्य को शिद्दत से महसूस करती है और इसलिए इस प्रश्न पर ज़ोर-शोर से आवाज़ उठाती हुई दलित उत्पीड़न के आर्थिक आधार के विश्लेषण का मुखर विरोध करती है या उसके प्रति उपेक्षा का रुख अपनाती है। यह पाँच फीसदी खुशहाल मध्यवर्गीय दलित आबादी यह नहीं समझ पाती कि जबतक 95 प्रतिशत सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा दलित आबादी उजरती गुलामी की बेड़ियों से मुक्त नहीं होगी (और ऐसा वह अन्य जातियों के मेहनतकशों के साथ मिलकर ही कर सकती है) तबतक दलित मध्यवर्ग के सामाजिक अपमान और पार्थक्य की स्थिति को भी समाप्त नहीं किया जा सकता। यानी पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष के एजेण्डे पर दलित प्रश्न की उपस्थिति अनिवार्य है और दलित प्रश्न को पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष से जुड़ना ही होगा। वर्तमान समय में दलित प्रश्न की इस केन्द्रीय कड़ी को नहीं पकड़ पाने वाले दलित लेखक औपनिवेशिक प्राक्-पूँजीवादी संरचना में भी दलित प्रश्न के सारतत्व को नहीं पकड़ पाते। ब्रिटिश भारत में दलित-उत्पीड़न का मूल आधार वह अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्ध था जिसके अन्तर्गत बँधुआ-बेगार दलितों की सहस्राब्दियों पुरानी गुलामी यथावत् मौजूद रही। निस्सन्देह ब्राह्मणवाद की वैचारिक-सामाजिक शक्ति उनकी स्थिति को बनाये रखने वाली सबसे प्रचण्ड मनोगत शक्ति थी, लेकिन इस ब्राह्मणवाद का आधार भी प्राक् पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों की निरन्तरता में ही मौजूद था। मार्क्सवादियों पर आर्थिक अपचयनवाद की तोहमत लगाते हुए अम्बेडकरवादी दलित लेखक ब्राह्मणवाद की आलोचना और दलित जीवन का यथातथ्य चित्रण करते हुए न तो अतीत के सन्दर्भ में सामन्ती भूमि-सम्बन्धों को, न ही आज के सन्दर्भ में पूँजीवादी उजरती गुलामी को, चर्चा-आलोचना के केन्द्र में लाते हैं। दलित जीवन के आर्थिक पहलू को यदि उनकी रचना कहीं छूती भी है तो उत्पादन-प्रक्रिया के किसी अलग-थलग ब्योरे के रूप में, या फिर इस तरह के बचकाने काल्पनिक समाधान के रूप में कि दलितों को अपने अलग गाँव बसाने चाहिए, जैसाकि मोहनदास नैमिशराय की एक कहानी में दिखलाया गया है। ऐसा इसलिए कि डा. अम्बेडकर ने भी कभी यह समाधान सुझाया था। इसी पोली-दलदली वैचारिक ज़मीन पर खड़े होकर हिन्दी के दलित लेखक प्रेमचन्द की आलोचना करते हैं और मुद्राराक्षसों की बिरादरी उनकी हौसला-अफज़ाई करती है। ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम व्यवस्था और दलितों के सामाजिक अपमान-पार्थक्य की निर्मम आलोचना प्रेमचन्द भी करते हैं, लेकिन वे यहीं तक रुके नहीं रहते। वे उन अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों का भी विरोध करते हैं जो उनके समय में ब्राह्मणवादी मूल्यों-संस्थाओं का बुनियादी आधार था। प्रेमचन्द जहाँ दलित जीवन के यथार्थ को सीधे विषय नहीं बनाते, वहाँ भी वे भूमि सम्बन्धों पर सवाल उठाते हुए और रैडिकल भूमि-सुधार की बात करते हुए काश्तकार किसानों की समस्या के साथ ही दलित

प्रश्न के समाधान की परियोजना भी प्रस्तुत करते नज़र आते हैं। प्रेमचन्द ने जाति के उन्मूलन के प्रश्न को व्यापक सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में और पूँजीवादी-जनवादी क्रान्ति की व्यापक परियोजना के एक बुनियादी संघटक अवयय के रूप में देखा, जबकि आज के अधिकांश दलित लेखक उसे एक अलग-थलग, स्वंतत्र-स्वायत्त सामाजिक प्रश्न के रूप में देखते हैं और उनकी रचनाएँ लम्बे समय से उत्पीड़न के यथातथ्य ब्यौरों-विवरणों, क्रोध और आवेश की अभिव्यक्तियों, प्रतिरक्षात्मक उपक्रमों और यूटोपियाई समाधानों के मुकाम पर ठिठकी हुई हैं। ठहराव के जिस मुकाम पर वे खड़े हैं, वहाँ से, आश्चर्य नहीं कि ज़्यादा उग्र क्रान्तिकारी दलितवादी बनने के लिए कुछ लोग 'रंगभूमि'-दहन की घोषणा कर डालें। और फिर बची-खुची कोर-कसर पूरी करने के लिए मुद्राराक्षस जैसे लोग हैं ही।



जब भी आलोचना और विरोध की किसी धारा का वैचारिक आधार लम्बे समय तक कमज़ोर बना रहेगा और उसपर पुनर्विचार की कोशिश नहीं होगी तो उसकी तार्किक परिणति के तौर पर ऐसा कोई विचारहीन लेकिन आत्मघाती प्रहसन घटित हो सकता है जैसा 'रंगभूमि-दहन-प्रसंग' और प्रेमचन्द के विरुद्ध मुद्राराक्षसी कुत्सा-वमन के रूप में घटित हुआ है।

'रंगभूमि' का विरोध करने वाले दलित साहित्य अकादमी के कर्ताधर्ताओं का कहना है कि उपन्यास में जाटव समुदाय के लोगों को 'चमार' सम्बोधित करके उन्हें अपमानित किया गया है। इन लोगों को शायद यह पता भी नहीं कि बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश में इस जाति के लोग आज भी खुद की जाति चमार या हरिजन ही बताते हैं। 'जाटव' जातिनाम से वे प्रायः परिचित भी नहीं। प्रेमचन्द की कथाभूमि जो जनपद है और 'रंगभूमि' जिस काल की कहानी है, उसमें चमार का जाति सूचक संज्ञा के रूप में इस्तेमाल आम बात है। यह हमारे सामाजिक इतिहास की विशिष्टता है कि कोई शब्द जाति सूचक संज्ञा के रूप में भी इस्तेमाल होता है और संवर्णों द्वारा दी जाने वाली गाली के रूप में भी। 'रंगभूमि' में सामाजिक संरचना को बताने के लिए या फिर किसी पात्र द्वारा सम्बोधन के रूप में ही 'चमार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रेमचन्द का दोष यह था 1925 में पहली बार चमार दलित जाति के सूरदास को उन्होंने नायक बनाया और संघर्षशील जनता की अथक संघर्षशीलता का उसे प्रतीक बनाया। उस समय न तो दलित सम्बोधन अभी चलन में आया था, न ही हरिजन शब्द ही उतना लोकप्रिय हुआ था।

वीरेन्द्र यादव ने ऊपर उल्लिखित अपने लेख में यह बेहद प्रासंगिक प्रश्न उठाया है कि जिस समय *'निर्मला'* उपन्यास को पाठ्यक्रम से बाहर निकालने वाले भगवाधारी गिरोह के मुखपत्र *'पांचजन्य'* को सहसा प्रेमचन्द की चिन्ता सताने लगी

है और उन्हें “राष्ट्रवाद” का आग्रही बताते हुए अपनाने की कोशिशें तेज हो गयी हैं, ठीक उसी समय प्रेमचन्द को सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त, दलित-विरोधी, नाजी समर्थक सिद्ध करते हुए उन्हें दलितों-मेहनतकशों से छीनकर साम्प्रदायिक फासीवाद के पाले में धकेलने वालों के असली चेहरों की शिनाख़्त की जानी चाहिए। अपनी मौलिक घोषणाओं को सिद्ध करने के लिए मुद्राराक्षस ने तथ्यों में जो भयंकर शातिराना तोड़-मरोड़ किया है, उसे वीरेन्द्र यादव ने बहुत अच्छी तरह से उजागर किया है, इसलिए उन बातों को यहाँ दुहराने से बेहतर यही होगा कि मित्रों से आग्रह किया जाये कि वे उस लेख को अवश्य पढ़ें। यही नहीं, मुद्राराक्षस के पैंतरापलट को भी वीरेन्द्र यादव ने अच्छी तरह से एक्सपोज़ किया है। दलितों के प्रति ग़ैरज़रूरी अपमानजनक संबोधन और उनके जीवन के यथार्थ को शहरी मध्यवर्गीय चश्मे से देखकर किये गये विकृत-अपमानजनक वर्णन के लिए तो वास्तव में मुद्राराक्षस की कुछ कृतियों को जलाने का काम दलित साहित्य अकादमी के सूरमाओं को करना चाहिए था। ग़ौरतलब यह भी है कि मुद्राराक्षस ‘रंगभूमि’ का और बड़े पैमाने पर विरोध करने का “सद्‌विचार” ठीक उसी समय उचार रहे हैं जबकि **विजय मोहन सिंह** प्रेमचन्द पर *‘गोदान’* उपन्यास में भूमि और किसानों की वास्तविक समस्या से दूर होकर गोदान की भावुक धार्मिक भूमि पर उतर आने का लांछन लगा रहे हैं और **नन्दकिशोर नवल** राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि के “दुराग्रह” को छोड़कर, मानवीय संवेदना के व्यापक दायरे के मद्देनज़र **जैनेन्द्र, अज्ञेय** और **निर्मल वर्मा** के कथा-साहित्य को भी प्रेमचन्द की परम्परा में समाविष्ट करने का आग्रह कर रहे हैं।

विज्ञान और दर्शन की एक सामान्य पद्धति यह है कि चीज़ों की वास्तविक पहचान के लिए अन्य चीज़ों से उनके रिश्तों की, उनके अन्तर्सम्बन्धों की पहचान-पड़ताल की जाती है। प्रेमचन्द आज एक ही समय में कुछ नयी व्याख्याओं व पुनर्मूल्यांकनों के शिकार हो रहे हैं, कुछ नये विरोधों के निशाना बन रहे हैं और कुछ ऐसी परम्पराओं से उनके जुड़ावों के आविष्कार हो रहे हैं, जिनके बारे में अबतक कोई सोच भी नहीं सकता था। यह सब कुछ ऐसे समय में हो रहा है जब प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की विभाजक रेखाओं को हर स्तर पर मिटाने और धूमिल करने का खेल हो रहा है और तरह-तरह से विचारधारा के प्रश्न को दरकिनार किया जा रहा है। इसलिए यह समझना कोई कठिन नहीं कि हमले का निशाना प्रेमचन्द नहीं बल्कि जनता की संस्कृति है, उसके मुक्ति संघर्ष की धारा है। जो लोग प्रेमचन्द को दलितों की ऐतिहासिक परम्परा से काटकर अलग करना चाहते हैं वे दलित-संस्कृति और दलित-मुक्ति की किसी भी परियोजना के ऐसे शत्रु हैं जो भीतर से घात करते हैं।

(इलाहाबाद की एक गोष्ठी में प्रस्तुत।
पहल-80, जुलाई-अगस्त, 2005 में प्रकाशित)

निराला की विकासमान दलित-मुक्ति चेतना

अभी कुछ ही दिनों पहले कुछ अतिदलितपंथी (अतिवामपन्थी की तर्ज पर) बुद्धिजीवियों-विचारकों ने **प्रेमचन्द** की **'कफ़न', 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआँ'** आदि कहानियों को दलितों का पक्षधर होने के बजाय मूलतः दलित विरोधी, दलितों के वास्तविक जीवन से दूर और प्रच्छन्न सवर्ण-चेतना की रचनाएँ घोषित कर दिया था।

अब निराला जन्म शती वर्ष के अवसर पर निराला की पारी आई है। निराला पर हमले की कमान सम्हालने वालों में एक हैं माननीय कँवल भारती जी। जिन्होंने यह फतवा दे दिया है कि निराला अपने चिन्तन में प्रगतिवाद की मूल चेतना के विरुद्ध हैं, वेदान्ती होने के नाते वर्णव्यस्था के समर्थक हैं, शूद्र विरोधी हैं, काफ़ी हद तक हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी हैं तथा उनकी एकमात्र क्रान्तिकारी देन यदि कोई है तो वह यह कि उन्होंने छन्द की रूढ़ि को तोड़ा था।

अभी कुछ ही महीनों पहले, विगत 17 नवम्बर 1996 को इलाहाबाद में जन संस्कृति मंच के पाँचवे राष्ट्रीय सम्मेलन में यह आलेख पढ़ा गया और बहस के लिए इसे 'स्वतंत्र भारत' लखनऊ ने अपने 15 दिसम्बर 1996 के अंक में प्रकाशित किया।

यहाँ निराला को दलित-विरोधी, हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी सिद्ध किये जाने से भी अधिक ख़तरनाक वह आधिभौतिक पद्धति और इतिहास एवं परम्परा के प्रति वह सर्वनिषेधवादी रवैया है जिसे अपनाया जा रहा है। हिन्दी जगत में प्रायः जो भारत व्याकुल, अतीत-आकुल और परम्परापूजक दृष्टिकोण आलोचना और साहित्येतिहास के उच्च सिंहासनों पर आसीन कुछ महाविभूतियों और उनके अनुयाइयों द्वारा प्रस्तुत किया जाता रहा है अथवा अन्वेषी साहित्यिक कोलम्बसों द्वारा जो (दूसरी परम्पराएँ) खोजी और स्थापित की जाती रही हैं, वर्तमान अतिदलितपंथी चिन्तन उससे कहीं बहुत अधिक नुकसानदेह है और दलित समाज के लिए भी नितान्त अहितकारी है।

किसी भी रचनाकार के कृतित्व और दृष्टिकोण के मूल्याँकन का यह नज़रिया मूलतः 'पॉजिटिविस्ट' या भोंड़ी भौतिकवादी इतिहास दृष्टि है और साहित्यालोचना के क्षेत्र में प्रतिबिम्बन सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। यह किसी रचनाकार के कृतित्व

को महज उसकी अपनी दृष्टि के प्रतिबिम्बन एवं प्रक्षेपण के रूप में देखता है और उसकी दृष्टि को भी जड़, रुढ़ एकायामी चीज़ के रूप में देखता है। यह रचनाकार के कृतित्व को बहुतेरे अन्तरविरोधों के समुच्चय के रूप में और उन अन्तरविरोधों को वस्तुगत जगत के अन्तरविरोधों के प्रतिबिम्बन के रूप में नहीं देखता। 'विरुद्धों के सामंजस्य' व टकराव के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे स्वायत्त, निरपेक्ष, अन्तरविरोधमुक्त, एकाश्मी स्फटिक के रूप में देखता और आँकता है। कँवल भारती और उन जैसी आलोचना-पद्धति अपनाने वाले लोगों को यह समझा पाना मुश्किल है कि अपनी प्रतिक्रियावादी विचारधारा और ईसाइयत के धार्मिक मानवतावाद को मानने के बावजूद तॉल्स्ताय की कृतियों में किस प्रकार तत्कालीन रूसी समाज और इतिहास के बुनियादी और मुख्य अन्तरविरोध प्रतिबिम्बित हुए, और उनमें जनपक्षधरता के पहलू के उद्‌भूत होने का आधार क्या था और क्यों उनका साहित्य 'रूसी क्रान्ति का दर्पण' था! ऐसे लोगों के लिए यह समझना असम्भव है कि राजतंत्र के प्रति अपनी व्यक्तिगत आस्था के बावजूद बाल्ज़ाक को मार्क्स ने (यथार्थ की गहरी समझ के लिए आम तौर पर बेजोड़) क्यों माना, क्यों उन्हें बाल्ज़ाक की कृतियों से 1815 से 1848 तक की सबसे अधिक ऐतिहासिक जानकारी हासिल हुई और किन कारणों के चलते वे बाल्ज़ाक के यथार्थवादी चित्रण के साहस और उनके "काव्यात्मक न्याय" में निहित "क्रान्तिकारी द्वन्द्वात्मकता" से लगभग अभिभूत थे।

कँवल भारती लिखते हैं : "निराला साहित्य का जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि निराला जी वेदान्ती थे और रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के दर्शन में उनकी अटूट आस्था थी। इसलिए वह काफ़ी हद तक प्रगतिवादी नहीं थे और वेदान्त की धारा तक ही सीमित थे। वह अस्पृश्यता के विरोधी अवश्य थे, परमहंस और विवेकानन्द भी अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ थे, पर वे वर्णव्यवस्था के ख़िलाफ़ नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान है। पर, यह ईश्वर के दरबार की बात है। इससे समाज में समानता का मार्ग प्रशस्त नहीं होता है। समाज में वर्णव्यवस्था प्रचलित है और वर्णव्यवस्था को तोड़ने का आह्वान न परमहंस ने किया था, न विवेकानंद ने और न निराला ने किया था।" इसके बाद उन्होंने निराला की वर्णाश्रम धर्म की पक्षधरता, द्विजत्व की शुचिता के प्रति आग्रह और शूद्र-विरोध को सिद्ध करने के लिए 'चाबुक' संग्रह में संकलित निराला के एक ही लेख **'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति'** से कई उद्धरण दिये हैं। फिर वे लिखते हैं : "निराला जी जिस वेदान्त और अध्यात्म के प्रभाव में थे, उससे वह अन्त तक मुक्त नहीं हुए थे। वह मार्क्सवाद से नहीं, समाजवाद से नहीं, बल्कि वेदान्तवाद से प्रभावित थे। दलित जीवन या सर्वहारा से सम्बन्धित उनकी जिन कुछ रचनाओं की उन्हें प्रगतिवादी सिद्ध करने में चर्चा की जाती है, वे भी उनकी वेदान्ती प्रकृति को ही परिलक्षित करती है। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी चिन्तनधारा की पहली स्थापना

अलौकिक सत्ता में अनास्था की है। ईश्वर, ब्रह्म, देवी-देवता, भाग्य और धर्म के विरुद्ध विद्रोह पैदा करने में मुख्य भूमिका प्रगतिवादी चिन्तनधारा ने ही निभायी है। क्या निराला में यह विद्रोह हमें दिखायी देता है? तुलसीदास बचपन से ही निराला के प्रिय कवि थे। वह तुलसीदास की रचनाओं में खास तौर से 'रामचरित मानस' में अद्वैत ब्रह्म का साक्षात् ही नहीं करते हैं, बल्कि उसमें विज्ञान के दर्शन भी करते हैं। किस तरह तुलसीदास ने 'मानस' में ब्राह्मणों की उच्चता और स्त्री-शूद्रों की दासता का प्रतिपादन किया है, यह निराला जी को दिखाई नहीं दिया।" कँवल भारती प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का समानार्थी, नास्तिकता का समानार्थी समझते हैं। उनके हिसाब से जो ब्रह्मवादी या लोकोत्तर सत्ता में आस्थाशील है, वह प्रगतिवादी हो ही नहीं सकता। यह अति दलितवादी दृष्टि साहित्य में अतिवामपन्थी यांत्रिकता और स्थूलता के पिछले सभी कीर्तिमानों को एकबारगी ध्वस्त कर देती है।

सिलसिलेवार कुछ प्रश्नों को लेते हुए पहले निराला के वेदान्ती होने के सवाल को लें। बल्कि उससे भी पहले वेदान्त के प्रश्न को ही लें। वेदान्त अपने आप में ही कोई अपरिवर्तनशील विचार-सरणि नहीं रहा है। बादरायण के वेदान्त सूत्रों में जब इसकी प्रथम आधारभूत प्रस्थापनाओं का प्रतिपादन हुआ तो वह भारतीय इतिहास के उस काल के अनुरूप था जब प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित उत्पादन की प्रणाली का विकास अभी शुरू हुआ था। आठवीं सदी में शंकराचार्य ने जब अद्वैत वेदान्त का सूत्रपात किया तो वह उस सामन्ती युग की भावनाओं के अनुरूप था। विवेकानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जब वेदान्त की व्याख्या की, तो विज्ञान और तकनोलॉजी के विकास के रूप में आधुनिक पूँजीवाद की उपलब्धियाँ उनके सामने थीं और मज़दूर वर्ग और उपनिवेशों की जनता की निर्मम लूट मार का वह लेखा-जोखा भी सामने था, जिसने यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन के मानववाद और 'तर्कबुद्धि के राज्य' की संकल्पना के आलोक को फीका कर दिया था।

निराला जहाँ तक एक वेदान्ती के रूप में दिखाई देते हैं, वहाँ तक उनकी आस्था विवेकानन्द में अटूट दिखाई देती है। अतः वेदान्ती निराला को पुनरुत्थानवादी और दलित-विरोधी सिद्ध करने के प्रयासों का प्रतिकार करने के लिए विवेकानन्द के दार्शनिक-सामाजिक विचारों की कुछ चर्चा यहाँ ज़रूरी हो जाती है।

शंकराचार्य का अद्वैत जगत में ब्रह्म के अतिरिक्त, कुछ भी सत्य नहीं मानता था। वह ब्रह्म यथार्थ को मानसिक अवस्थाओं पर आश्रित मानता था, अन्तःप्रज्ञा और श्रुति को संज्ञान की मुख्य विधियाँ स्वीकार करता था तथा मानता था कि निगमन और संवेदन की द्वितीयक भूमिका होती है।

भूलना नहीं होगा कि रामानुज के विशिष्टाद्वैत (वेदान्त की दूसरी धारा) को उनके शिष्य रामानन्द ने सामाजिक क्रियाशीलता की एक नई लहर को बल प्रदान करने के लिए इस्तेमाल किया था और ब्राह्मणों के परमाधिकार एवं जातिप्रथा का

खण्डन करते हुए कहा था : "जात-पात पूछै नहीं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।" उनके शिष्यों में कबीर नीची जाति के जुलाहा, रैदास चमार, धर्मदास 'अछूत' जाट किसान और सेना नाई थे। रामानन्द के वेदान्ती सिद्धान्त उस भक्ति आन्दोलन के मूल प्रेरणा-स्रोत थे, जिसकी बहुत सी बातें यूरोपीय धर्मसुधार आन्दोलन से मिलती-जुलती थीं।

विवेकानन्द भारत के पूर्ण औपनिवेशीकरण के बाद और 1857 के महासंग्राम के रूप में पुराने भारत के अन्तिम प्रतिरोध संघर्ष तथा नये भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की पराजय के बाद, भारत के सांस्कृतिक-वैचारिक क्षितिज पर प्रकट होते हैं और उपनिवेशवाद और उसके द्वारा पोषित सामन्तवाद एवं उसके रूढ़ धार्मिक-सांस्कृतिक मूल्यों का विरोध करते हुए नये राष्ट्रवाद की वैचारिक आधारभूमि तैयार करने में अहम भूमिका निभाते हैं।

उनके हाथों में पहुँचकर शंकर के अद्वैत वेदांत में आमूल परिवर्तन हो जाता है और इसी रुपांतरित वेदांत को निराला अपने साहित्यिक जीवन के पूर्वार्द्ध में अपनाते हैं। शंकर का अद्वैत अपरिवर्तनशील, शाश्वत और अमूर्त था। विवेकानन्द ने कहा, "गति अथवा परिवर्तन ही जीवन का गीत है।" शंकर ने एक दार्शनिक के रूप में बुद्ध की भर्त्सना की, विवेकानन्द ने उनकी प्रशंसा की और उन्हें अनुकरणीय बताया। विश्व दृष्टिकोण मूलतः प्रत्ययवादी होने के बावजूद विवेकानन्द के चिन्तन में भौतिकवाद के तत्वों की उपस्थिति कई स्तरों पर अन्तरविरोधों को जन्म देती थी। वे किसी वैयक्तिक ईश्वर द्वारा संसार के सृजन का मजाक उड़ाते हुए ब्रह्माण्ड को असृष्ट, शाश्वत और स्वप्रकाशित मानते थे। उनके धार्मिक दृष्टिकोण का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है। विज्ञान की सत्ता व सामाजिक भूमिका को तथा आधुनिक सभ्यता के मूल्यों को वे स्वीकार करते थे। वर्णाश्रम धर्म को उन्होंने खारिज नहीं किया, लेकिन चार वर्णों के बीच समतापूर्ण ढंग से सामाजिक दायित्वों के बँटवारे का यूटोपिया उनके दिमाग में था, न कि द्विजत्व और सवर्णों की उत्पीड़क सत्ता की ईश्वरीय स्वीकृति। गुलामी को नियति के रूप में स्वीकारने वाली आस्तिकता की अपेक्षा उन्होंने नास्तिकता को स्वीकार्य बताया और स्वर्ग-नर्क की चिन्ता छोड़कर दुःखों-पीड़ाओं और विषमता के विरुद्ध संघर्ष के लिए आह्वान किया। रूसी क्रान्तिकारी अराजकतावादी प्रिंस क्रोपाटकिन से मिलने के बाद उन्होंने स्वयं को एक जगह समाजवादी भी घोषित किया। मज़दूर वर्ग की ऐतिहासिक शक्ति व भूमिका के बारे में उन्होंने लिखा : "अगर मज़दूर काम करना बन्द कर दें, तो आपको रोटी और कपड़ा मिलना भी बन्द हो जायेगा। और, आप उन्हें नीच वर्ग के लोग समझते हैं और उनके सामने अपनी संस्कृति का ढोल पीटते हैं! अपने को ज़िन्दा रखने के संघर्ष में उलझे रहने के कारण, उन्हें ज्ञान के जागरण का अवसर नहीं मिला। अब तक उन्होंने मानव बुद्धि द्वारा संचालित मशीनों की तरह एकचित्त, एकरस होकर काम किया है और चतुर, चालाक,

शिक्षित लोगों ने उनके श्रम के फलों का अधिकांश भाग हड़पा है। हर देश में ठीक यही दशा रही है। किन्तु अब ज़माना बदल गया है। इस सचाई के प्रति निचले वर्ग जाग रहे हैं, और अपने वैध अधिकारों को हासिल करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर वे अपना एक संयुक्त मोर्चा बना रहे हैं। उच्च वर्ग अब कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, वह इस निचले वर्ग को कुचल नहीं सकता। उच्च वर्गों का कल्याण अब इसी में है कि वे निचले वर्गों के वैध अधिकारों को हासिल करने में उनकी सहायता करें।"

उनके इस कथन से जाति व्यवस्था और उसकी नियति के बारे में उनके विचार भी स्पष्ट हो जाते हैं : "मानव समाज पर बारी-बारी से चार जातियों का राज होता है - पुरोहितों, सैनिकों, व्यापारियों और मज़दूरों का। सबसे आखीर में मज़दूरों (शूद्रों) का राज्य आयेगा...। पहली तीन जातियों के शासन के दिन अब लद चुके हैं। अब इस आखिरी वर्ग का समय आया है। उसे शासन मिलना ही चाहिए। कोई इस बात को रोक भी नहीं सकता।"

निराला ने वामपंथ के प्रारंभिक चिन्तकों में से एक राधामोहन गोकुल जी की तरह या जाति-पाँति तोड़क मण्डल, लाहौर के सेक्रेटरी संतराम की तरह या बौद्ध धर्म अपनाने वाले डा. अम्बेडकर की तरह जाति व्यवस्था या वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध नहीं किया। यदि विवेकानन्द की ही शब्दावली का इस्तेमाल करें तो निराला ने अपनी रचनात्मक सक्रियता के पूर्ववर्ती दौर में' 'प्रैक्टिकल वेदान्ती' का रुख अपनाया और उसी 'यूटोपिया' और उन्हीं अन्तरविरोधों के शिकार हुए। इसके बावजूद उन्हें अस्पृश्यता-समर्थक और दलित-द्रोही उस समय भी नहीं कहा जा सकता, जबकि वे पूरी तरह वेदान्ती थे। उस समय भी अपने उसी लेख में जिसे कँवल भारती ने खूब उद्धृत किया है, निराला ने शूद्र शक्ति के उदय के यथार्थ और उसी के द्वारा भविष्य में भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति की संभावना को स्वीकार किया था और लिखा था कि "देश की स्वतंत्रता के लिए चारों शक्तियों की नवीन स्फूर्ति, इनका नवीन सम्मेलन अनिवार्य है और तब कहीं उस संगठित नवीन राष्ट्र में वेदोक्त साम्य की यथार्थ प्रतिष्ठा हो सकेगी।"

दूसरी बात जो गौरतलब है वह यह कि निराला के चिन्तन को दलित-विरोधी, हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी सिद्ध करने के लिए कँवल भारती ने वेदान्त को शाश्वत, अपरिवर्तनशील दर्शन सिद्ध करने और उसमें निराला की आस्था मृत्युपर्यन्त अटूट बताने के साथ ही उनसे मनोगत ढंग से दलित पक्षधर चेतना की देश-काल निरपेक्ष, शाश्वत अभिव्यक्ति की अपेक्षा की है। ऐसा करते हुए वे मनमाने ढंग से प्रगतिवादी और दलित पक्षधर होने के लिए अलौकिक सत्ता में अनास्था आदि-आदि के मानक तय करने लगते हैं। यह करते हुए 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी कविताओं को जिस नायाब ढंग से उन्होंने पुनरुत्थानवादी और प्रगतिवाद की मूल चेतना के विपरीत सिद्ध किया है, उस पर कुछ भी न कहना ही बेहतर होगा।

तीसरी बात जिस पर ध्यान देना ज़रूरी है, वह यह है कि किसी रचनाकार के सचेतन तौर पर जो विचार होते हैं, उसके कलात्मक कृतित्व में उसका हू-ब-हू उल्था या अनुकरण नहीं होता। यह कला-सर्जना की रचनात्मक कीमियागीरी की अपनी विशिष्टता होती है कि रचनाकार के कृतित्व में उसकी इच्छा से स्वतंत्र होकर उसके विचारों के सभी प्रकट-अप्रकट अन्तरविरोध भी आने लगते हैं और बहुधा उसके प्रकट विचारों से इतर पक्षधरता और सरोकार भी कविताओं-कहानियों-उपन्यासों में खुद को प्रकट करने लगते हैं। वेदान्ती निराला 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' नामक अपने लेख में जिस हद तक द्विजत्व या वर्णाश्रम धर्म के किसी यूटोपियाई आदर्शीकृत रूप की पैरोकारी करते दिखाई देते हैं, एकदम वैसा ही उनकी उस दौर की कविताओं में नहीं दीख पड़ता। साथ ही, इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि निराला के लेखों में भी जाति व्यवस्था और दलित प्रश्न पर एकाधिक बार अन्तरविरोधी अवस्थितियाँ अपनाई गई हैं तथा उनकी अवस्थितियाँ निरन्तर परिवर्तनशील भी रही हैं। आगे चलकर अपने एक अन्य लेख में वे इस प्रश्न पर आवेगपूर्ण भावप्रवणता के साथ लिखते हैं : "शूद्र शक्तियों से यथार्थ भारतीयता की किरणें फूटेंगी। वे ही भविष्य के ब्राह्मण, क्षत्रीय, और वैश्य हैं, और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि दृप्त जातियाँ - शूद्र। खुदाई सजा ऐसी ही होती है। चिरकाल तक लड़कर ब्राह्मण-क्षत्रिय पस्त हो गये हैं, उनका कार्य अब वे जातियाँ करेंगी जो अब तक सेवा करती आई हैं। भारत तभी तक पराधीन है, जबतक वे नहीं जागतीं। उनका कर्म के क्षेत्र में उतरना भारत का स्वाधीन होना है।" ('वर्तमान हिन्दू समाज', 'प्रबन्ध प्रतिमा', पृष्ठ 179)

निराला के रचना संसार - खासकर उनकी कविताओं की पूरी विकास यात्रा को यदि लें तो मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि उनकी रचनात्मकता के वैचारिक अन्तरविरोध धीरे-धीरे विकसित होकर उस मुकाम पर जा पहुँचते हैं जहाँ उनके राष्ट्रीय उद्‌बोधन और आम जन के उत्थान की चिन्ताएँ और सरोकार अपने वेदान्ती रैडिकल सुधारवादी आधार के सीमान्तों का अतिक्रमण करके एक नया रैडिकल बुर्जुआ जनवादी आधार अपना लेते हैं। इसके साथ ही दलित प्रश्न पर भी निराला की अवस्थिति में परिवर्तन दिखाई देता है। मोटे तौर पर, चौथे दशक के मध्य तक निराला की कविता रुढ़ छन्दानुशासन से कविता की मुक्ति के ऐतिहासिक कार्य को सम्पन्न करने का ऐतिहासिक कार्य करते हुए भी आभिजात्य के प्रति और अतीत के गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा के प्रति आग्रह की कविता है। इस दौर में निराला 'बादल राग' जैसी कविता में क्रान्ति का आह्वान भी करते हैं और 'भिक्षुक' और 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं में दलित उत्पीड़ित-शोषित जनों के प्रति करुणा से सराबोर भी दीखते हैं, लेकिन इस दौर में उनकी जो केन्द्रीय और बुनियादी चिन्ता है, वह ऐतिहासिक और राष्ट्रीय प्रगति की है जिसकी संकल्पना निस्सन्देह मूलतः और मुख्यतः वेदान्ती है। दूसरे, इस दौरान के गीतों-ऋतु कविताओं और लम्बी कविताओं में आत्म साक्षात्कार

के जो सान्द्र भावोद्रेकपूर्ण स्वर हैं, उनपर भी मानव मुक्ति की वेदान्ती अवधारणा का प्रभाव है। लेकिन अतिसरलीकरण के खतरे से बचने के लिए यहाँ भी, कई असहमतियों के बावजूद दूधनाथ सिंह की इस उक्ति के साथ सहमति जाहिर करनी ही होगी कि "निराला में रचनात्मकता के अनेक स्वर और स्तर एक ही साथ, हर समय क्रियाशील दिखाई देते हैं।"

शिव कुमार मिश्र के अनुसार इस दौर की निराला की रचनाएँ स्वच्छंदतावादी चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं। रूसी विद्वान चेलिशेव ने 'बादल राग' का सादृश्य-निरुपण शेली के 'पछुवा का सम्बोध-गीति' के साथ सही ही किया है। पर शेली, कीट्स आदि का स्वच्छंदतावाद धर्मसुधार-पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति (रिफॉर्मेशन-रिनेसाँ-एनलाइटेनमेण्ट-रिवोल्यूशन) की सतत् प्रक्रिया की भाव भूमि पर पैदा हुआ था। निराला का स्वच्छंदतावाद एक ऐसे नये भारत की औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की भावभूमि पर टिका था जो अपने अतीत से विच्छिन्न था, और जहाँ राष्ट्रवाद और जनवाद का वाहक वर्ग स्वतंत्र समाज की रिनेसाँ की पैदाइश न होकर औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की कोख से पैदा हुआ था। कबीर-दादू-रैदास-नानक के भक्ति आन्दोलन और निराला के बीच गतिरोध और औपनिवेशीकरण की शताब्दियों लम्बी प्रक्रिया का दीर्घ अन्तराल था। ऐसी स्थिति में विवेकानन्द की तरह निराला ने भी वेदान्त को अपना दार्शनिक आधार बनाकर शुरुआत की। और शायद यही कारण था कि यूरोपीय स्वच्छंदतावाद के विपरीत निराला का क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद सम्पूर्ण-समग्र रूप में किसी क्लासिकीवाद को विस्थापित करके नहीं आया था, बल्कि वह क्लासिकीवाद के साथ-साथ मौजूद था। एक ही साथ उनकी कविताओं में इन दोनों कलात्मक-विचारधारात्मक धाराओं का सहअस्तित्व और टकराव मौजूद है। उनमें एक ही साथ राष्ट्रीय हितों और उन्नयन के नवजात राष्ट्रीय बुर्जुआ स्वर (क्लासिकीवाद) भी है और बुर्जुआ समाज की विसंगतियों की समझदारी जनसमुदाय के जीवन में रुचि और भविष्योन्मुखता (स्वच्छंदतावाद) के स्वर भी। धीरे-धीरे स्वच्छंदतावाद का स्वर प्रबल होता दीखता है, पर दोनों की ही पूर्वपीठिका के तौर पर वेदान्त मौजूद रहता है।

यही कारण है इस दौर में निराला की सांस्कृतिक धारणाएँ अतीतोन्मुखी नज़र आती हैं, वे "सनातन धर्म" और "शुद्ध भारतीयता" की चर्चा और "हिन्दू भारत" की परिकल्पना भी करते हैं, शुद्ध संस्कृति की धारणा प्रकट करते हैं और "देव-द्विज-देश" के प्रति समर्पण की बात करते हैं। इस सन्दर्भ में "शिवाजी का पत्र" और "जागो फिर एक बार" कविताएँ द्रष्टव्य हैं।

पर एक क्रमिक विकास की प्रक्रिया में निराला की रचनाओं को पढ़ते हुए स्पष्ट हो जाता है कि अपने चिन्तन की इस कमी को निराला ने अपने दिक्-काल की घटनाओं-विचारधाराओं आदि का अपने ढंग से अध्ययन करते हुए दूर किया। उनके

रचनाकाल के पूर्ववर्ती दौर के अन्तिम वर्षों में ही यानी जब अभी वे मूलतः वेदान्त के प्रभाव में थे और एक स्वच्छंदतावादी कवि थे, तभी, बहुत तेजी से द्विजत्व का उनका आग्रह टूटता नज़र आता है। दूधनाथ सिंह के शब्दों में, "सहसा उनके विचारों की पूरी धुरी ही उल्टी घूमती हुई दिखाई देती है। वे अपनी पूरी मेधा और शक्ति से सवर्ण-विरोधी रुख अपनाते हुए लगते हैं। यहाँ तक कि 'तुलसीदास' जैसी कविता में भी तुलसीदास की प्रमुख चिन्ता में शूद्रों के पतन और शोषण का वे बड़ा ही हृदय-विदारक चित्र खींचते हैं।" तुलसीदास की यह "शूद्र चिन्ता" वास्तव में निराला की अपनी चिन्ता है।

डा. शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक 'यथार्थवाद' में और डा. राजकुमार सैनी ने 'साहित्यस्रष्टा निराला' में संकेत दिया है कि 'परिमल' 'गीतिका' और 'अनामिका' की रचनाएँ (यानी 1936 तक) स्वच्छंदतावादी चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं जबकि उनकी बाद की रचनाएँ (यानी 1937 से आगे की) 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला' और 'नये पत्ते' यथार्थवादी चेतना का। मानो एक संक्रमण-चरण से गुजरकर निराला का सक्रिय स्वच्छंदतावाद सक्रिय यथार्थवादी चेतना में गुणांतरित हो जाता है और एक नयी जनवादी भावभूमि अपना लेता है।

यहाँ पहुँचकर यद्यपि निराला फिर भी दार्शनिक स्तर पर अराजकतावाद से मुक्त नहीं हुए हैं, समष्टि में और सचेतन क्रान्ति में वैज्ञानिक समाजवादी-आस्था फिर भी उनकी नहीं है, लेकिन साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध उनका निम्न पूँजीवादी जनवाद इस स्तर तक क्रान्तिकारी और सुसंगत अवश्य हो गया है कि वे द्विजत्व और सवर्ण-संस्कृति को भारतीय जन की मुक्ति के स्पष्ट अवरोध के रूप में देखने लगते हैं और उन पर चोट करने का कोई भी मौका खाली नहीं जाने देते।

कँवल भारती जैसे दलितपंथी अतिवादी उस निराला की सर्वथा अनदेखी करते हैं जो "...वर्तमान हिन्दू समाज का विश्लेषण करते हुए... इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जितनी बार ब्राह्मणों ने संस्कृति की पुनर्रचना के लिए सिर उठाया, उतनी ही बार उन्होंने जन-साधारण पर किसी न किसी बहाने से अत्याचार किया। सारी सवर्ण जातियाँ सदियों से पिस रहे इस जनसाधारण को कभी किले के रूप में, कभी फ़ौजों के रूप में, अपनी सुरक्षा, सुविधा और लाभ के लिए इस्तेमाल करती रहीं। अपने तथाकथित उच्च्य स्पर्श से उन्हें गद्‌गद करती रहीं। अपने द्वारा, अपने लाभ और अस्तित्व-रक्षा के लिए निर्मित सभ्यता, संस्कृति का जादू चलाकर, धर्म का नशा चढ़ाकर उन्हें कितनी बार उनके निज के रक्त में स्नान करवाती रहीं। हर बार ब्राह्मण पोथियों में इस जनता को दबाये हुए आये और अपना मतलब निकाल ले गये। लेकिन अब यह सब नहीं होने का।" (दूधनाथ सिंह : आत्महन्ता आस्था)

वास्तव में 'अणिमा', 'बेला' और 'नए पत्ते' की रचनाओं से भी पहले 'कुकुरमुत्ता' की रचना प्रक्रिया में ही हमें निराला के भावबोध में ऐसे गुणात्मक

परिवर्तन दिखाई देते हैं। जहाँ कविता के 'निजल' या 'सवर्ण संस्कार' के टूटने के रूप में स्वयं निराला के सवर्ण संस्कार तार-तार होते दिखाई देते हैं और वास्तव में कविता में एक तरह की दलित चेतना रुपायित होती दिखती है।

निराला ने कभी छन्दो के बन्धन से मुक्ति में कविता की मुक्ति की बात कही थी (जिसे कँवल भारती उनका एकमात्र योगदान मानते हैं)। 'कुकुरमुत्ता' तक आते-आते जिस काव्य-आभिजात्य से कविता को मुक्ति मिलती है, वह हिन्दी कविता की "दूसरी आज़ादी" थी। यह कविता का आम जन के निकट आना था। इसके बाद निराला की कविता का कथ्य और शिल्प ही नहीं, शब्दावली और मुहावरे तक बदल गये:

"खुला भेद विजयी कहाए हुए जो
लहू दूसरों का पिये जा रहे हैं"

('बेला')

....
"भेद कुल खुल जाय वह सूरत हमारे दिल में है
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारे मिल में है"

('बेला')

....
"जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ!
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ"

('बेला')

यही वह पाठशाला है, जो कुल्ली भाट के कथानायक कुल्ली भाट (पं. पथवारीदीन भट्ट), जिन्होंने पण्डित होकर भी मुसलमान स्त्री से शादी की थी, अछूत बच्चों के लिए स्कूल चलाते थे, जहाँ निराला ने अछूत लड़कों की "आँखों से निर्मल रश्मि" निकलते देखी। इन अछूत बच्चों के बारे में वे भावाकुल होकर लिखते हैं, "इनकी ओर कभी

किसी ने नहीं देखा। ये पुश्त दर पुश्त से सम्मान देकर नतमस्तक ही संसार से चले गये हैं। संसार की सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान नहीं। ये नहीं कह सकते; हमारे पूर्वज कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कर्णाद थे; रामायण, महाभारत इनकी कृतियाँ हैं; अर्थशास्त्र, कामसूत्र इन्होंने लिखे हैं; अशोक, विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन, पृथ्वीराज इनके वंश के हैं। फिर भी ये थे, और हैं।"

'झींगुर डटकर बोला' कविता में जब "कांग्रेस मैन" द्वारा गाँधीवाद के "वर्ग समन्वयवाद" की "बघार चलती थी", ठीक उसी समय विपरीत सचाई सामने आ खड़ी होती है :

"जमींदार का गोड़इत
दोनाली लिये हुए
एक खेत फ़ासले से
गोली चलाने लगा।
भीड़ भगने लगी।
कान्स्टेबल खड़ा हुआ ललकारता रहा।
झींगुर ने कहा,
"चूँकि हम किसान-सभा के,
भाई जी के मददगार
जमींदार ने गोली चलवाई
पुलिस के हुक्म की तामीली की।
ऐसा यह पेच है।"

'राजे ने रखवाली की', 'चर्खा चला' और 'दगा की' जैसी कविताओं में निराला ने ब्राह्मणों और दरबारी चाटुकार बुद्धिजीवियों द्वारा "राजे की रखवाली" के लिए धर्म और सभ्यता के नाम पर रचे गये कुचक्र और फरेब की, वर्णाश्रम व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उत्तरवर्ती विकास की प्रखर आलोचना प्रस्तुत की।

कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय उद्‌बोधन के अतीतोन्मुखी लेकिन उग्र-प्रचण्ड स्वर से आम खेतिहर आबादी की राष्ट्रीय जनवादी मुक्ति-समर में भूमिका की पहचान तक की निराला की विकास यात्रा तिलक के उग्र राष्ट्रवाद से स्वामी सहजानन्द की किसान सभा की राजनीति तक के विस्तार को समेटे हुए है। पर यहीं तक नहीं, वह इसके आगे भी जाती है। निराला के किसान का जो चित्र है वह सवर्ण नहीं है। वह मध्य जाति का है भी तो खुशहाल काश्तकार नहीं लगता है। प्रायः वह चित्र निम्न जाति के किसी ग़रीब किसान का या भूमिहीन किसान का है।

निराला जब गुलामी से मुक्ति के लिए ललकार रहे थे, तब उनकी क्रान्ति की संकल्पना भी वर्ग-समन्यवादी थी :

"देखता हूँ यहाँ काले-लाल-पीले-श्वेत जन में
शान्ति की रेखा खिंची है, क्रान्ति कृष्णा हो गई है।"

फिर गहन वैचारिक आलोड़न में यह उद्बोधक स्वर मंद-सा पड़ जाता है और जब निराला इस मंथन से बाहर निकलते हैं तो इस समझ के साथ कि दलितों और व्यापक मेहनतकश आवाम की मुक्ति में ही राष्ट्रीय मुक्ति की सार्थकता है। यहाँ पहुँचकर वे वर्ग समन्वय को "गाँधी का जहर" कहने लगते हैं और यथार्थ पर आदर्श थोंपने के लिए प्रेमचन्द की आलोचना करते हैं। यहाँ पहुँचकर निराला जनमुक्ति को अतीत के किसी "स्वर्ण युग" की पुनर्स्थापना के रूप में नहीं देखते जहाँ धर्म, सभ्यता और संस्कृति के नाम पर दलितों और शोषित वर्गों को ठगने का काम हो। 'वर्ग-समन्वय' या 'हरिजन-उत्थान' नहीं, वे "हज़ारों हाथों के उठते हुए समर" की बात करते हैं। वे नेहरू के स्वर में "बुर्जूवाजी के सँवार" का भी मजाक उड़ाते हैं और यह सन्देह प्रकट करते हैं कि नेहरू और गाँधी के प्रयत्नों से जो स्वराज्य आयेगा, वह उसी "राजे" का नया चोला चढ़ा समाज होगा। अब "उन्हें लगता है जब 'मसुरिया' और 'बलई' जैसे चरित्र उठ खड़े होंगे तो इतिहास को धोखे की टट्टी की तरह इस्तेमाल करने वाले, जनता को किला बनाने वाले ये बड़े-बड़े छली भाग खड़े होंगे" (दूधनाथ सिंहः 'निराला : आत्महंता आस्था')

"जान गये, जान गई खुली जो लगी कलई
उठे मसुरिया, बलई, भगे बड़े-बड़े छली।"

'नये पत्ते' की कविताओं में निराला की दलित-पक्षधरता साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध आम जनता की असहायता और संघर्ष के विविध चित्रों में रच-गुँथकर तो आती ही है, नये राष्ट्रीय नेतृत्व के पूँजीवादी चरित्र के छल-कपट को उजागर करने के रूप में भी आती है :

"आजकल पण्डित जी देश में बिराजते है।
कुइरीपुर गाँव में व्याख्यान देने को
आये हैं मोटर पर
लन्दन के ग्रेजुएट, एम.ए., बैरिस्टर
बड़े बाप के बेटे
बीसियों भी पर्तों के अन्दर, खुले हुए

एक-एक पर्त बड़े-बड़े विलायती लोग
देश की बड़ी-बड़ी थातियाँ लिये हुए।
राजों के बाजू पकड़, बाप की वकालत से,
कुर्सी रखने वाले अनुल्लंघय विधा से

देसी जनों के बीच,
लेंडी ज़मीदारों को आँखों तले रखे हुए
मिलों के मुनाफ़े खाने वालों के अभिन्न मित्र,
देश के किसानों और मज़दूरों के भी अपने सगे
विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए
गले का चढ़ाव बोझ, आजी का नहीं गया।
आँख पर वही पानी
स्वर पर वही सँवार।"

निराला के अन्तिम दौर की कविताओं और गीतों में जो मोहभंग, नैराश्य, अकेलापन और शरणागति का भाव दिखाई देता है, उसका भी रिश्ता सिर्फ़ उनके अपने व्यक्तिगत जीवन की त्रासदियों-संघर्षों से ही नहीं है। कहीं न कहीं उसका तार देश की अधूरी आज़ादी, विभाजन, भूमि सुधार के नाम पर दलित जनों और ग़रीब और मध्यम किसानों के साथ हुए छल, तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा-वायलार आदि किसान संघर्षों की पराजय और राष्ट्रीय नेतृत्व के जनविरोधी चरित्र के उजागर होते जाने की प्रक्रिया के साथ भी जुड़ा हुआ है। पर इसकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है।

निराला के कथा-साहित्य की व्यापक पड़ताल के द्वारा भी दलित वर्गों और जातियों के प्रति उनके दृष्टिकोण के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को लक्षित किया जा सकता है और यह काफ़ी उपयोगी चर्चा होगी, क्योंकि अन्तर्वस्तु के साथ ही गद्य की एक तरह की पुरानी ब्राह्मणी कर्मकाण्डी शैली, आभिजात्य और औपचारिकता को भी तोड़ने की प्रक्रिया में निराला ने जो प्रयोग किये और जिस साहस का परिचय दिया, वह महत्वपूर्ण है। पर यहाँ यह चर्चा समयाभाव के कारण सम्भव नहीं है। अतः फिलहाल इतना ही।

(23 मार्च, 1997 को निराला की शतवार्षिकी के अवसर पर 'चेतना मंच' और पाश पुस्तकालय के संयुक्त तत्वावधान में करनाल में आयोजित सेमिनार में प्रस्तुत। 'आजकल', जुलाई, 1997 में कुछ सम्पादन के साथ प्रकाशित। इस संकलन में अपने मूल रूप में प्रस्तुत)

निराला की राष्ट्रीय जनवादी चेतना : परम्परा और परिवर्तन का द्वन्द्व

देश की स्वतंत्रता की अर्द्धशताब्दी और निराला की जन्मशताब्दी के वर्ष में इतिहास के पुनर्मूल्याँकन विषयक कई मुद्दों पर बहस उठ खड़ी हुई है। यह स्वाभाविक है और स्वागत योग्य भी। पर इस दौरान परम्परा-पूजन और यांत्रिक सर्व निषेधवाद की दो परस्पर-विरोधी रूझानों के ऐसे उदाहरण भी सामने आ रहे हैं, जिन पर अलग से चर्चा ज़रूरी है।

निराला के अवदानों का मूल्याँकन करते हुए इधर दो ऐसी अवस्थियाँ सामने आई हैं, जिन पर विस्तृत बहस ज़रूरी है। अभी पिछले दिनों हिन्दी के यशस्वी कवि **विष्णु खरे** ने निराला पर साम्प्रदायिक होने का आरोप लगाया। वैसे उनकी प्रसिद्ध लम्बी कविता **'शिवाजी का पत्र'** की चर्चा करते हुए **दूधनाथ सिंह** ने भी अपनी पुस्तक **'आत्महन्ता आस्था'** में निराला के चिन्तन में हिन्दुत्व के गौरव की पुनर्स्थापना की अतीतग्रस्तता की ओर लक्षित किया है, पर उन्होंने सविस्तार यह चर्चा भी की है कि अपनी विकासयात्रा के उत्तरवर्ती चरण में निराला ने इस वैचारिक भूल का परिमार्जन कर लिया।

निराला के काव्य में परम्परा मोह के पहलू को ही रेखांकित करते हुए युवा कवि **नीलाभ** का भी मानना है कि समकालीन चुनौतियों से टकराते हुए आज के कवि के लिए प्रेरणा-स्रोत के रूप में निराला की कविता महत्वपूर्ण नहीं रह गयी है। उन्हीं के शब्दों में, "आज के कवि का पहला संघर्ष वास्तविकता को समझने और उसे कविता में उतार पाने का संघर्ष है। इस लिहाज से हमें उस एजेण्डा पर भी गौर करना पड़ेगा जो कबीर से लेकर आज तक चला आया है। यानी एक समतामूलक धर्मनिरपेक्ष समाज के निर्माण की कोशिश। इस कार्यभार में आज जो चीज़ें जुड़ गई हैं - मिसाल के तौर पर लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना, नारी मुक्ति जो मनुष्य की मुक्ति से जुड़ी हुई है, यथास्थिति से समझौता न करते हुए और सत्ता तथा उसके प्रलोभन से बचते हुए हिन्दू पुनरुत्थानवाद और उससे जुड़े हिन्दू फासीवाद का मुकाबला और एक अर्द्ध-औपनिवेशिक-अर्द्धसामन्ती राज्यसत्ता के साथ साम्राज्यवादी

शक्तियों के गठजोड़ का प्रतिरोध - उन पर भी हमें बराबर नज़र रखनी होगी। जाहिर है इस कार्यभार को पूरा करने में हमें निराला से बहुत मदद नहीं मिलेगी। उसकी विराट उपलब्धियों की तरह उनकी विफलताएँ भी विराट हैं।" (**परम्परा-मोह और अपने समय से संघर्षः नीलाभ, 'आजकल'**, जुलाई, 1997)

निराला की प्रगतिशीलता पर दूसरा प्रश्न दलित चिन्तन की नई धारा की ओर से आया है। विगत 17 नवम्बर 1996 को इलाहाबाद में **जनसंस्कृति मंच** के पाँचवे राष्ट्रीय सम्मेलन में दलित लेखक **कँवल भारती** ने एक आलेख पढ़ा जो **'क्या निराला वाकई प्रगतिशील थे?** शीर्षक से **'दूसरा शनिवार'** पत्रिका के अगस्त '97 अंक में प्रकाशित हो चुका है। कँवल भारती के अनुसार, निराला अपने चिन्तन में प्रगतिवाद की मूल चेतना के विरुद्ध हैं, वेदान्ती होने के नाते वर्णव्यवस्था के समर्थक हैं तथा दलित-विरोधी, हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी है।

इन दो प्रस्थापनाओं पर चर्चा सिर्फ़ इसलिए ही नहीं ज़रूरी है कि निराला के अवदानों का वस्तुपरक मूल्याँकन किया जा सके, बल्कि इसलिए भी ज़रूरी है कि इससे इतिहास और परम्परा के मूल्याँकन की पद्धति और पहुँच (अप्रोच) से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण सवाल जुड़े हुए हैं।

पहली बात तो यह कि राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय जनवादी चेतना की चर्चा देशकाल सापेक्षता के परिप्रेक्ष्य में ही की जा सकती है। भारत में राष्ट्रवाद के विकास के प्रारम्भिक दौरों में अतीत से प्रेरणा लेते हुए अतीतोन्मुख हो जाने, हिन्दुत्व के गौरव की पुनर्स्थापना की बात करने, पौराणिक गाथाओं और धार्मिक उत्सवों के माध्यम से अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय पहचान की तलाश करने और मध्यकाल के मुस्लिम विदेशी हमलावरों या दिल्ली में स्थापित सल्तनत से मोर्चा लेने वाले राणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल या गुरु गोविन्द सिंह को राष्ट्रीय नायकों के रूप में प्रस्तुत करने की आम प्रवृत्ति राजनीतिक क्षेत्र में भी मौजूद थी और सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र में भी। पर इस वैचारिक विचलन के सुनिश्चित वस्तुगत आधार थे।

भारत में राष्ट्रवाद (नेशनलिज्म) और जनवाद (डेमोक्रेसी) की विचार-सरणियों का उदय धर्मसुधार-पुनजार्गरण-प्रबोधन (रिफार्मेशन-रिनेसाँ-एनलाइटेनमेण्ट) की उस स्वाभाविक आन्तरिक गति से नहीं हुआ जिस तरह कि यूरोप में, जहाँ मध्यकालीन धर्मकेन्द्रित समाज का स्थान पुनर्जागरण के बाद मानवकेन्द्रित समाज ने लिया था और फिर कालान्तर में प्रबोधन के युग (एज ऑफ एनलाइटेनमेण्ट) में तर्क और विज्ञान ने पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति का वैचारिक-सैद्धान्तिक पूर्वाधार तैयार किया था।

भारत में मध्यकाल के उत्तरवर्ती दौर में, अपनी स्वाभाविक आन्तरिक गति से सामाजिक रूपान्तरण की पूर्वपीठिका तैयार ही हुई थी कि देश उपनिवेशवादियों की लूट, षड्यंत्रों और आपसी युद्धों की गिरफ़्त में जा फँसा और जल्दी ही ब्रिटेन का

गुलाम हो गया। लार्ड कार्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त और उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न चार्टरों, लार्ड विलियम बेंटिक के सुधारों, मैकाले की शिक्षा-व्यवस्था और भूमि-सम्बन्धी कानूनों आदि के जरिए, सुव्यवस्थित ढंग से पुराने भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके हमारे समाज पर एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित की गई। इसी औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर नये सामाजिक वर्गों का - यानी मध्यकाल से भिन्न भूस्वामी वर्ग, पूँजीपति वर्ग, मध्यवर्ग और सर्वहारा वर्ग का उदय हुआ।

राष्ट्रवाद और जनवाद की विचारधाराओं का वाहक आधुनिक पूँजीपति वर्ग यूरोप की भाँति यहाँ बर्गरों की सन्तान नहीं था। इसने कृषि से दस्तकारी और मैन्यूफैक्चरिंग तक की अपनी स्वाभाविक यात्रा पूरी नहीं की थी। यह ब्रिटिश सत्ता द्वारा आरोपित नई व्यवस्था के फलस्वरूप पैदा हुई सामाजिक-आर्थिक संरचना की उपज था। यही इसकी राजनीतिक-वैचारिक-सांस्कृतिक दुर्बलताओं, विचलनों और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में इसकी दोहरी भूमिका (दबाव और समझौता) का मूल कारण था। यही स्थिति मध्यवर्ग और सर्वहारा वर्ग के साथ भी लागू होती है।

जिस पूर्ण औपनिवेशीकरण ने हमें अपनी जड़ों से विच्छिन्न कर दिया, विकास की स्वाभाविक आन्तरिक गति का गला घोंट दिया, जिसके चलते आज भी हमारे सामाजिक मूल्यों में जनवाद का, वैज्ञानिक तर्कपरकता का और इतिहास एवं परम्पराओं के प्रति सही दृष्टिकोण का अभाव अतीत के जन्मचिह्नों के समान मौजूद है, उसके सभी दुष्परिणामों को समझे बिना हम या तो आज भी पश्चिमाभिमुखी नज़रिये से अपने इतिहास और वर्तमान को देखते रहेंगे या फिर अतीतोन्मुखी पुनरुत्थानवाद के शिकार होते रहेंगे। राष्ट्रीय आज़ादी के पूरे काल में विभिन्न वर्गों और उनके बौद्धिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक नेतृत्व की भूमिका, उनकी कमजोरियों, उनके वैचारिक विचलनों, उनके द्वन्द्व और साथ ही उनकी विकास यात्रा को समझने के लिए भारत के औपनिवेशीकरण के परिणामों को अच्छी तरह समझना होगा।

जब हम इतिहास के दौर-विशेष में व्यक्ति-विशेष के अवदानों का मूल्याँकन करते हैं तो हमें यह याद रखना होगा कि महान से महान व्यक्ति भी अपनी युगप्रवर्तक भूमिका निभाते हुए इतिहास के रंगमंच की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। निराला का मूल्याँकन करते समय भी इस बात का पूरा ख़्याल किया जाना चाहिए, अन्यथा कभी तो वह युग-चेतना की साक्षात् मूर्ति नज़र आने लगेंगे और कभी उग्र हिन्दूवादी और दलित-विरोधी नज़र आने लगेंगे। वर्तमान की ज़मीन पर खड़े होकर इतिहास का मूल्याँकन करने का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वर्तमान की ज़रूरतों के लिए अतीत का इस्तेमाल करने का नज़रिया अपना लिया जाये। यह बहुत खतरनाक होगा।

उपरोक्त इतिहास-चर्चा और पद्धति-पहुँच की चर्चा के परिप्रेक्ष्य में अब जरा हम

निराला पर आज लगाये जाने वाले आरोपों पर एक नज़र डालें।

विष्णु खरे और नीलाभ जिस नज़रिये से निराला को साम्प्रदायिक, परम्परा-मोही या हिन्दूवादी झुकाव से ग्रस्त बताते हैं, उस नज़रिये से आज राष्ट्रीय आन्दोलन में युगान्तर-अनुशीलन के क्रान्तिकारियों, **विवेकानन्द** और **तिलक** की भूमिका को भी काफ़ी हद तक खारिज किया जा सकता है। इस तर्क को यदि आगे बढ़ाया जाये तो **तिलक** और भाई **परमानन्द** के बीच या तिलक और गुरु गोलवलकर के बीच कोई अन्तर कर पाना मुश्किल हो जायेगा।

जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, भारत में राष्ट्रवाद और जनवाद का दर्शन और व्यवहार 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति' की प्रक्रिया से नहीं, बल्कि उन नये सामाजिक वर्गों के औपनिवेशिक सत्ता के साथ क्रमशः बढ़ते अन्तरविरोधों के साथ फलीभूत हुआ था जो औपनिवेशिक सामाजिक आर्थिक संरचना से उद्‌भूत हुए थे। इनके पीछे मानववाद, भौतिकवाद और वैज्ञानिक तर्कणा के कठिन संघर्ष की वह पृष्ठभूमि नहीं थी जो कि यूरोप में। मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन और किसान संघर्षों के रूप में कुछ-कुछ यूरोपीय धर्म-सुधार काल जैसी **- मुंजर, लूथर** और **काल्वें** के समय जैसी, प्रक्रिया जारी तो थी पर 1740 से 1857 के बीच पूरी हुई सर्वतोमुखी-सम्पूर्ण औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने इसका गला घोंट दिया।

इसीलिए ब्रिटिश औपनिवेशिक काल की भीषण दुरवस्था से उबरने के लिए भारतीय जन के बौद्धिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक नायकों ने जब अपने अतीत की ओर देखा तो इटली के, या यूँ कहे कि यूरोप के पुनर्जागरण की भाँति यूनान और रोम के प्राचीन भौतिकवाद और तर्क एवं विज्ञान के दौर से प्रेरणा लेकर, उन्हें पुनःसांस्कारिक करके मानववाद और भौतिकवाद के नये दर्शन की आधारशिला रख पाने के बजाय वे अतीत मोह या अतीतग्रस्तता के शिकार हो गये। और यही कारण था कि भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान के, यूरोप से भी समृद्ध अतीत के बावजूद औपनिवेशिक काल में हमारे देश में **वाल्तेयर, दिदेरो, रूसो, मान्तेस्क्यू,** या रूस के उन्नीसवीं सदी के **हर्जेन, चेर्निशेव्स्की, बेलिंस्की, दोब्रोल्यूबोव** जैसे प्रखर और महान दार्शनिक चिन्तक नहीं दिखाई देते। पर इससे **विवेकानन्द, तिलक, भगतसिंह** या **निराला, प्रेमचन्द** की महानता कम नहीं होती, क्योंकि इतिहास-पुरुष भी अपने देशकाल की भौतिक परिधि का अतिक्रमण नहीं कर सकते।

अपने रचनाकाल के दौरान, तीस के दशक के पूर्वार्द्ध तक निराला जहाँ कहीं भी राष्ट्रीय जीवन की दुरवस्था की पीड़ा, राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान की तड़प या भारत के सांस्कृतिक अधःपतन के विकल्प की खोज से जूझते हैं, वहाँ वे अतीत की ओर देखते नज़र आते हैं। पुनर्जागरण और प्रबोधन के दर्शन के अभाव में, औपनिवेशिक समाज की दुरवस्था का विकल्प वे भारत के गौरवमय अतीत में खोजने की कोशिश करते हैं। राष्ट्रवाद और औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया की सुसंगत

इतिहास-सम्मत समझ के अभाव में वे **औपनिवेशिक भारत की दुर्दशा के सिलसिले का प्रारम्भ मध्यकाल के बाहरी-आक्रमणों से मानते है और यह नहीं समझ पाते कि इन बाहरी आक्रमणों के बिना भी, सदियों पुरानी, ठहराव का शिकार हो चुकी उत्पादन- प्रणाली के विकास की अत्यन्त मंथर गति और उससे उपजे निरंकुश स्वेच्छाचारी मूल्यों-मान्यताओं से ग्रस्त मध्यकालीन भारतीय समाज उतना ही पतनशील बना रहता, जबतक कि नई सामाजिक शक्तियाँ प्राकृपूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक संरचना को छिन्न-भिन्न नहीं कर देतीं।**

निराला सांस्कृतिक पुनरुत्थान के विकल्प की तलाश करते हुए अतीत में वहाँ तक जा पहुँचते हैं, जहाँ भारतीय जीवन उत्पादन, सामाजिक प्रणाली और दर्शन-विचार के स्तर पर अभी गतिमान और ऊर्जस्वी बना हुआ था। पर यही यात्रा उन्हें "सनातन धर्म धारा शुद्ध" और "देव-द्विज देश" की मान्यताओं तक भी पहुँचा देती है। परन्तु निराला के लिए यह खोज सुविधा का प्रश्न नहीं, (जैसा कि दूधनाथ सिंह का विचार है) बल्कि भारत की विकासमान राष्ट्रीय चेतना के तत्कालीन अन्तरविरोध की अभिव्यक्ति और तज्जनित इतिहास-दृष्टि की सीमा थी।

इस अन्तरविरोध को दूसरे ढंग से समझें। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हमें राष्ट्रवाद की समझ में इसतरह की अतीतोन्मुखता युगान्तर और अनुशीलन के क्रान्तिकारियों से लेकर वेदान्त से प्रभावित **शचीन्द्रनाथ सान्याल** तक में दिखाई देती है। एक-दूसरे धरातल पर, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण के एक और अग्रणी व्यक्तित्व **विवेकानन्द** में भी यह दिखाई देती है। किसानों के जुझारू नेता **स्वामी सहजानन्द** हमेशा ही किसान आन्दोलन में कांग्रेस के समझौतापरस्त नेतृत्व के आलोचक रहे और कम्युनिस्टों के सहयोगी, लेकिन जाति-पाँति, वर्ण-व्यवस्था आदि के प्रश्न पर वे पुराने ख़्याल ही रखते रहे और यही क्यों? राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा के शीर्ष नेता **महात्मा गाँधी** छुआछूत का विरोध करने के साथ ही खुद को अन्त तक सनातनी हिन्दू ही कहते रहे। इस रूप में उनकी धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के भी अपने अन्तरविरोध थे।

भारत में उपनिवेशवाद के विरुद्ध विकासमान राष्ट्रवादी विचारधारा जब अपने दार्शनिक आधार और स्रोतों की खोज से जूझती है तो वह अपने पहले दौर में अनेक सरणियों में बँटी हुई नज़र आती है और उनमें से हर विचार-सरणि अपने प्रारम्भिक दौर में अनेकशः दुर्निवार अन्तरविरोधों से ग्रस्त दिखलाई पड़ती है। संघर्ष और विकास के उन्नत धरातल पर पहुँचकर ये अन्तरविरोध हल होते या मन्द पड़ते दिखाई पड़ते हैं, अब यह एक दीगर बात है कि तब तक कुछ नये अन्तरविरोध उठ खड़े होते हैं।

इस परिघटना को समझना होगा कि जाति और धर्म के बारे में, पश्चिमी शिक्षा-संस्कृति के प्रभाव के नाते **नौराजी, आर.सी.दत्त, रानाडे, गोखले** आदि की

जो धारा इस सदी के प्रारम्भ में अधिक वैज्ञानिक विचार रखती थी तथा जिसने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आर्थिक शोषण की पहली बार सुसंगत व्याख्या करके आर्थिक राष्ट्रवाद का आधार तैयार किया, उसका स्वर ब्रिटिश प्रभुओं से रियायतों के लिए याचना का था। वह ब्रिटिश साम्राज्य के मातहत ही प्रजा का अधिकार चाहती थी, जबकि **बाल-लाल-पाल** की जो गरमदली धारा **'होम रूल'** और **स्वराज्य** की बात करते हुए इससे आगे का द्वार खोल रही थी और परोक्ष रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन को भी प्रोत्साहन-समर्थन दे रही थी, जाति और धर्म के प्रति उसके विचारों में अतीतोन्मुखता थी। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन का उग्र और ओजस्वी स्वर इसी धारा का था और हिन्दू-मुसलमान, सवर्ण-अस्पृश्य-हर तरह की व्यापक आम आबादी पर इसी धारा का प्रभाव अधिक था, जबकि गोखले की धारा का प्रभाव शहरी मध्यवर्ग और कुलीन शिक्षित आबादी तक सीमित था। बम्बई के मज़दूरों ने तिलक की गिरफ़्तारी पर 1907 में देश की पहली राजनीतिक हड़ताल की थी। **मौलाना हसरत मोहानी** अपने को राजनीति में तिलक का अनुयायी कहा करते थे।

संक्षेप में, निराला की सांस्कृतिक धारणाओं के अन्तरविरोधों और शुद्ध आर्य संस्कृति एवं "देव-द्विज-देश" की पुनर्स्थापना की उनकी अनैतिहासिक सोच को समझने के लिए भारत में राष्ट्रीय जनवाद के विचार और व्यवहार के विकास की वस्तुगत स्थितियों को और उनके अन्तरविरोधों को समझना होगा। **निराला** को साम्प्रदायिक कवि कहना उसी तरह है जैसे **तिलक** और भाई **परमानन्द** में कोई फर्क न करना।

निराला के अन्तरविरोध उस दौर के भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तरविरोध थे और व्यापक अर्थों में उस देश-काल के अन्तरविरोध थे। यह भी देखना ज़रूरी है कि निराला के पूर्ववर्ती दौर की, यानी लगभग 1935 तक की जिन रचनाओं में ये अन्तरविरोध मौजूद हैं, उनमें भी मुख्य पहलू क्या है? 'शिवाजी का पत्र' नामक जिस प्रसिद्ध-प्रदीर्घ कविता में निराला बार-बार सनातन धर्म और शुद्ध भारतीयता की चर्चा करते हैं तथा धर्म, सभ्यता और संस्कृति में घालमेल करते हुए दिखाई देते हैं, उसी कविता में निहित ओजस्वी-आत्मविश्वासपूर्ण उद्‌बोधन का स्वर आम पाठक को एक उद्वेलित मनःस्थिति में पहुँचा देता है और प्रकारान्तर से अपने समय की राष्ट्रीय दुरवस्था के बारे में सोचने तथा उसे बदलने की दिशा में क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करता है।

दूसरी बात यह कि अपने रचना-काल के इस प्रारम्भिक दौर में भी निराला के उग्र-ओजस्वी राष्ट्रीय उद्‌बोधन के स्वर के साथ अतीतमोह के भावोन्मेष का स्वर ही प्रधान नहीं था। जैसे, 1924 में लिखी **'बादल-राग'** श्रृंखला की छः कविताओं में राष्ट्रीय उद्‌बोधन जनक्रान्ति के आवाहन के रूप में दीखता है।

द्विज संस्कृति के उत्थान की पक्षधरता के स्वर निराला की कविताओं में

शुरुआती दौर में बीच-बीच में आते हैं, पर तीस के दशक तक आते-आते वे मन्द पड़ जाते हैं और 1936 के बाद एक दूसरी ही स्थिति दिखाई देती है। **दूधनाथ सिंह** ने उचित ही लिखा है कि "...भारतीय समाज के वृहत्तर और गहरे अध्ययन के पश्चात उन्होंने अपनी इस वैचारिक भूल का बड़ी ही तेजी से परिमार्जन किया है। सहसा उनके विचारों की पूरी धुरी ही उल्टी घूमती दिखाई देती है। वे अपनी पूरी मेधा और शक्ति से सवर्ण-विरोधी रुख अपनाते हुए लगते हैं। यहाँ तक कि 'तुलसीदास' जैसी कविता में भी तुलसीदास की प्रमुख चिन्ता में शूद्रों के पतन और शोषण का वे बड़ा ही हृदय-विदारक चित्र खींचते हैं... (**'आत्महन्ता आस्था',** पृ.144) यहाँ यह जोड़ दें कि निराला की कविताओं में ज्यों-ज्यों आम जन की दुरवस्था और शोषण की चिन्ता के स्वर मुखर होते जाते हैं, त्यों-त्यों "देव-द्विज-संस्कृति" की स्थापना का स्वर मन्द पड़ता हुआ समाप्त हो जाता है। 1937-38 के बाद की रचनाओं में वे सामाजिक जीवन के यथार्थ की ज़मीन पर खड़े होकर परिवर्तन की बात करते और भविष्य का चित्र खींचते दिखाई देते हैं। इस दौर में वे विदेशी शासन के साथ ही राष्ट्रीय नेतृत्व की कुलीनता और जन से विमुखता पर भी तीखे कटाक्ष करते हैं और दारिद्रय के करुण चित्र उपस्थित करने से आगे बढ़कर सामाजिक वर्ग-वैषम्य के यथार्थ को एक सर्वथा नई काव्य भाषा और बिम्बावली में पहली बार प्रस्तुत करते हैं।

धर्म-निरपेक्षता के सन्दर्भ में **नीलाभ** ने **'आजकल'** में प्रकाशित अपने लेख में **निराला** की तुलना में **इक़बाल** और **प्रेमचन्द** को खड़ा किया है। यहाँ यह सोचने का प्रश्न है कि आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के प्रति अधिक यथार्थवादी रवैया और प्रकृति की विकासवादी प्रक्रिया की अधिक सुसंगत अवधारणा रखने वाले इक़बाल अपने किन अन्तरविरोधों के चलते आगे चलकर द्विराष्ट्र सिद्धान्त के पैरोकार बन गये? इक़बाल के सेक्यूलर राष्ट्रवाद के भी कुछ अन्तरविरोध है उनमें अतीतपूजा भी है और अन्धराष्ट्रवाद भी। उनका हिन्दोस्ताँ "सारे जहाँ से अच्छा" है! वे कहते हैं :

> "यूनानों-मिस्र-रोम सब मिट गये जहाँ से
> कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।"

इन पंक्तियों की अनैतिहासिकता पर भी गौर किया जाना चाहिए।

जहाँ तक प्रेमचन्द का प्रश्न है, निश्चित ही उनकी राष्ट्रवादी चेतना में धर्मनिरपेक्षता के तत्व अधिक स्पष्ट हैं। पर उनके भी शुरू के लेखों-टिप्पणियों में इतिहास के प्रति एक उदार हिन्दू का दृष्टिकोण (गाँधी की ही तरह) दिखाई देता है। लेकिन उनकी चेतना का इस परिप्रेक्ष्य में तेजी से परिष्कार हुआ। निराला के बारे में भी यह बात लागू होती है कि उन्होंने धर्म और संस्कृति के बारे में अपनी वैचारिक भूल का परिमार्जन किया तथा 'बेला' और 'नये पत्ते' के दौर तक आते-आते वे अतीत-मोह और "देव-द्विज-देश" की पुनर्स्थापना के मोहजाल से बाहर आ चुके थे।

दूसरी बात यह कि एक दूसरे धरातल पर वे कुछ ऐसे अन्तरविरोधों से शुरू से ही मुक्त थे जिनसे पीछा छुड़ाने में प्रेमचन्द को काफ़ी समय लगा। गाँधी जी के सुधारवाद और हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रति निराला का आलोचनात्मक रुख प्रेमचन्द के पहले विकसित हो चुका था। वे गाँधीवाद से प्रभावित प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के आलोचक थे। उनका विचार था कि काल्पनिक आदर्श की परिणति तक कथा को खींचकर पहुँचाना और अन्त में कल्पना के चित्र खड़े करना यथार्थ को खण्डित करता है। इसी के समानान्तर निराला ने अपने कथा-साहित्य में सामाजिक यथार्थ के कुछ ऐसे बीहड़ पहलू भी उपस्थित किये, जिनसे साक्षात्कार उस जमाने में काफ़ी साहस की माँग करता था।

यहाँ इस चर्चा के पीछे हमारा मन्तव्य किसी तरह की तुलना करना नहीं, बल्कि इस तरह के तुलनात्मक अध्ययन की पहुँच-पद्धति पर ही सवाल उठाना है।

इक़बाल, प्रेमचन्द और निराला - सबके अपने अन्तरविरोध थे। अलग-अलग सन्दर्भ में इनमें से किसी एक को श्रेष्ठतर सिद्ध किया जा सकता है। पर यह वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। साहित्य के प्रतिबिम्बन सिद्धान्त के अनुसार यही कहा जा सकता है कि इनके अन्तरविरोधों में उस युग के अन्तरविरोध ही, अलग-अलग रूप में, अलग-अलग धरातलों पर प्रतिबिम्बित हो रहे थे और कुल मिलाकर, इनकी पक्षधरता सही पक्ष के प्रति थी, जन के प्रति थी, इतिहास की विकासमान धारा के प्रति थी। दूसरी बात यह भी है कि इनकी दृष्टि अपने पूरे रचनाकाल में जड़ या पीछे की ओर जाने वाली नहीं थी, बल्कि सतत विकासमान थी। विकास की इस अग्रोन्मुखी दिशा पर ध्यान दिये बिना इनके अवदानों का सही-सन्तुलित मूल्याँकन नहीं किया जा सकता।

हमें सोचना होगा कि प्रतिक्रियावादी दर्शन के पक्षधर धर्मनिष्ठ, घोर आध्यात्मवादी तोल्स्तोय को लेनिन ने क्यों 'रूसी क्रान्ति का दर्पण' कहा था? तोल्स्तोय की जनपक्षधरता और ऐतिहासिक महत्ता के स्रोत और कारक तत्व क्या थे? निराला के अन्तरविरोधों को भी इसी नज़रिये से देखा जाना चाहिए और प्रेमचन्द-इक़बाल के अन्तरविरोधों को भी। इकहरे ढंग की तुलना हमें खतरनाक इकहरे निष्कर्षों तक पहुँचायेगी।

निराला की काव्यात्मक सर्जनात्मकता की संरचना इकहरी नहीं है। एक ही समय वह कई धरातलों पर सक्रिय दिखाई देती है। **'परिमल', 'गीतिका'** और **'अनामिका'** के दौर तक (यानी लगभग 1936 तक) उनकी रचनाएँ स्वच्छंदतावादी चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस दौर में वे वेदान्त के दर्शन से प्रभावित थे। उनके अन्तरविरोध और उनके अतीतोन्मुख 'यूटोपिया' से युक्त विचार इसी ज़मीन से पैदा होते हैं और यहीं से उनका राष्ट्रीय उद्‌बोधन का उग्र प्रचण्ड स्वर भी जन्म लेता है। इस पर **विवेकानन्द** का भी प्रभाव है और तिलक का भी। पर इस दौर में

भी उनका कृतित्व वेदान्त का भाष्य मात्र नहीं है। वे वेदान्त-दर्शन की व्याख्या का विस्तार करते हुए इसकी सीमाओं का बार-बार अतिक्रमण करते हैं। कालान्तर में, राष्ट्रीय उद्‌बोधन और आम जन की दुरवस्था के प्रति उनके सरोकार आगे विकसित होकर वेदान्ती रैडिकल सुधारवादी सीमान्तों का अतिक्रमण करते हैं और एक नया रैडिकल बुर्जुआ जनवादी आधार अपना लेते हैं। इसी के अनुरूप मध्यकालीन इतिहास में हिन्दू जनता की दुरवस्था से औपनिवेशिक समाज के सादृश्य निरूपण की प्रवृत्ति का लोप होता दिखाई देता है और जाति-व्यवस्था के बारे में भी उनकी अवस्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। **'कुकुरमुत्ता', 'बेला', 'अणिमा'** और **'नये पत्ते'** की कविताएँ अपने मूल स्वर में नयी यथार्थवादी चेतना की रचनाएँ हैं। यद्यपि यहाँ पहुँचकर भी वेदान्त से उनका निर्णायक विच्छेद नहीं हुआ है, दार्शनिक स्तर पर वे अराजकतावाद से भी मुक्त नहीं हुए हैं और वैज्ञानिक समाजवाद को फिर भी उन्होंने अपनाया नहीं है, लेकिन उनका निम्न पूँजीवादी रैडिकल जनवाद अधिक क्रान्तिकारी और सुसंगत होकर भारतीय जन की मुक्ति के एक कार्यभार के रूप में द्विजत्व और सवर्ण संस्कृति पर भी चोट करता हुआ दिखाई देता है।

राष्ट्रीय उद्‌बोधन के उग्र लेकिन अतीतोन्मुखी स्वर से आगे बढ़कर निराला 1936 के बाद राष्ट्रीय जनवादी मुक्ति-युद्ध में व्यापक किसान-आबादी की भूमिका की पहचान तक की यात्रा करते हैं। यह तिलक के उग्र राष्ट्रवाद से **स्वामी सहजानन्द** की किसान सभा की राजनीति तक की यात्रा है। इसमें युगान्तर-अनुशीलन और स्वदेशी आन्दोलन के दौर से **भगतसिंह** के दौर और किसान आन्दोलनों तथा व्यापक जन उभारों के 1946 तक के दौर की यात्रा के प्रभावों-पड़ावों को भी लक्षित किया जा सकता है। निराला जब गुलामी से मुक्ति के लिए ललकार रहे थे, उस दौर में उनकी सोच भी वर्ग-समन्वयवादी थी। उत्तरवर्ती दौर में वे 'कांग्रेस मैन' द्वारा गाँधीवादी 'वर्ग समन्वयवाद की बघार' के समान्तर विपरीत सामाजिक यथार्थ को खड़ा करते हैं जिसे झींगुर डटकर बयान करता है। गहन वैचारिक आलोड़न के बाद जब निराला को इस नये सत्य का बोध होता है तो उनका उद्‌बोधक स्वर मन्द पड़ जाता है तथा तिक्तता, क्षोभ और व्यंग्य उसका स्थान ले लेते हैं। दलितों और व्यापक मेहनतकश अवाम की पहचान वे 'अँधेरे का ताला खोलने वाली शक्ति, के रूप में करते हैं और उनकी मुक्ति में ही राष्ट्रीय मुक्ति की सार्थकता देखने लगते हैं। वर्ग समन्वय को वे 'गाँधी का जहर' कहते हैं और वर्ग समन्वय या हरिजन उत्थान की जगह 'हज़ारों हाथों के उठते हुए समर' की बात करते हैं। अतीत के किसी 'स्वर्ण युग' की पुनर्स्थापना के बजाय वे धर्म, सभ्यता और संस्कृति के नाम पर दलितों और शोषितों को ठगने की मुखर आलोचना करते हैं। वे नेहरू के स्वर में 'बुर्जुआजी के सँवार' का मजाक उड़ाते हैं और सन्देह करते हैं कि कांग्रेसी नेतृत्व में निर्मित स्वराज्य, 'राजे' का नया चोला चढ़ा समाज होगा। यहाँ वे यह आशा भी प्रकट करते हैं कि जब :

'मसुरिया' और 'बलई' जैसे चरित्र उठ खड़े होंगे तो जनता को किला बनाने वाले बड़े-बड़े छली भाग खड़े होंगे।

बावजूद इसके दलित चिन्तक **कँवल भारती** निराला के पूववर्ती दौर की रचनाओं और कुछ लेखों के आधार पर और कुछ कविताओं की भोंड़ी भौतिकवादी या 'पॉजिटिविस्ट' किस्म की व्याख्या के आधार पर हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। उनकी स्थापनाओं का विस्तृत उत्तर मैंने एक और लेख में दिया है जो **'आजकल'** के जुलाई '97 अंक में प्रकाशित हो चुका है। अतः इस सन्दर्भ में यहाँ इतना ही कहना काफ़ी होगा।

यहाँ मैं विष्णु खरे और नीलाभ जैसे सुलझे हुए समानधर्माओं की उस इतिहास-दृष्टि पर प्रश्न उठाना चाहती हूँ जो परम्परा-पूजन का विरोध करते हुए सर्वनिषेधवाद के दूसरे छोर पर जा खड़े होते हैं और इतिहास के पुनर्मूल्याँकन की एक यांत्रिक, इकहरी और खतरनाक पद्धति और पहुँच को स्थापित करने की कोशिश करते हैं।

यह सही है कि निराला की दूसरे दौर की कविताओं में हिन्दू-मुस्लिम समस्या या मिश्रित संस्कृति कहीं विषय वस्तु के रूप में नहीं आती। पर यह मुख्य बात नहीं है। मुख्य बात यह है कि वे इस दौर में 'देव-द्विज-देश' की संस्कृति की स्थापना की चिन्ता को छोड़ चुके हैं और किसान-क्रान्ति पर आधारित जन-मुक्ति चेतना से लैस हो चुके हैं। उनकी प्रेरणा के स्रोत बदल चुके हैं और अतीतोन्मुखी स्वच्छन्दतावादी विद्रोह की चेतना का स्थान नई यथार्थवादी चेतना ले चुकी है जो आम जनों की जिस मुक्ति की बात करती है, वह दलितों की भी मुक्ति है और समाज के साम्प्रदायिक विभाजन के प्रश्न का भी समाधान प्रस्तुत करती है।

निस्सन्देह, जैसा कि नीलाभ का मानना है, कुछ अन्तर्धाराएँ निराला की कविता में शुरू से अन्त तक विद्यमान हैं, पर ये अन्तर्धाराएँ कम से कम हिन्दू भारत के प्राचीन गौरव की पुनर्स्थापना या द्विजत्व की शुचिता की चिन्ता की कतई नहीं हैं। इन वैचारिक विभ्रमों-विचलनों का निराला चौथे दशक के मध्य तक परिमार्जन कर चुके थे। 1950 से बाद की उनकी कविताओं में जो आत्मोन्मुख पीड़ा, अकेलेपन, भक्ति और शरणागति का भाव दीखता है उसे न तो निराला की पूर्व-अवस्थितियों की ओर वापसी के रूप में देखा जा सकता है और न ही यह नतीजा निकाला जा सकता है कि निराला का समग्र काव्य अलग-अलग दौरों में विभाजित न होकर अनेक बिन्दुओं से निर्मित एक चक्र के समान है (जैसा कि नीलाभ का मानना है)।

एक दौर की चेतना पर पूर्ववर्ती दौर की चेतना की छाया और विक्षेप के बावजूद निराला की काव्य-चेतना के विकास के स्पष्टतः अलग-अलग दौर हैं और यह विकास ऊर्ध्वमुखी है। इस विकास का शीर्ष बिन्दु 1945-46 के आसपास प्रतीत होता है जब नाविक विद्रोह, तेलंगाना-तेभागा..-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्षों, मज़दूर आन्दोलन

और छात्र-आन्दोलनों का तूफ़ान पूरे देश को आलोड़ित किये हुए था।

1946 के जन विद्रोह की विविध धाराओं को जनक्रान्ति में रूपान्तरित होते देखने के बजाय निराला 1947 में एक अधूरी, खण्डित, सीमाबद्ध विकलांग आज़ादी के साक्षी बने, जिसके बाद सत्ता जिस देशी नेतृत्व के हाथों में आई, वह निराला की दृष्टि में जनता के प्रति प्रतिबद्ध नहीं थी। यह एक देशी कुलीन वर्ग था, जिसके स्वर में "बुर्जआजी का सँवार" निराला ने बरसों पहले ही लक्षित किया था।

यह अनायास नहीं था कि क्रान्ति-प्रयासों की विफलता, लक्ष्यों,-आदर्शों के स्खलन के इस कठिन और त्रासद संक्रमण काल में यानी 1946 के बाद से लेकर 1950 के प्रारम्भ तक, निराला की लेखनी मौन साधे रही। 1947 की आज़ादी की मुखर रचनात्मक आलोचना करने वाले **फ़ैज, खलीलुर्रहमान आज़मी, मख़दूम मोहिउद्दीन** और **अली सरदार जाफ़री** जैसे शायर बाद के दौर में इसी व्यवस्था की चौहद्दी को अपने खेल का मैदान मानकर जीने लगे और दन्त-नखहीन पालतू प्रगतिशीलता के प्रतिनिधि बने रहे। उनकी स्थिति को भला किन मानदण्डों से निराला से बेहतर कहा जा सकता है? निराला ने प्रखर राष्ट्रीय जनवादी चेतना के बावजूद वैज्ञानिक समाजवादी इतिहास की दृष्टि को नहीं अपनाया था। ऐसी स्थिति में यदि, (दूधनाथ सिंह के शब्दों में) "इसी ऐतिहासिक और राजनीतिक मोहभंग के कारण निराला इस लोकभूमि से उठकर फिर अपने अन्दर के दरवाजे की ओर जाते दिखाई देते हैं", तो यह एक तरह से स्वाभाविक ही है।

निराला के अन्तिम दौर की यानी 1950 से 1961 की कविताओं में मोहभंग, निराशा और शरणागति का जो भाव है, वह उनके व्यक्तिगत जीवन की त्रासदियों से उतना नहीं जुड़ा है जितना देश की अधूरी आज़ादी, विभाजन किसान संघर्षों की पराजय और राष्ट्रीय नेतृत्व के जनविरोधी चरित्र के उजागर होते जाने की प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ है।

निराला की जो धर्म भावना अन्तस्तल में, वैचारिक धरातल में लगातार मौजूद थी वह 1950 के बाद फिर उभरकर सतह पर आती है, लेकिन वह आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करने की जगह ज़्यादा से ज़्यादा बेचैन करती है। साथ ही, इस दौर में भी पूववर्ती दौर की अनुगूँजें सुनाई देती हैं और जब भी जन साधारण की याद आती है, निराला उसकी दुरवस्था का हृदय-विदारक चित्र उपस्थित करते हैं, हालाँकि उसे उठ खड़े होने के लिए वे ललकारते नहीं। साथ ही, वे इस अन्तिम दौर में भी, धर्म और वेदान्त-दर्शन की सीमाओं का बीच-बीच में अतिक्रमण करते हैं, जैसे यह कहकर कि, "नई शक्ति, अनुरक्ति जगा दो/ विकृत भाव से भक्ति भगा दो/ उत्पादन के मार्ग लगा दो साहित्यिक-वैज्ञानिक के बल।"

निराला की कविता इस दौर की अपनी वापसी में भी युगीन अन्तरविरोधों को, इतिहास के गतिरोध और तज्जनित निराशा को ही मुखरित करती है। यह काव्य-यात्रा

की ढलान है, पर यह ढलान ही पूरी यात्रा नहीं है और मात्र इसी आधार पर निराला के पूरे काव्य जगत का मूल्याँकन नहीं किया जा सकता।

नीलाभ का कहना है कि आज के कार्यभारों को पूरा करने में निराला से हमें बहुत अधिक मदद नहीं मिलती और यह कि उनकी विराट उपलब्धियों की तरह उनकी विफलताएँ भी विराट हैं। इसके विपरीत मेरा यह मानना है कि निराला की विराट उपलब्धियों के सामने उनकी विफलताएँ नितान्त बौनी हैं। उनके अन्तरविरोधों में उनके युग के अन्तरविरोध यथार्थ रूप में (न कि विकृत रूप में) प्रतिबिम्बित होते हैं। उनकी विफलताएँ और सीमाएँ उनकी व्यक्तिगत विफलताएँ सीमाएँ न होकर उस दौर के सांस्कृतिक-बौद्धिक जागरण एवं प्रबोधन की विफलताएँ-सीमाएँ हैं। निराला की राष्ट्रीय-जनवादी चेतना, यानी साम्राज्यवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी चेतना में परिवर्तन और परम्परा का जो द्वन्द्व है उसमें (अन्तिम चरण की निराशा और शरणागति के धार्मिक भाव के बावजूद कुल मिलाकर) परिवर्तन का पक्ष ही प्रमुख है।

साम्राज्यवाद के नये सिरे से बढ़ते दबाव और पुनरुत्थानवाद-कट्टरपंथ के नये उभार के इस दौर में निराला का काव्य हमारे लिए एक ज़रूरी प्रेरणा-स्रोत है। इतिहास के पात्र और विचार कभी हू-ब-हू वर्तमान के कार्यभारों को निपटाने में मदद करने नहीं आते। वे प्रेरणा देते हैं। उनकी ओर देखना जड़ों की ओर देखना है और आगे बढ़ने का सूत्र पकड़ना है। परम्परा को आलोचनात्मक विवेक से निरख-परखकर अपनाया जाता है। हू-ब-हू नहीं। पर उन्हें ग़ैर-द्वन्द्वात्मक ढंग से खारिज करना वैचारिक इतिहास की सम्पदा को ठुकराना होगा। इस नज़रिये से देखा जाये, तभी निराला से हमें आज के कार्यभारों को पूरा करने में मदद मिलेगी। परम्परा का एकांगी मूल्याँकन विस्मृति के विरुद्ध हमारे संघर्ष को कमज़ोर करता है और इससे भविष्य के स्वप्नों के लिए हमारा संघर्ष भी क्षतिग्रस्त हो जाता है।

(भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 16-19 सितम्बर, 1997 के दौरान फ़िराक़ और निराला पर केन्द्रित संगोष्ठी में प्रस्तुत)

रामविलास शर्मा का मार्क्सवाद : एक आलोचना

रामविलास शर्मा के चिन्तन और लेखन का भूदृश्य काफ़ी वैविध्यपूर्ण और विस्तृत रहा है। सौन्दर्यशास्त्र, साहित्येतिहास और आलोचना के कतिपय आधारभूत प्रश्नों से जूझते हुए उन्होंने भाषाशास्त्र, प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर के बारे में भी कई मौलिक प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। यही नहीं, एक मार्क्सवादी समालोचक से एक मार्क्सवादी चिन्तक के रूप में संक्रमण करते हुए उन्होंने पूँजीवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजवाद की प्रकृति एवं समस्याओं के बारे में काफ़ी कुछ लिखा और कहा है।

रामविलासजी के विपुल कृतित्व के साँगोपाँग मूल्याँकन का काम अभी भी नहीं हुआ है और यह एक ज़रूरी काम है। मुश्किल यह है कि हिन्दी के साहित्यिक जगत में, या तो महज उनके लेखन की विपुलता (और मुख्यतः 'इतिहास-गौरव' और 'हिन्दी जाति-गौरव' के स्वर से प्रभावित होकर) से भावविह्वल और श्रद्धाविगलित होकर उन्हें 'महान तत्त्ववेत्ता' और 'ऋषितुल्य चिन्तक' घोषित करने का काम होता रहा है, या फिर, एक 'समरी ट्रायल' में सतही ढंग से उनकी महज कुछ प्रस्थापनाओं पर सवाल उठाये जाते रहे हैं।

इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में रामविलासजी की कई एक प्रस्थपानाएँ काफ़ी विवादास्पद रही हैं। पर प्रस्थापनाओं से सहमति-असहमति की अपेक्षा पद्धति का सवाल अधिक बुनियादी सवाल है। रामविलास शर्मा की, विश्लेषण एवं मूल्याँकन-समाहार की पद्धति की आलोचना की ही दृष्टि से हमने समाजवाद-विषयक उनके विचारों को अपने लेख का विषय बनाया है।

अर्थिक विश्लेषण का परिक्षेत्र समाजविज्ञान का एकमात्र ऐसा प्रदेश है, जहाँ लगभग प्रकृति-विज्ञान की सटीकता और ठोसपन के साथ पद्धति-पड़ताल की जा सकती है। और राजनीति के बारे में, जैसा कि हम सभी जानते हैं, वह 'आर्थिक सम्बन्धों की सर्वाधिक सान्द्र अभिव्यक्ति' होती है। अतः आर्थिक-राजनीतिक दायरे के भीतर व्यक्ति-विशेष के 'अप्रोच' और पद्धति की पहचान ज़्यादा सटीक ढंग से की जा सकती है। सही निष्कर्ष तक पहुँचने का यह एक संक्षिप्त मार्ग हो सकता है (हालाँकि इसे पर्याप्त कत्तई नहीं माना जा सकता)। कोई भी व्यक्ति

समस्याओं-परिघटनाओं के विश्लेषण की प्रायः एक ही पद्धति हर क्षेत्र में अपनाता है। उसकी पद्धति की जो भी विच्युतियाँ या विचलन होंगे, वे एक या दूसरे रूप में सभी जगह पाये जायेंगे। रामविलास शर्मा ने समाजवाद और सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में जो स्थापनाएँ रखी हैं और समाजवादी संक्रमण की अवधि के विश्लेषण के लिए जो पद्धति अपनाई है, उसकी द्वन्द्वात्मकता को ही मैं प्रश्नों के घेरे में खड़ा करना चाहती हूँ। यदि इस एक बुनियादी प्रश्न पर रामविलास शर्मा मार्क्सवादी पद्धति-विज्ञान से विचलन या विपथगमन की प्रवृत्ति के शिकार हैं तो अन्यत्र भी उनमें ऐसे रुझान मौजूद होने की शंका कम-से-कम निगमनात्मक पद्धति ('डिडक्टिव मेथड') से तो उठाई जा सकती है, हालाँकि, अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए हर विषय पर अलग-अलग उनके लेखन का विश्लेषण करना होगा, यानी आगमानात्मक (इंडक्टिव') पद्धति अपनानी होगी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति-विज्ञान हमें यही बताता है। सबसे पहले हम सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में उनके चिन्तन को लें।

सर्वहारा अधिनायकत्व

सबसे पहले 1965 के आसपास एक लेख लिखकर रामविलास शर्मा ने सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा को ही गलत बताया। उनका कहना था कि इसकी जगह हमें समाजवादी जनतंत्र कहना चाहिये - बुर्जुआ डेमोक्रेसी के बरक्स सोशलिस्ट डेमोक्रेसी। उन्होंने लिखा था कि डिक्टेटरशिप और जनतंत्र दोनों एकदम अलग-अलग चीज़ें हैं।

रामविलासजी के ये विचार अन्त तक नहीं बदले, बल्कि आगे चलकर उन्होंने इसे और आगे ही बढ़ाया। लगभग पच्चीस वर्षों बाद अक्टूबर, 1992 में जनसत्ता अखबार के प्रतिनिधि से बातचीत में 1965 के अपने लेख का हवाला देते हुए उन्होंने कहा था: "सर्वहारा की डिक्टेटरशिप का नतीज़ा यह होता है कि शक्ति सर्वहारा वर्ग के हाथ में न रहकर उस पार्टी के हाथ में आ जाती है जो अपने को सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि कहती है। और फिर पार्टी में वह केन्द्रित हो जाती है सेण्ट्रल कमेटी में।" आगे वे कहते हैं : "हम उसे पूँजीवाद के दुर्गुण नहीं कहेंगे बल्कि एकाधिकार सत्ता कहेंगे। एक रूसी मित्र ने पूछा कि 'डिक्टेटरशिप' ओर जनतंत्र में क्या फ़र्क है। हमने कहा कि फ़र्क यह है कि जनतंत्र में वर्ग पार्टी के ऊपर है। पूँजीवादी जनतंत्र में पूरा पूँजीपति वर्ग अपनी पार्टियों को नियंत्रित करता है। फासिज़्म में एक पार्टी पूरे वर्ग पर हावी हो जाती है। इसी तरह तुम्हारी 'डिक्टेटरशिप' में एक पार्टी पूरे मज़दूर वर्ग पर हावी हो जाती है और यह तुम्हारी व्यवस्था की बहुत बड़ी खामी है।" ("सही शब्द है समाजवादी जनतंत्र", मेरे साक्षात्कार, रामविलास शर्मा, दिल्ली, 1994, पृ. 309)

इसी साक्षात्कार में आगे चलकर वे विदेशी पूँजी की पैठ के अतिरिक्त सत्ता के

'अतिकेन्द्रीकरण' और समाजवाद की प्रकृति लोकतांत्रिक न होने को पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का कारण बताते हैं।

रामविलास शर्मा द्वारा सर्वहारा अधिनायकत्व को खारिज करने की ही यह तार्किक परिणति थी कि सत्तर के दशक में स्पेन, इटली, फ्रांस और पुर्तगाल जैसे पश्चिमी यूरोपीय देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने जब **बर्नस्टीन** और **काउत्स्की** के पुरातन तर्कों को ही नया जोड़ा-जामा पहनाकर और 'सर्वहारा अधिनायकत्व' की अवधारणा को ही सर्वसत्तावादी बताकर नकारते हुए 'यूरो कम्युनिज़्म' का नारा दिया तो रामविलास शर्मा ने उसका पुरज़ोर समर्थन किया। रामविलास शर्मा इस 'श्रेय' के अधिकारी अवश्य थे कि 'यूरो कम्युनिज़्म' का बुनियादी तर्क वे लगभग एक दशक पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे।

'डिक्टेटरशिप' और जनतंत्र के बारे में अपने इन्हीं तर्कों को रामविलास शर्मा ने मई, 1994 में सुधीर रंजन को दिए गए एक साक्षात्कार में दुहाराते हुए लेनिन को भी घसीट लिया हैः "..लेनिन ने ही आगे चलकर यह अनुरोध किया कि डिक्टेटरशिप को जनतंत्र से अलग करना चाहिये। जब मुसोलिनी का अभ्युदय हुआ तो उन्होंने कहा कि यह डिक्टेटरशिप है। इसका विरोध करना चाहिये। अगर तुम हर पूँजीवादी जनतंत्र को डिक्टेटरशिप मानते हो तो फिर फासिज़्म की व्याख्या तुम कैसे करोगे? मेरा कहना यह है कि डिक्टेटरशिप और जनतंत्र में फर्क यह होता है कि चाहे समाजवादी व्यवस्था हो या पूँजीवादी व्यवस्था हो, जब पार्टी वर्ग के अधीन होती है तो वह जनतंत्र होता है - चाहे वह पूँजीवादी जनतंत्र हो या समाजवादी जनतंत्र; जब पार्टी वर्ग के ऊपर हो जाती है - पूँजीवादी पार्टी पूँजीपति वर्ग के ऊपर और मज़दूर वर्ग की पार्टी मज़दूर वर्ग के ऊपर - जब पार्टी वर्ग के ऊपर शासन करने लगती है तो वह डिक्टेटरशिप है। इसलिए स्तालिन ने त्रात्स्की से लड़ते हुए 1927 में यह बात कही थी कि पार्टी समितियों को सत्ता का संस्थान नहीं बनना चाहिये।" ('जाति, नवजागरण और मार्क्सवाद', रामविलास शर्मा से सुधीर रंजन सिंह की बातचीत, पहल, अंक 50-51, अक्टूबर-नवम्बर 1994, पृ. 6)

1993 में संजीव क्षितिज से अपनी एक बातचीत के दौरान भी रामविलास शर्मा ने समाजवाद के सर्वहारा अधिनायकत्व वाले रूप को खारिज करते हुए 'लोकतांत्रिक समाजवाद' की हिमायत की थी। (प्रभात खबर, राँची, दीपावली अंक, 1993)

पार्टी और वर्ग के अन्तरसम्बन्धों की उनकी उपर्युक्त समझदारी हर्षदेव को दिए गये इस साक्षात्कार में भी दीखती है : "कम्युनिस्ट पार्टियाँ जाएँ भाड़ में, रूस के और चीन के मज़दूर, एक हो। क्या पोलैण्ड में जो मज़दूरों की हड़ताल हुई, वह कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने कराई? इस बात पर ध्यान दीजिये कि पोलैण्ड के मज़दूरों ने हड़ताल की और कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने यह कबूल करवा लिया कि वे गलती कर रहे थे। कम्युनिस्ट पार्टी को कोई ठीक कर सकता है तो मज़दूर ही ठीक कर सकते हैं।" ('जो संगठन जानते ही नहीं, वे शासन कैसे कर सकते हैं,' मेरे साक्षात्कार,

रामविलास शर्मा, पृ. 136)

शायद अब हम इस बात की जाँच-पड़ताल शुरू कर सकते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी जनतंत्र के बारे में रामविलास शर्मा की समझ कितनी मार्क्सवादी है, वह कितनी तथ्यसंगत है और कितनी तर्कसम्मत है!

यदि सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान के पूरे इतिहास को देखा जाये तो शायद सर्वाधिक भ्रान्तियाँ, विभ्रम और विवाद सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा को लेकर ही पैदा होते रहे हैं और बुर्जुआ कलमघसीटों से लेकर भाँति-भाँति के सामाजिक जनवादियों और संशोधनवादियों की ओर से हमले का निशाना भी सबसे अधिक इसी को बनाया जाता रहा है। जहाँ तक फिलीस्तीन बुद्धिजीवियों का सवाल है, सर्वहारा अधिनायकत्व का नाम सुनते ही तमाम डॉ. जिवागो और यहाँ तक कि पास्तुखोवों (फ़ेदिन की उपन्यास-त्रयी पहली उमंगें, आग्नेय वर्ष और असामान्य ग्रीष्म का एक लेखक पात्र) की आत्माएँ भी बिदक उठती हैं।

रामविलास शर्मा मार्क्सवाद के दुर्दान्त अध्येता और लेनिन और स्तालिन के उत्कट अनुयायी माने जाते रहे हैं, लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि सर्वहारा अधिनायकत्व को बहुतेरी बुनियादी बुराइयों और विचलनों की जड़ बताते हुए वे कहीं भी इस विषय पर मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन द्वारा की गयी विवेचना-मिमांसा की चर्चा नहीं करते। और माओ के विचारधारात्मक अवदानों की तो खैर भूल कर भी चर्चा नहीं करते। वे सर्वहारा अधिनायकत्व की अपनी अलग परिभाषा देते हैं और उसके दुष्परिणामों को सिद्ध करने के लिए इतिहास की मनमानी व्याख्या करते हैं। वे लासाल के मुक्त राज्य और काउत्स्की के शुद्ध जनवाद के ही तर्कों की जुगाली करते हुए कहते हैं कि जनवाद एक चीज़ है और अधिनायकत्व दूसरी चीज़ है और बुर्जुआ जनवाद को बुजुर्आ अधिनायकत्व नहीं कहा जा सकता तथा सर्वहारा अधिनायकत्व को सर्वहारा जनवाद नहीं माना जा सकता।

वर्ग-संघर्षों के समस्त ज्ञात इतिहास के निःसृत, राज्य और क्रान्ति के बारे में यह मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा है कि (1) राज्यसत्ता का सवाल क्रान्ति का सर्वोपरि प्रश्न है। (2) राज्यसत्ता के जरिये ही एक वर्ग दूसरे वर्ग पर शासन करता है। (3) शासक वर्ग के अधिनायकत्व के केन्द्रीय उपकरण - राज्यसत्ता को चकनाचूर किये बग़ैर और उस पर अपना अधिनायकत्व कायम किये बग़ैर, शासित वर्ग अपने हितों के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था का गठन कदापि नहीं कर सकता। (4) तमाम पूर्ववर्ती वर्ग-समाजों की भाँति बुर्जुआ राज्यसत्ता भी बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व होती है। (5) वर्ग-अधिनायकत्व सरकार का एक रूप या शासन की प्रणाली नहीं बल्कि राज्यसत्ता का वर्ग-चरित्र होता है। (6) बुर्जुआ जनवाद बुर्जुआ राज्य का ही एक रूप है जिसकी अन्तर्वस्तु बुर्जुआ अधिनायकत्व की होती है और सर्वहारा जनवाद (या समाजवादी जनवाद) सर्वहारा राज्य का एकमात्र रूप है जिसकी अन्तर्वस्तु सर्वहारा

अधिनायकत्व की होती है। (7) जनवाद बनाम अधिनायकत्व की चर्चा-वर्ग-निरपेक्ष और विविक्त अर्थों में हो ही नहीं सकती। (8) बुर्जुआ व्यवस्था के संकट और वित्तीय पूँजी के निर्णायक वर्चस्व के चलते बुर्जुआ संसदीय जनवाद की जगह किसी एक बुर्जुआ पार्टी, गुट या व्यक्ति की सर्वसत्तावादी, निरंकुश स्वेच्छाचारी सत्ता कायम हो सकती है, लेकिन सर्वहारा राज्य की वर्ग-प्रकृति पार्टी, गुट या व्यक्ति के अधिनायकत्व के साथ मेल ही नहीं खाती, (हाँ, पिछले समाजों के क्रान्तियों में मिल्की वर्गों के साथ संयुक्त मोर्चे और उत्पादक शक्तियों के पिछड़ेपन के चलते सर्वहारा के वर्ग-अधिनायकत्व) में बुर्जुआ विकृतियाँ और नौकरशाहना विरूपताएँ पैदा हो सकती है और पार्टी-तंत्र में भी)। (9) कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा का हरावल दस्ता, सर्वोच्च संगठित रूप और क्रान्ति की मार्गदर्शक, विचारधारा-निर्देशित शक्ति होती है और इस रूप में वह अपना वर्ग-अधिनायकत्व कायम करने में भी सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करती है। (10) यदि वर्ग-अधिनायकत्व की जगह पार्टी-अधिनायकत्व कायम है तो यह इस सच्चाई का महज एक लक्षण है कि वह समाज समाजवादी नहीं, बल्कि सामाजिक फासीवादी (सोशल फासिस्ट) है। (11) सर्वहारा अधिनायकत्व ही सर्वहारा जनवाद है, जो बहुसंख्यक जनता के लिए अधिकतम जनवाद होता है और शोषक वर्गों पर, वैधिक दृष्टि से पूर्णतः निर्बन्ध, अधिनायकत्व लागू करता है, यह विश्व-इतिहास का सर्वोन्नत जनवाद है क्योंकि इसके अन्तर्गत इतिहास में पहली बार अल्पसंख्यक शोषकों पर बहुसंख्यक शोषितों का अधिनायकत्व कायम होता है। (12) सर्वहारा राज्य में शुरू से ही अ-राज्य ('नो-स्टेट') का तत्त्व होता है और यह 'शुद्ध शाब्दिक अर्थों में राज्य नहीं' रह जाता तथा वर्गों और वर्ग-संघर्ष के विलोपन के साथ ही इसका भी विलोपन होता जाता है (हालाँकि यह सुदूर भविष्य की बात है)। (13) पेरिस कम्यून, अक्टूबर क्रान्ति के बाद से 1953-54 तक कायम सोवियतें और चीन में 1976 तक मौजूद जन-कम्यून - सर्वहारा के वर्ग-अधिनायकत्व का सर्वहारा जनवाद के तीन ऐतिहासिक प्रयोग युगान्तरकारी रहे हैं।

रामविलास शर्मा मार्क्सवाद के अवसरवादी एवं विसर्जनवादी विचलनों की चर्चा तो बहुत करते हैं, पर वे मार्क्सवाद से विपथगमन के बुनियादी मानक-मापक - सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधाराणा को, स्वयं छोड़ चुके थे। सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रश्न पर मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के विपुल लेखन की, और इस प्रश्न पर लासाल, काउत्स्की, अल-ब्राउडर, तोग्लियाती, टीटो, ख्रुश्चेव और ल्यू शाओची के विरुद्ध वैचारिक संघर्षों में प्रस्तुत तर्कों की, वे कहीं भी चर्चा नहीं करते और महज व्यासगद्दी पर बैठकर कुतर्की ढंग से फतवे देने का काम करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस प्रश्न पर उनके तर्क ही नहीं बल्कि भाषा तक एकदम कार्ल काउत्स्की की ही है, (इसके लिए लेनिन की पुस्तकों *राज्य और क्रान्ति* तथा *सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काउत्स्की* में उद्धृत काउत्स्की के तर्कों को और **लेनिन**

के प्रत्युत्तर को पढ़ना विशेष उपयोगी होगा)। यही नहीं, राज्य और क्रान्ति में लेनिन स्पष्ट लिखते हैं : *'जो लोग केवल वर्ग-संघर्ष को मानते हैं, वे अभी मार्क्सवादी नहीं हैं, वे सम्भवतः अभी बुर्जुआ चिन्तन और बुर्जुआ राजनीति के दायरे में ही चक्कर काट रहे हैं। मार्क्सवाद को वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त तक ही सीमित करने के मानी हैं मार्क्सवाद की काट-छाँट करना, उसे तोड़ना-मरोड़ना, उेस एक ऐसी चीज़ बना देना जो बुर्जुआ वर्ग को मान्य हो। मार्क्सवादी केवल वही है जो वर्ग-संघर्ष की मान्यता को सर्वहारा अधिनायकत्व की मान्यता तक ले जाता है। मार्क्सवादी और एक आम निम्न (और बड़े भी) बुर्जुआ के बीच सबसे गम्भीर अन्तर यही है। (राज्य और क्रान्ति,* **लेनिन**)

लेनिन द्वारा प्रस्तुत इस कसौटी को यदि लागू करें तो रामविलास शर्मा को मार्क्सवादी माना ही नहीं जा सकता। ज़्यादा-से-ज़्यादा एक *'सोशल डेमोक्रेट'* ही माना जा सकता है।

कार्ल मार्क्स ने सबसे पहले 1850 में ही अपनी क्लासिकी कृति **'फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष**', 1848-1850 में 'सर्वहारा के वर्ग-अधिनायकत्व' को 'सभी वर्ग-विभदों, उनके आधार रूप में कायम सभी उत्पादन-सम्बन्धों और उनसे जन्मे सभी सामाजिक सम्बन्धों के उन्मूलन का तथा उन सामाजिक सम्बन्धों से पैदा हुए सभी विचारों के क्रान्तिकारीकरण का आवश्यक संक्रमण-बिन्दु' बताकर इसकी बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं और कार्यभारों को रेखांकित कर दिया था। 1852 में **बेडेमेयर** को लिखे गये अपने एक पत्र में **मार्क्स** ने सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा को वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्त-समुच्चय का नाभिक बताते हुए लिखा था : *"मुझसे बहुत पहले, पूँजीवादी इतिहासकारों ने इस वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकास का वर्णन किया था और पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने वर्गों के आर्थिक रचना-विधान का वर्णन किया था। मैंने जो नया काम किया वह यह साबित करना था : (1) कि वर्गों का अस्तित्व केवल उत्पादन के विकास की विशेष ऐतिहासिक मंजिलों से ही सम्बन्धित है, (2) कि वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से अधिनायकत्व की ओर ले जाता है, (3) कि यह अधिनायकत्व खुद भी तमाम वर्गों के उन्मूलन की स्थिति में और एक वर्ग-विहीन समाज में संक्रमण करने का साधन मात्र है।"*

पेरिस कम्यून सर्वहारा के वर्ग-अधिनायकत्व का पहला ऐतिहासिक मॉडल था जिससे अनुभवों के निचोड़ के आधार पर **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** की 1872 की भूमिका में मार्क्स-एंगेल्स ने यह संशोधन प्रस्तुत किया कि मज़दूर वर्ग राज्य की बनी-बनाई मशीनरी को महज कब्जा करके उसका इस्तेमाल नहीं कर सकता, उसे बुर्जुआ राज्य-मशीनरी को चकनाचूर करके अपनी राज्य-मशीनरी बनानी होगी। फ्रांस में गृहयुद्ध नामक प्रसिद्ध कृति में मार्क्स ने सर्वहारा अधिनायकत्व की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए बताया कि सर्वहारा वर्ग को अपने राज्य के मुख्य संघटक अवयव

के रूप में व्यापक मज़दूर आबादी को शस्त्रसज्जित करना होगा और पुरानी सेना-पुलिस-नौकरशाही के ढाँचे को विघटित कर देना होगा। पेरिस कम्यून की पराजय के तत्काल बाद सितम्बर 1871 में पहले इण्टरनेशनल की सातवीं वर्षगाँठ पर अपने भाषण में कम्यून का समाहार करते हुए मार्क्स ने बताया कि बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व की जगह अपना क्रान्तिकारी अधिनायकत्व कायम करने के बाद बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध को तोड़ने के लिए मज़दूर राज्य के एक क्रान्तिकारी और संक्रमणकालीन रूप का निर्माण करते हैं।

अप्रैल-मई 1875 में गोथा कार्यक्रम में लासाल-पंथियों द्वारा परोसी गई 'मुक्त राज्य' की अवधारणा की व्यापक आलोचना करते हुए मार्क्स ने राज्य के वर्ग-अधिनायकत्व वाले चरित्र को और अधिक स्पष्ट किया और यह बताया कि : *"बुर्जआ और कम्युनिस्ट समाज के बीच एक के दूसरे में क्रान्तिकारी रूपान्तरण का काल होता है। इसका समवर्ती एक राजनीतिक संक्रमण काल भी है जिसमें राज्य सर्वहारा के क्रान्तिकारी अधिनायकत्व के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।" (गोथा कार्यक्रम की आलोचना, मार्क्स)*

लेनिन ने दूसरे इंटरनेशल के संशोधनवादियों के विरुद्ध गत शताब्दी के दूसरे दशक में जो संघर्ष चलाया, वह मुख्यतः सर्वहारा अधिनायकत्व के सवाल पर ही केन्द्रित था। रामविलास शर्मा के इस विषय पर प्रस्तुत सभी तर्कों-विचारों का उत्तर वस्तुतः लेनिन ने ही *राज्य और क्रान्ति* तथा *सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काउत्स्की* नामक कृतियों में दे दिया है। लेनिन ने बार-बार, अनेकशः तर्कों के साथ, अपने पूरे जीवन में कई बार स्पष्ट किया कि इतिहास के हर राज्य की अन्तर्वस्तु वर्ग-अधिनायकत्व की होती है, कि इसे व्यक्ति के अधिनायकत्व से 'कन्फ्यूज' नहीं किया जाना चाहिए, कि समाजवादी समाज में चूँकि वर्गों और वर्ग-संघर्ष का अस्तित्व बना रहता है अतः सर्वहारा का वर्गअधिनायकत्व अनिवार्य होगा। *"राज्य के सम्बन्ध में मार्क्स की शिक्षा के सार को केवल उन्हीं लोगों ने आत्मसात किया जिन्होंने समझा है कि एक वर्ग का अधिनायकत्व न केवल आम तौर से प्रत्येक वर्ग-समाज के लिए ज़रूरी है, न केवल सर्वहारा के लिए ज़रूरी है, जिसने बुर्जुआजी का तख्ता उलट दिया है, बल्कि उस पूरे ऐतिहासिक युग के लिए भी ज़रूरी है, जो पूँजीवाद और 'वर्ग विहीन समाज', कम्युनिज्म के बीच पड़ता है। बुर्जुआ राज्यों के रूप अनेक हैं, लेकिन उनका सार एक हैः वे सभी राज्य, चाहे उनके रूप जैसे भी हों, अन्तिम विश्लेषण में अनिवार्यतः बुर्जुआ अधिनायकत्व होते हैं। पूँजीवाद से कम्युनिज्म में संक्रमण निश्चित रूप से अनेक, विभिन्न और बहुतेरे राजनीतिक रूपों की सृष्टि करेगा, लेकिन उनका सार अनिवार्य रूप से एक होगाः सर्वहारा अधिनायकत्व।" (राज्य और क्रान्ति,* ***लेनिन****)*
लेनिन ने 'जनवाद बनाम अधिनायकत्व' की बात को ही मुर्खतापूर्ण सिद्ध किया और बताया कि *हर जनवाद वर्ग-अधिनायकत्व होता है और सर्वहारा जनवाद भी सर्वहारा*

अधिनायकत्व ही हो सकता है जो इतिहास का सर्वोन्नत जनवाद है। समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष और आर्थिक आधार के विलोप के साथ ही सर्वहारा जनवाद का - सर्वहारा अधिनायकत्व का - सर्वहारा राज्य का भी विलोप हो जायेगा।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद, दुनिया के पहले सर्वहारा राज्य का नेतृत्व करते हुए लेनिन ने सोवियतों के रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व के उपकरण को विकसित करने का युगान्तरकारी प्रयोग किया। सर्वहारा अधिनायकत्व के दौर की समस्याओं पर भी उन्होंने सोचा। जिन प्रश्नों पर प्रत्ययवादी सोच और आधिभौतिक पहुँच रामविलास शर्मा को सर्वहारा अधिनायकत्व को ही सारे रोगों की जड़ बताकर खारिज करने तक पहुँचा देती है, उन सभी के सभी प्रश्नों पर 1917 से 1922 के बीच लेनिन ने वैज्ञानिक यथार्थवादी ढंग से, सोवियत सत्ता के ठोस अनुभवों के आधार पर विचार किया है। लेख की सीमा को देखते हुए यहाँ हम पाठकों से केवल आग्रह करेंगे कि वे खासतौर पर लेनिन के इस दौर के इन लेखों-रिपोर्टों-वक्तव्यों को इस प्रश्न पर विचार करते समय अवश्य ही देखें : *सोवियत सत्ता के फौरी कार्यभार (मार्च-अप्रैल, 1918); अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारी समिति, किसानों-मज़दूरों की मास्को सोवियत, लाल सेना के प्रतिनिधियों और ट्रेड यूनियनों के एक संयुक्त अधिवेशन में प्रस्तुत रिपोर्ट (जून, 1918); सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में राजनीति और अर्थनीति (अक्टूबर, 1919); रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की आठवीं कांग्रेस में रिपोर्ट (मार्च, 1919); कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की पहली कांग्रेस में बुर्जुआ जनवाद और सर्वहारा अधिनायकत्व पर प्रस्थापनाएँ तथा रिपोर्ट (मार्च, 1919); 'राज्य' (जुलाई, 1919); एक महान शुरुआत (जून, 1919); सोवियतों की सातवीं अखिल रूसी कांग्रेस में भाषण (दिसम्बर, 1919); वामपन्थी कम्युनिज़्म एक बचकाना मर्ज(अप्रैल-मई, 1920); कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में रिपोर्ट (जुलाई-अगस्त, 1920)।*

रामविलास शर्मा सर्वहारा अधिनायकत्व के नतीजे के तौरी पर पार्टी का अधिनायकत्व कायम हो जाने का जो हास्यास्पद सूत्रीकरण प्रस्तुत करते हैं, इस पर काफ़ी बहसें पहले चल चुकी हैं। इस तर्क के दिवलियेपन को समझने के लिए वामपन्थ कम्युनिज्म एक बचकाना मर्ज पुस्तक के पाँचवें अध्याय का अध्ययन ही पर्याप्त होगा जहाँ लेनिन ने जर्मन 'वामपन्थी' कम्युनिस्टों की अक्ल दुरुस्त करते हुए नेता-पार्टी-वर्ग-जनसाधारण के अन्तरसम्बन्धों के बारे में व्याप्त सम्भ्रमों-मतिभ्रमों को दूर करने की कोशिश की है। इस अध्याय में **लेनिन** ने यह स्पष्ट किया है कि सवाल को वर्ग बनाम पार्टी के रूप में रखना ही निम्न-बुर्जुआ विकृति है। **लेनिन** के अनुसार, आमतौर पर और अधिकांश मामलों में वर्गों का नेतृत्व हर वर्ग-समाज में (और समाजवाद में भी) राजनीतिक पार्टियाँ ही करती हैं जिनका संचालन आम तौर पर वर्गों के *"सर्वाधिक प्रभुत्वशाली, प्रभावशाली और अनुभवी सदस्यों के कमोबेश स्थायी समूह करते हैं।" सत्ता पर सर्वहारा वर्ग के कब्जे के बाद भी लम्बे समय तक वर्ग बने रहेंगे।*

भूस्वामियों-पूँजीपतियों के निकलने के बाद भी लघु पण्य-उत्पादक लम्बे समय तक मौजूद रहेंगे जिन्हें पुनर्शिक्षित करने की प्रक्रिया बहुत दीर्घकालिक और बहुत मन्थर होगी। ये छोटे मिल्की वर्ग सर्वहारा को सभी ओर से निम्न-बुर्जुआ परिवेश में घेरे हैं, उसे उससे सराबोर करते हैं उसे भ्रष्ट करते हैं, सर्वहारा में निरन्तर निम्न बुर्जुआ ढुलमुलयकीनी, फूट, व्यक्तिवादिता, बारी-बारी से हर्षातिरेक से घोर निराशा के दौरों का आवर्तन लाते हैं।" इन सभी कारणों से, सर्वहारा की सागंठनिक भूमिका समाजवाद के अन्तर्गत भी एक लम्बे समय तक कठोरतम केन्द्रीयता और अनुशासन के साँचें में ढली तथा संघर्षों में तपी एक आहनी पार्टी के बग़ैर साकार ही नहीं कि जा सकती। आगे लेनिन के इन शब्दों पर भी गौर करने की ज़रूरत है : *"करोड़ों छोटे 'मिल्कियों' को हराने की बनिस्बत केन्द्रीकृत बड़े बुर्जुआ वर्ग को हराना हज़ार गुना आसान है, लेकिन ये छोटे मिल्की अपने रोज़मर्रा के साधारण, अदृश्य, अनुभूत, हतोत्साहित कार्यकलाप से वे ही परिणाम पैदा करते हैं, जिनकी बुर्जुआ वर्ग को आवश्यकता होती है, जो बुर्जुआ वर्ग की पुनर्स्थापना करते हैं। जो कोई भी सर्वहारा पार्टी के लौह अनुशासन को जरा भी कमज़ोर करता है (खासकर उसके अधिनायकत्व के समय), वह वास्तव में सर्वहारा के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग की सहायता करता है।" ('वामपन्थी' कम्युनिज़्म - एक बचकाना, मर्ज़, लेनिन)*

लेनिन ने अपने अन्तिम वर्षों में, और **माओ-त्से-तुङ** ने भी, सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में उन बहुप्रचलित प्रत्ययवादी-रूमानी-शुद्धतावादी धारणाओं का खण्डन किया था जिनके चलते रामविलास शर्मा जैसों के निषेधवादी-विसर्जनवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी निष्कर्षों-निष्पत्तियों के उद्गम-स्थल निर्मित होते हैं। स्वयं लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति के बाद स्थापित सर्वहारा अधिनायकत्व को *'नौकरशाहना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं* से युक्त बताया था, पर इसके कारण मात्र मनोगत उपादानों में तलाशने के बजाय उन्होंने इनके वस्तुगत आधारों की भी पड़ताल की थी। उन्होंने बताया था कि छोटे पैमाने की किसानी अर्थव्यवस्था, छोटे माल-उत्पादकों की भारी तादाद और छोटे मिल्कियों के साथ शुरुआती दौर में सर्वहारा वर्ग द्वारा किये गये अपरिहार्य समझौते तथा एक पूँजीवादी विश्व से घिरे होने की वस्तुगत स्थितियाँ सर्वहारा पार्टी और राज्य में कुछ अपरिहार्य विकृतियों को जन्म देती हैं। यदि इन स्थितियों पर सचेतन तौर पर ध्यान दिया जाये और आधार एवं अधिरचना के क्रान्तिकारीकरण की प्रक्रिया लगातार जारी रहे तो सर्वहारा राज्य की विकृतियाँ दूर होती जाती हैं और सर्वहारा जनवाद अपने उन्नततर और परिशुद्धतर रूप में पकता-निखरता जाता है, उसका 'अ-राज्य' वाला पहलू उजागर होता चला जाता है। जब तक सर्वहारा जनता की चेतना पिछड़ी तथा मिल्की वर्गों के साथ-संगत से अधिक प्रभावित रहती है तथा छोटे मिल्कियों की तादाद और स्वामित्व-चेतना बहुत अधिक बनी रहती है, तब तक सर्वहारा राज्य के तमाम कार्यों को सँभालने में सर्वहारा वर्ग

के सर्वाधिक संगठित, उन्नत चेतना-युक्त, हरावल दस्ते के रूप में पार्टी की भूमिका अधिक बनी रहती है। जैसे-जैसे व्यापक जनता की चेतना उन्नत होती जाती है, वैसे-वैसे सचेतन प्रयास द्वारा जनता की पहलकदमी और सर्जनात्मकता को संस्थागत रूप देकर सर्वहारा अधिनायकत्व/जनवाद के आधार को व्यापकतर बनाने का काम निरन्तर जारी रखना होता है। इस तथ्य से हमारे देश के मार्क्सवादी विद्वान कम परिचित रहे हैं कि लेनिन का ज़ोर लगातार इस बात पर रहा कि उत्पादन-सम्बन्धों के क्रान्तिकारीकरण और समाजवादी चेतना के (शिक्षा एवं सांस्कृतिक उपक्रमों द्वारा) सतत् उन्नयन के साथ-साथ निर्णय और राज्य के अन्य कार्यों की प्रक्रिया व्यापक मेहनतकश अवाम की प्रत्यक्ष भागीदारी बढ़ती जानी चाहिये और पार्टी की भूमिका ज़्यादा-से-ज़्यादा एक राजनीतिक नेतृत्व और मार्गदर्शक की भूमिका तक सीमित होती जानी चाहिये। इस रूप में वे पेरिस कम्यून की अस्थायी परिघटना के रूप में फलित होते देखना चाहते थे और इसी रूप में चीन में *'ग्रेट लीप फारवर्ड'* की मुहिम के दौरान कायम जन-कम्यूनों में तथा सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान कारखानों और सामूहिक फार्मों - शहरों और गाँवों में स्थापित क्रान्तिकारी कमेटियों में, ग्रासरूट स्तर से निर्णय की प्रक्रिया के प्रत्यक्ष जन-भागीदारी के विस्तार के प्रयोग किये गये थे। सोवियतों के बारे में लेनिन का यह 'अप्रोच' आगे बढ़कर यहाँ तक जाता था कि नवोदित सोवियत समाजवादी व्यवस्था के फौरी संकटों से निजात पाते ही वे प्रतिरक्षा और वैदेशिक मामलों के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को छोड़कर राज-काज के सभी मामलों को जनता के बीच खुला कर देने के पक्षधर थे।

रामविलास शर्मा वस्तुगत सीमाओं और मनोगत उपादानों की उपेक्षा करके सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रयोगों में अन्तर्निहित विकृतियों-विरूपताओं की जड़ इस अवधारणा में ही मानने लगते हैं, जबकि लेनिन से लेकर माओ तक इनकी वैज्ञानिक पड़ताल करते हैं। रामविलास शर्मा सर्वहारा अधिनायकत्व को ही खारिज करते हुए काउत्स्की-ख्रुश्चेव को दीक्षा गुरू बनाने लगते हैं, जबकि लेनिन का अन्तिम निष्कर्ष यह बनता है कि समाजवादी समाज में पूँजीवादी तथा विविध प्राक-पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों की प्रभावी मौजूदगी के बावजूद, यदि सर्वहारा अधिनायकत्व कायम रहता है; यदि राज्यसत्ता पर अपनी पार्टी के जरिये सर्वहारा वर्ग का नियंत्रण कायम रहता है; तो राजकीय पूँजीवाद, निजी पूँजीवाद तथा कृषि में सहकारी, सामूहिक एवं राजकीय उपक्रमों की साथ-साथ मौजूदगी और बुर्जुआ अधिकारों एवं बाजार सम्बन्धों की (नियंत्रित) मौजूदगी के बावजूद, समाजवाद अपनी समस्याओं से मुक्त होकर आगे विकसित होता रह सकता है।

रामविलास शर्मा स्तालिन का नाम तो खूब लेते हैं, पर इस मायने में वे स्तालिन के धुर-विपरीत पक्ष में खड़े हैं कि स्तालिन ने सर्वहारा अधिनायकत्व को समाजवाद की पहली गारण्टी माना और व्यवहार में इसे सिद्ध भी किया। स्तालिन की गम्भीर

और मुख्य गलतियों का स्रोत उनकी पद्धति का आधिभौतिक भटकाव था। इसी के चलते उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व के खात्मे से उन्होंने (1936 में) यह निष्कर्ष निकाला था कि सोवियत संघ में शोषक वर्गों और वर्ग-संघर्ष का अस्तित्व समाप्त हो गया और सर्वहारा अधिनायकत्व की आवश्यकता अब सिर्फ़ साम्राज्यवादी विश्व के दबावों-हमलों षड्यंत्र आदि से तथा उसके एजेण्टों से निपटने भर के लिए ही रह गई है। बावजूद इसके, आनुभविक स्तर पर बुर्जुआ तत्वों के विरुद्ध (उन्हें साम्राज्यवाद या भूतपूर्व शासकों का एजेण्ट मानते हुए) स्तालिन ने सर्वहारा अधिनायकत्व का इस्तेमाल किया और इसमें अतिरेक भी हुए। इसीलिए, स्तालिन काल में, समाजवाद में नए बुर्जुआ तत्व तो पैदा होते रहे, पर पूँजीवाद की पुनर्स्थापना नहीं हो सकी, सोवियत समाजवाद की भौतिक प्रगति जारी रही और सोवियत संघ विश्व-स्तर पर सर्वहारा क्रान्ति की धारा को संवेग प्रदान करता रहा। पूँजीवादी पुनर्स्थापना की शुरुआत तभी हो सकी, जब सोवियत संघ में पले-बढ़े नए बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि के तौर पर ख्रुश्चेव गुट ने सत्ता पर कब्जा करने के बाद सर्वहारा अधिनायकत्व को तिलांजलि देकर 'समूची जनता के राज्य' की थीसिस की आड़ में बुर्जुआ अधिनायकत्व की स्थापना की तथा सर्वहारा वर्ग की पार्टी को 'समस्त जनगण की पार्टी' घोषित करके वस्तुतः उसे बुर्जुआ वर्ग की पार्टी बना डाला। रामविलास शर्मा सर्वहारा अधिनायकत्व के नाम पर जिस पार्टी-अधिनायकत्व की स्थापना की थीसिस पेश करते हैं, उसका उदाहरण वे ख्रुश्चेव से लेकर ब्रेझनेव काल तक की दे पाते हैं, जबकि बीसवी कांग्रेस के बाद, घोषित तौर पर सर्वहारा अधिनायकत्व को तिलांजलि दी जा चुकी थी। जिसे वे पार्टी-अधिनायकत्व की संज्ञा देते हैं वह वस्तुतः एक संशोधनवादी पार्टी (और संशोधनवाद की लेनिन की दी हुई परिभाषा याद रखें - कम्युनिज़्म के मुखौटे में पूँजीवादी विचारधारा) का अधिनायकत्व था - एक बुर्जुआ अधिनायकत्व था। संशोधनवाद और समाजवाद के बीच की विभाजक रेखा के मानक निर्धारक - वर्ग संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व को न पकड़ पाने के चलते ही, बीसवीं कांग्रेस और ख्रुश्चेव की आलोचना करते हुए भी रामविलास शर्मा ख्रुश्चेव से लेकर ब्रेझनेव काल तक और गोर्बाचोवी 'सुधारों' की शुरुआत होने के समय तक, सोवियत संघ को समाजवादी मानते हैं। उस प्रश्न की चर्चा हम आगे करेंगे। रामविलास शर्मा सर्वहारा अधिनायकत्व के मामले में स्तालिन के विचारों के विरुद्ध हैं और उनके अनुयायी केवल वहीं हैं जहाँ स्तालिन गलत हैं, यानी कि 1936 में समाजवाद-विषयक अपने उपरोक्त निष्कर्ष के सम्बन्ध में। स्तालिन ने 1952 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएँ* में समाजवाद के अन्तर्गत माल-उत्पादन, अधिशेष विनियोजन और वर्गों की मौजूदगी को स्वीकारते हुए अपनी गलती को ठीक करना शुरू कर दिया था, लेकिन रामविलास शर्मा 1936 पर ही अटके रह गये थे।

रामविलास शर्मा जब पार्टी के मज़दूर वर्ग के 'ऊपर' हो जाने की बात करते हैं या कम्युनिस्ट पार्टियों के 'भाड़ में जाने' की बात करते हुए मज़दूर वर्ग द्वारा उन्हें 'ठीक करने' की बात करते हैं तो वे एकदम अराजकतावादी संघाधिपत्यवादियों और विसर्जनवादियों की भाषा उचारते नज़र आते हैं। पार्टी के लेनिनवादी सिद्धान्तों के बारे में *'क्या करें?'* से लेकर पार्टी-संगठन विषयक तमाम लेखों और विशेषकर *'कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा'* (1921 में 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' की तीसरी कांग्रेस में प्रस्तुत) में लेनिन ने पार्टी तथा पार्टी और वर्ग के सम्बन्धों पर जो लिखा है, उसे दुहराना यहाँ सम्भव नहीं। हाँ, इतना तय है कि लेनिनवादी पार्टी-अवधारणा से रामविलास शर्मा का कुछ भी लेना-देना नहीं है। सवाल पार्टी के मज़दूर वर्ग के 'ऊपर' या 'नीचे' होने का नहीं बल्कि आगे या पीछे होने का है और तय है कि सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान से लैस होने तथा सर्वहारा वर्ग का सर्वाधिक संगठित दस्ता होने के चलते पार्टी उसका हरावल, नेतृत्व और मार्गदर्शक होती है। इस सन्दर्भ में **स्तालिन** की पुस्तक *द फाउण्डेशन आफ लेनिनिज्म का 'द पार्टी'* शीर्षक वह अध्याय भी देखने की ज़रूरत है जहाँ स्तालिन ने इन नुक्तों के अन्तर्गत कम्युनिस्ट पार्टी की अभिलाक्षणिकताओं की चर्चा की है : (1) पार्टी मज़दूर वर्ग के अग्रिम दस्ते के रूप में; (2) पार्टी मज़दूर वर्ग के संगठित दस्ते के रूप में; (3) पार्टी सर्वहारा के वर्ग-संगठन के सर्वोन्नत 'फार्म' के रूप में; (4) पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व के उपकरण के रूप में; (5) पार्टी गुटों के अस्तित्व के विपरीत संकल्पों की एकता के मूर्त रूप में; और (6) अवसरवादी तत्वों से मुक्त होकर पार्टी का सुदृढ़ीकरण। अपनी इसी पुस्तक में सर्वहारा अधिनायकत्व पर लिखते हुए स्तालिन ने उसके इन आयामों की नुक्तेवार चर्चा की है : (1) सर्वहारा क्रान्ति के उपकरण के रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व; (2) बुर्जुआजी पर सर्वहारा के शासन के रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व; और (3) सर्वहारा अधिनायकत्व; के राज्य के रूप के तौर पर सोवियत सत्ता। हम समझते हैं, स्तालिन की यह विवेचना सर्वहारा अधिनायकत्व विषयक रामविलास शर्मा की भ्रान्तियों को समझने में विशेष सहायक होगी।

सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा को सत्यापित और आगे विकसित करने में **माओ त्से-तुङ** का जो विशेष योगदान रहा, उसकी चर्चा इसलिए यहाँ और अधिक ज़रूरी है कि रामविलास शर्मा उसकी कहीं चर्चा नहीं करते।

पचास के दशक के दौरान पिछड़े हुए चीनी समाज में समाजवाद के निर्माण की समस्याओं से जूझते हुए और पार्टी के भीतर के गलत विचारों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए **माओ** ने समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की प्रकृति एवं नियमों को समझते हुए कम्युनिस्ट पार्टी और सर्वहारा सत्ता के शीर्ष पदों तक पर आसीन बहुतेरे लोगों की विजातीय लाइनों-रुझानों-प्रवृत्तियों और विचारों के वस्तुगत सामाजिक आधारों की पहचान की तथा समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि में सर्वहारा अधिनायकत्व की

अपरिहार्यता को पहचानने के साथ ही उसके रूपों पर भी विचार किया। 1957 में उन्होंने अपनी एक रचना *('जनता के बीच के अन्तर्विरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में')* लेनिन के चिन्तन के छूटे हुए सिरे को पकड़ते हुए पहली बार यह ठोस रूप में बताया कि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के समाजवादी रूपान्तरण का काम मूलतः पूरा हो जाने के बाद भी वर्ग, वर्ग-अन्तर्विरोध और वर्ग-संघर्ष भी मौजूद रहते हैं और सर्वहारा वर्ग को न केवल आर्थिक बल्कि राजनीतिक और विचारधारात्मक मोर्चे पर भी क्रान्ति जारी रखनी होती है। ख्रुश्चेव के विरुद्ध बहस चलाते हुए माओ ने उसके 'शान्तिपूर्ण संक्रमण, शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' के सिद्धान्तों को मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष-सिद्धान्त का निषेध सिद्ध किया और सर्वहारा अधिनायकत्व के विरुद्ध 'समूची जनता के राज्य' की अवधारणा तथा कम्युनिस्ट पार्टी को 'समस्त जनगण की पार्टी' बना देने की अवधारणा का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि ख्रुश्चेव पूँजीवादी पुनर्स्थापना का सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करते हुए इस प्रक्रिया की शुरुआत कर चुका है। चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की समस्याओं का विश्लेषण करते हुए माओ ने सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति का कार्यक्रम ठोस रूप में प्रस्तुत किया तथा संस्कृति सहित अधिरचना के सभी क्षेत्रों में भी सर्वहारा अधिनायकत्व पर अमल को अनिवार्यतः महत्वपूर्ण बताया जिसे ग्राम्शी की शब्दावली में संस्कृति और विचारों के क्षेत्र में सर्वहारा विचारधारा का वर्चस्व कायम करना भी कहा जा सकता है।

सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा का सवाल समाजवादी संक्रमण की प्रकृति से अविभाज्यतः जुड़ा हुआ है। आगे जब हम इस बात की चर्चा करेंगे कि समाजवादी समाज की प्रकृति एवं समस्याओं तथा पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों की रामविलास शर्मा की समझ क्या है तो सर्वहारा अधिनायकत्व विषयक उनकी गलत अवधारणा की जड़ों को जानने-समझने में थोड़ी और सहूलियत होगी।

समाजवादी संक्रमण

रामविलास शर्मा ने समाजवादी समाज की प्रकृति एवं समस्याओं के बारे में विगत शताब्दी के समाजवादी प्रयोगों की साम्प्रतिक पराजय के बारे में जो कुछ लिखा-कहा है, उसमें कहीं भी समाजवादी समाज में उत्पादन-सम्बन्धों की प्रकृति, वर्ग-सम्बन्धों की प्रकृति और वर्ग-संघर्ष की मौजूदगी के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है।

समाजवादी प्रयोगों की विफलता का कारण वे समाजवादी समाज की आन्तरिक गति को देखे बिना केवल विश्व पूँजीवादी तंत्र की गति में तलाशते हैं और आन्तरिक वर्ग-सम्बन्धों के विश्लेषण को पूरी तरह छोड़कर सिर्फ़ साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की

घुसपैठ को ही समजावाद की विफलता का मुख्य कारण मानते हैं। इस वस्तुगत कारक के अतिरिक्त वे यदि किसी मनोगत उत्पादन को जवाबदेह मानते हैं तो वह सर्वहारा अधिनायकत्व है जो अनिवार्यतः 'पार्टी अधिनायकत्व' और उसमें भी 'सेण्ट्रल कमेटी के अधिनायकत्व' में रूपान्तरित हो जाता है, जन-प्रतिनिधि या पंचायती संस्थाओं (सोवियतों) को शक्तिहीन बना दिया जाता है और सारी सत्ता पार्टी के हाथों में सिमट जाती है। सर्वहारा अधिनायकत्व विषयक रामविलासीय भ्रान्तियों की हम ऊपर संक्षिप्त विवेचना कर चुके हैं।

पूर्वी यूरोप के देशों में सत्ता-परिवर्तन और सोवियत संघ के विघटन के घटना-क्रम विकास के ठीक बाद फरवरी, 1991 में प्रकाशित एक साक्षात्कार में रामविलास शर्मा ने इन घटनाओं का कारण बताते हुए कहा था : "साम्यवादी पार्टियों में साम्यवाद के विरोधी घुसे हुए थे, उनके नेता थे टीटो। स्तालिन और समाजवाद की आलोचना में टीटो ने जो बातें कही थीं, उन्हीं को दोहराया गया। टीटो ने जो बातें कही थीं उनको त्रात्स्की बहुत पहले कह गए थे, फिर ख्रुश्चेव के बाद ब्रेझनेव आए तो थोड़ा-सा उस आलोचना में कमी आई, लेकिन उसे निरस्त नहीं किया गया, गोर्बाचोव के जमाने में उस आलोचना को और आगे बढ़ाया गया। वह बहुत अच्छी तरह जानते थे कि इससे समाजवाद तो दरकिनार, जो उनका राष्ट्र है उसका विघटन होगा और वह आज विघटित हो गया है।" (राजीव भारद्वाज से बातचीत, सण्डे मेल, 17 फरवरी, 1991)

इसी साक्षात्कार में वे आगे कहते हैं : "मुख्य समस्या है कि सोवियतें सत्ता का प्रतिष्ठान हैं कि नहीं। सत्ता किसके हाथ में है, किसी पार्टी के गुट के हाथ में है या संस्थाओं के हाथ में? अगर ये जनता की संस्थाएँ हैं तो उनमें खुलकर बहस होगी, वहाँ पार्टी उनके ऊपर तानाशाही नहीं कायम कर सकती। सोवियत संघ में अगर सोवियतों को खत्म कर दिया जाए तो वहाँ एक पार्टी का शासन होगा, सोवियत संघ कहने भर को रह जाएगा।... मुख्य समस्या है कि सोवियतें सत्ता का प्रतिष्ठान हैं या नहीं? और बहुत दिनों से सत्ता का प्रतिष्ठान नहीं है। इसलिए तमाम समस्याएँ आती हैं।" (वही)

सर्वहारा जनवाद के इस तथाकथित अभाव के अतिरिक्त पुनः दूसरी मुख्य समस्या वे विदेशी पूँजी की घुसपैठ को बताते हैं : "मुख्य समस्या यह है कि विदेशी पूँजी को आने दिया जाए या न आने दिया जाए। मार्शल प्लान को लेकर जो टीटो और स्तालिन में झगड़ा हुआ था, वह समस्या यही थी।... मूल समस्या विदेशी पूँजी की आमद की थी, जैसे लातिन अमेरिकी देशों पर कर्ज का बोझ है। अब उसी श्रृंखला में पूर्वी यूरोपीय देश आ गये हैं। जब तक ये विदेशी पूँजी से मुक्त नहीं होंगे, तब तक किसी तरह का गठन नहीं हो सकता, पुनर्गठन तो दूर की बात है।" (वही)

पुनः अक्टूबर, 1991 में उपेन्द्र मिश्र को दिये गए एक साक्षात्कार में भी (30-31 अक्टूबर और 1 नवम्बर, 1991 को **राष्ट्रीय सहारा** में प्रकाशित) रामविलास शर्मा ने विदेशी पूँजी और समाजवादी देशों के भीतर विदेशी पूँजी के दलालों की घुसपैठ के

अतिरिक्त समाजवादी देशों में एक ही पार्टी के शासन को समाजवाद की पराजय का मुख्य कारण बताया। इसके साथ ही उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन ने जब अवसरवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष बन्द कर दिया, तभी से ये समस्याएँ गहराती चली गई। अवसरवाद के नेता टीटो थे और बकौल रामविलास शर्मा, '60-61 तक टीटोवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष चला, फिर एकदम बन्द कर दिया गया। और अवसरवाद की रामविलासजी लेनिन, स्तालिन, माओ से एकदम अलग अपनी अनूठी परिभाषा इस प्रकार देते हैं : "अमेरिकी साम्राज्यवाद के अनुकूल अपने को ढालना यह अवसरवाद का सिद्धान्त है..."

1992 में, 1989-91 की घटनाओं और उत्तरवर्ती विश्व-परिस्थितियों का विश्लेषण लेनिन के विचारों के आलोक में करने के उद्देश्य से रामविलास शर्मा की नई पुस्तक **आज की दुनिया और लेनिन** प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के पहले खण्ड में रामविलास शर्मा का जो दीर्घ निबन्ध छपा है उसमें भी उन्होंने समाजवाद की विफलता का मूल कारण कम्युनिस्ट पार्टियों में व्याप्त अवसरवाद, विसर्जनवाद तथा विदेशी पूँजी की आमद और विदेशी कर्जे को बताया है। इसी दृष्टि से पुस्तक के दूसरे खण्ड में उन्होंने 1905 से 1914 के बीच के कठिन दिनों में लेनिन द्वारा लिखे गये उन लेखों को संकलित किया है जो अवसरवादी और विसर्जनवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध केन्द्रित हैं। तीसरे खण्ड के लेखों में साम्राज्यवाद की विवेचना करते हुए उसके अन्तर्भूत असाध्य संकट और अवश्यम्भावी पराजय करने वाले लेनिन के लेख संकलित हैं, क्योंकि रामविलास शर्मा पूँजीवादी पुनर्स्थापना के पीछे साम्राज्यवाद की भूमिका ही प्रमुख मानते हैं। (देखें, *आज की दुनिया और लेनिन*, मुख्यतः खण्ड-एक में दिया गया रामविलास शर्मा का निबन्ध, पृ. 1-49, अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 1992)

अपनी इन्हीं प्रस्थापनाओं को फिर 9 मई, 1994 को सुधीर रंजन सिंह से बातचीत के दौरान भी रामविलास जी ने दुहराते हुए यह निष्कर्ष रेखांकित किया है कि : "गलती ये हुई कि जो सत्ता के संस्थान हैं, जनसत्ता के संस्थान होने चाहिये और उनका स्थान कम्युनिस्ट पार्टी की समितियाँ नहीं ले सकतीं। अगर कम्युनिस्ट पार्टी की समिति सोवियत का स्थान लेगी तो ये बराबर सम्भावना बनी रहती है कि समाजवाद के भीतर भितरघात होगा। साम्राज्यवाद अब भी बहुत शक्तिशाली है। मुख्य समस्या विदेशी पूँजी की है। विदेशी पूँजी पहले घुसना शुरू करती है, उसके बाद उसके कारिन्दे आते हैं; सांस्कृतिक आक्रमण होता है जो भीतर से खोखला कर देता है। बाद में जब मौका मिलता है तो ये सारी चीज़ों को नष्ट कर देते हैं। ये बात सोवियत संघ में हुई है।" (सुधीर रंजन सिंह से बातचीत, पहल, 50-51, पृ. 4-5)

वैसे तो यह तथ्य ही नहीं है कि सोवियत संघ में कभी भी सोवियतों का स्थान कम्युनिस्ट पार्टी की समितियों ने लिया हो। अक्टूबर क्रान्ति से लेकर स्तालिन की मृत्यु तक राज्यसत्ता (सर्वहारा अधिनायकत्व) का केन्द्रीय 'आर्गन' सोवियतों का ढाँचा

ही रहा और समाजवादी जनवाद का अमल उन्हीं के प्लेटफार्म पर होता रहा। पार्टी की भूमिका राजनीतिक नेतृत्व की रही। सोवियतें कभी भंग नहीं हुईं, बल्कि जब पार्टी ने सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और उसका चरित्र एवं झण्डे का रंग बदल गया तो जनसत्ता के संस्थान के रूप में कायम सोवियतें बुर्जुआ प्रतिष्ठानों में - बुर्जुआ संसद सरीखी 'जनवादी' संस्थाओं में रूपान्तरित हो गई और यह प्रक्रिया बीसवीं कांग्रेस में ख्रुश्चेवी नीतियों की जीत के बाद ही पूरी हो चुकी थी। यदि पूँजीवादी पुनर्स्थापना की जड़ में एकदलीय शासन-प्रणाली का होना है तो इसके 'जिम्मेदार' लेनिन स्वयं थे। यह लेनिन थे जिन पर संविधन सभा भंग करने का 'ग़ैर जनवादी' कदम उठाने का आरोप बुर्जुआओं ने, सामाजिक जनवादियों ने तथा कुछ प्रश्नों पर दिग्भ्रमित होकर रोजा लक्जेमबर्ग जैसी सर्वहारा क्रान्तिकारी तक ने लगाया था (और लेनिन ने इन आरोपों का मुँहतोड़ उत्तर भी दिया था) और यह लेनिन ही थे जिन्होंने *'सारी सत्ता सोवियतों को'* का नारा दिया था। और यह लेनिन ही थे जिन्होंने समाजवाद-विरोधी सभी बुर्जुआ और संशोधनवादी दलों पर पाबन्दी लगा दी थी। हालाँकि सोवियतों में लम्बे समय तक ग़रीब व मध्यम किसानों की प्रतिनिधि छोटी पार्टियाँ और स्वतंत्र प्रतिनिधि मौजूद रहे। बाद में, समाजवाद की उन्नत अवस्था में, उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व के खात्मे के बाद अन्य दलों के अस्तित्व का सामाजिक आधार स्वतः ही समाप्त हो गया। और यह लेनिन थे जिन्होंने यह सूत्रीकरण दिया कि एक देश में समाजवादी क्रान्ति की एक लाइन और तदनुरूप सर्वहारा वर्ग की एक ही पार्टी हो सकती है। हाँ, यह ज़रूर था कि लेनिन ने रामविलास शर्मा की आधिभौतिक पद्धति के बजाय द्वन्द्वात्मक पद्धति अपनाते हुए कम्युनिस्ट पार्टी की संरचना को कभी भी एकाश्मी (मोनोलिथिक) नहीं माना, उसमें भी आन्तरिक जनवाद को अपरिहार्य बताया और *'दो लाइनों के संघर्ष'* को पार्टी के *'लिविंग आर्गेनिज़्म'* की संज्ञा दी।

लेनिन ने काफ़ी विस्तार से बुर्जुआओं के बहुदलीय जनतंत्र और संसदीय व्यवस्था की ढकोसलेबाजी पर लिखा है और बताया है कि वे भी केवल बुर्जुआ व्यवस्था के समर्थक मिल्की वर्गों की पार्टियों और नकली वामपंथियों को ही संसद में जगह देते हैं और वह संसद भी वस्तुतः 'दिखाने के दाँत' का ही काम करती है, जबकि कार्यकारी अंग के रूप में सरकार 'बुर्जुआ वर्ग की मैनेजिंग कमेटी' की भूमिका निभाती है। लेनिन के इन सभी तर्कों का बिना कोई उत्तर दिये, कलम की एक नोक से उन्हें खारिज करते हुए रामविलास शर्मा ने काउत्स्की के सुर-में-सुर मिलाते हुए बहुदलीय 'लोकतांत्रिक समाजवाद' का नारा दिया है।

रामविलास शर्मा कम्युनिस्ट पार्टियों में व्याप्त अवसरवाद और विसर्जनवादी की चर्चा तो करते हैं, पर समाजवादी समाज में मौजूद उनके सामाजिक आधारों की कोई चर्चा तक नहीं करते। पार्टी के अवसरवादियों को - त्रात्स्की, टीटो और गोर्बाचोव जैसों

को वे समाजवादी समाज के भीतर से पैदा नए बुर्जुआ वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में नहीं बल्कि साम्राज्यवाद के एजेण्ट और विदेशी पूँजी के दलाल के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि वे विदेशी पूँजी को पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का मूल वस्तुगत कारक मानते हैं और इस रूप में उनकी सोच घनघोर अर्थवादी है। टीटों ने विदेशी पूँजी को दावत दी, यह सही है, पर यह कारण नहीं बल्कि नतीजा है। टीटो समाजवादी संक्रमणकालीन समाज में मौजूद बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि था, इसलिए उसने राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार पूरा होते ही वर्ग-संघर्ष एवं सर्वहारा अधिनायकत्व से पीछा छुड़ा लिया और 'झुण्ड में शामिल हो लिया।' यही बात ख्रुश्चेव के लिए भी लागू होती है। लेनिन ने यूरोपीय वामपन्थी आन्दोलन में व्याप्त अवसरवाद की जब चर्चा की तो उसके सामाजिक आधार का भी उल्लेख किया। कार्ल काउत्स्की जैसों को उन्होंने साम्राज्यवादी देशों में जन्मे 'लेबर अरिस्टोक्रेसी' का प्रतिनिधि बताया तो अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत संघ में उभरे अवसरवादियों को समाजवाद के अन्तर्गत मौजूद प्राक-समाजवादी उत्पादन एवं विनिमय के सम्बन्धों का तथा उनसे उपजे बुर्जुआओं का प्रतिनिधि बताया। रामविलास शर्मा जहाँ पूँजीवादी पुनर्स्थापना का कारण सिर्फ़ साम्राज्यवादी साजिशों और हमलों के अतिरिक्त अपने 'खोए हुए स्वर्ग' की प्राप्ति के लिए सचेष्ट पुराने शासक वर्गों और समाजवादी समाज में मौजूद छोटे पैमाने के बुर्जुआ उत्पादन और बुर्जुआ अधिकारों की ज़मीन से लगातार पैदा होते रहनेवाले बुर्जुआ तत्वों की ओर से भी पूँजीवादी पुनर्स्थापना के ख़तरे को रेखांकित करते हैं।

रामविलास शर्मा की दिक्कत यह है कि अपनी आधिभौतिक पद्धति के ही चलते, वे न केवल पार्टी को बल्कि समाजवाद को भी एकाश्मी समग्र ('मोनोलिथिक होल') के रूप में देखते हैं और समाजवादी समाज के वर्ग-अन्तर्विरोधों और वर्ग-संघर्ष के नियमों को समझने के बजाय उसकी एक अति सरलीकृत, अर्थवादी समझ प्रस्तुत करते हैं। इसकी एक बानगी प्रस्तुत है।

संजीव क्षितिज से बातचीत के दौरान वे कहते हैं : "...कोई नहीं कहता कि आप यहाँ सर्वहारा डिक्टेटरशिप कायम कर दो। समाजवाद का मूल अर्थ यह है कि जो उत्पादन और वितरण के साधन हैं, वे समाज के हाथों में होने चाहिये, उनसे थोड़े से आदमियों को मुनाफ़ा नहीं कमाना चाहिये। एक फैक्ट्री में दो हज़ार मज़दूर है और स्वामित्व है एक आदमी का, यह अन्तर्विरोध समाप्त होना चाहिये।" (**प्रभात खबर, राँची, दीपावली अंक**, 1993)। पहली बात तो यह कि मार्क्सवाद राज्य के चरित्र को, सर्वहारा के वर्ग-अधिनायकत्व को समाजवाद का केन्द्रीय मानक मानता है। उत्पादन के साधनों के राजकीयकरण के बाद भी यदि सर्वहारा अधिनायकत्व न बना रहे तो समाजवाद, समाजवादी मुखौटेवाले राजकीय इजारेदार पूँजीवाद में रूपान्तरित हो जाता है। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण समाजवादी संक्रमण की अपरिहार्य बुनियादी पहली मंजिल है। इसके बाद भी वर्ग मौजूद रहते हैं, वर्ग-संघर्ष जारी रहता

है और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के ख़तरे बने रहते हैं। इन बातों को समझने के लिए समाजवादी संक्रमण के दौर की अर्थनीति और राजनीति पर कुछ बुनियादी चर्चा से शुरू करना ज़रूरी है।

समाजवाद के बारे में प्रत्ययवादी दृष्टि और आधिभौतिक 'अप्रोच' के चलते रामविलास शर्मा जैसे 'मार्क्सवादी' यह नहीं समझ पाते कि समाजवाद एक समेकित और स्थायी सामाजिक-आर्थिक संरचना नहीं है। समाजवादी समाज में कई सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ साथ-साथ मौजूद रहती है, इसमें पूँजीवादी और प्राक-पूँजीवादी संरचनाओं के साथ ही उन पर नियंत्रण रखने वाली और उन्हें क्रमशः खत्म करती जानेवाली सर्वहारा सत्ता मौजूद रहती है और कम्युनिज़्म की प्राथमिक अवस्था के तौर पर उत्पादन के साधनों के लगातार उन्नततर समाजीकरण की प्रक्रिया मौजूद रहती है। यह वर्ग समाज और वर्गविहीन समाज के बीच का लम्बा संक्रमणकाल हैं - यानी यह स्वयं एक वर्ग समाज है जिसमें वर्गों का आधार क्रमशः समाप्त हो जाता है।

समाजवादी संक्रमण की दीर्घ ऐतिहासिक अवधि के बाद ही वह उन्नत मंजिल आ सकती है जब वस्तुओं का विनिमय मूल्य समाप्त हो जाएगा और सिर्फ़ उपयोग-मूल्य और प्रभाव-मूल्य ही बचे रह जायेंगे। यह अति उत्पादन की मंजिल होगी। इसमें वस्तुओं का माल के रूप में अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। मुद्रा की सत्ता का विलोप हो जायेगा। लोग क्षमता-मुताबिक काम कर सकेंगे और ज़रूरत-मुताबिक हासिल कर सकेंगे। इस मंजिल पर पहुँचने के बाद ही वर्गों का, राज्य का, अन्य सभी वर्ग-संस्थाओं और वर्ग-विचारधाराओं का तथा वर्ग-संघर्ष का खात्मा सम्भव हो सकेगा। कम्युनिज्य की मंजिल तक जानेवाले समाजवादी संक्रमण-काल में वस्तुओं का बाज़ार-मूल्य बना रहता है, माल अर्थव्यवस्था का अस्तित्व कायम रहता है, बाज़ार एवं मूल्य के नियम काम करते रहते हैं और लम्बे समय तक, 'प्रत्येक को उसके काम के अनुसार' का सिद्धान्त लागू रहता है, यानी श्रम का माल के रूप में अस्तित्व कायम रहता है। इस पूरे दौर में वर्ग और वर्ग-संघर्ष मौजूद रहते हैं तथा अधिरचना के धरातल पर भी मौजूद ग़ैर-सर्वहारा वर्ग-प्रवृत्तियाँ कम्युनिज़्म की दिशा में प्रगति की दिशा को उलट देने के लिए सक्रिय रहती हैं। इसीलिए मार्क्स-एंगेल्स ने समाजवाद को बार-बार *"वर्ग-विभेदों के खात्मे के लिए आवश्यक संक्रमण-बिन्दु"* और *"क्रान्ति के स्थायित्व की घोषणा"* बताया और बताया कि *"क्रान्तिकारी रूपान्तरण के इस पूरे काल में" राज्य केवल सर्वहारा का क्रान्तिकारी अधिनायकत्व ही हो सकता है।"*

लेनिन के अनुसार : *"सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व वर्ग-संघर्ष की समाप्ति नहीं बल्कि इसका नए रूपों में जारी रहना है। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक ऐसे सर्वहारा वर्ग द्वारा चलाया जानेवाला संघर्ष है जो विजयी हुआ है और जिसने ऐसे पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले ली है जो पराजित हुआ है पर नष्ट*

नहीं हुआ है, ऐसा पूँजीपति जो विलुप्त नहीं हुआ है, जिसने प्रतिरोध करना बन्द नहीं किया है बल्कि अपने प्रतिरोध को तीव्र कर दिया है।" (स्वतंत्रता और समानता के नारों द्वारा जनता के साथ धोखाधड़ी नामक प्रकाशित भाषण की भूमिका, **लेनिन**)

समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की मौजूदगी और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के ख़तरों के बारे में 1962 में **माओ** ने कहा था : *"समाजवादी समाज की काफ़ी लम्बी ऐतिहासिक अवधि होती है। समाजवाद की इस पूरी ऐतिहासिक अवधि में वर्ग, वर्ग-अन्तरविरोध और वर्ग-संघर्ष मौजूद रहते हैं, समाजवादी रास्ते और पूँजीवादी रास्ते के बीच वर्ग-संघर्ष जारी रहता है और पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ख़तरा बना रहता है। हमें इस संघर्ष की दीर्घकालिक और जटिल प्रकृति को अवश्य पहचानना चाहिये। हमें अपनी चौकसी को उन्नत करना चाहिये। हमें वर्ग-अन्तर्विरोधों और वर्ग-संघर्ष को सही ढंग से समझना और संचालित करना चाहिये, हमें अपने और दुश्मन के बीच के अन्तर्विरोधों और जनता के आपसी अन्तर्विरोधों के बीच फ़र्क करना चाहिये। अन्यथा हमारे देश जैसा एक समाजवादी देश अपने विपरीत में बदल जायेगा, और पतित हो जायेगा, और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो जायेगी।"*

रामविलास शर्मा ने पूँजीवादी पुनर्स्थापना के जो कारण बताये हैं, उनके बरक्स, आइए अब यह देखें कि मार्क्सवाद के अनुसार, समाजवादी समाज के बुनियादी आर्थिक ढाँचे और ऊपरी ढाँचे की अन्तर्रचना में किस प्रकार वे तत्व मौजूद होते हैं जो वर्ग-संघर्ष की दीर्घकालिक प्रकृति के कारक होते हैं और जिनके चलते काफ़ी लम्बे समय तक पूँजीवादी पुनर्स्थापना की सम्भावना बनी रहती है।

एक उदाहरण के तौर पर, स्वामित्व के प्रश्न को लें। सर्वहारा सत्ता की स्थापना होते ही निजी स्वामित्व का पूरी तरह खात्मा नहीं होता। सार्वजनिक स्वामित्व की बहुसंस्तरीय व्यवस्था के साथ पूँजीवादी निजी स्वामित्व के छोटे-छोटे रूपों और शोषण का अस्तित्व बना रहता है, उद्योगों और कृषि में छोटी मिल्कियत कायम रहती है, सहकारी खेती का भी सारतत्व पूँजीवादी ही होता है, बुर्जुआ हितों के उन्मूलन के बाद भी गाँवों और शहरों में व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था के अवशेष कायम रहते हैं, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में, पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गों और मेहनतकश जनता के बीच के विरोध भी लम्बे समय तक बने रहते हैं तथा व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के सन्दर्भ में, पूँजीपतियों और बुर्जुआ विशेषज्ञों को दी जाने वाली ऊँची तनख्वाहें बनी रहती हैं। ये सभी ग़ैर-समाजवादी उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक बने रहते हैं और समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों के साथ उनका अन्तर्विरोध बना रहता है। इसीलिए (रामविलास शर्मा के "सभी रोगों की एक ही जड़" - फार्मूले के विपरीत) **लेनिन** ने बार-बार यह बताया था कि *पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ख़तरा केवल अपने खोये हुए 'स्वर्ग' की प्राप्ति के लिए प्रयासरत पुराने शोषकों की ओर से, बुर्जुआ वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की ओर से*

और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की शक्ति की ओर से ही नहीं बल्कि उन बुर्जुआ तत्वों और उस पूँजीवादी की ओर से भी है जो उन छोटे पैमाने के पूँजीवादी उत्पादन द्वारा प्रतिदिन, प्रतिघण्टा, लगातार और स्वतःस्फूर्ति से पैदा होता रहता है (विशेष रूप से देखें, **लेनिन** : *वामपन्थी कम्युनिज़्म - एक बचकाना मर्ज़, सोवियत सरकार के फ़ौरी कार्यभार, 'सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति*)। समाजवादी समाज में लम्बे समय तक एक ही साथ कई प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ बनी रहती हैं। 1921 में लेनिन ने सोवियत संघ में एक ही साथ पाँच सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की मौजूदगी का उल्लेख किया था।

आगे चलें। समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व-व्यवस्था और समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों के निर्णायक रूप से स्थापित होने के बाद भी माल अर्थव्यवस्था बनी रहती है, बुर्जुआ अधिकार बने रहते हैं, नए बुर्जुआ तत्वों के पैदा होने की ज़मीन मौजूद रहती है, मूल्य के नियम मौजूद रहते हैं, और वर्ग-संघर्ष जारी रहता है। मार्क्स, लेनिन और माओ ने बार-बार इस बात पर बल दिया था कि स्वामित्व के वैधिक रूपों में परिवर्तन मात्र ही वर्गों और वर्ग-संघर्ष की परिस्थितियों को समाप्त करने के लिए काफ़ी नहीं है क्योंकि इनका सम्बन्ध स्वामित्व के वैधिक रूपों से नहीं बल्कि उत्पादन-सम्बन्धों से है, विनियोग की सामाजिक प्रक्रिया के रूप से है और उन स्थितियों से है जो उत्पादन के अभिकर्ताओं के लिए यह प्रक्रिया तैयार करती है। सम्पत्ति के सामूहिकीकरण और राजकीयकरण के बाद भी बुर्जुआ तत्व विभिन्न रूपों में मौजूद रह सकते हैं और खासकर राजकीय पूँजीपति वर्ग के रूप में पैदा हो सकते हैं। सर्वहारा अधिनायकत्व की ऐतिहासिक भूमिका सम्पत्ति के रूपों में परिवर्तन लाना मात्र नहीं है, बल्कि विनियोग की सामाजिक प्रक्रिया का जटिल एवं दीर्घकालिक रूपान्तरण, पुराने उत्पादन-सम्बन्ध बनाना और इस तरह पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली से कम्युनिस्ट उत्पादन प्रणाली में संक्रमण को सुनिश्चित करना है।

यह समझना ज़रूरी है कि नियंत्रित व सीमित होते हुए भी समाजवाद में लम्बे समय तक माल का अस्तित्व बना रहता है। समाजवादी सामूहिक स्वामित्व और समाजवादी राजकीय स्वामित्व के विकास के पूरे दौर में सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ के बीच आर्थिक नेतृत्व के लिए संघर्ष जारी रहता है। यह भी गौरतलब है कि सामूहिक स्वामित्व वाले उपक्रम समूची जनता की सम्पत्ति नहीं होते और वे माल का विनिमय करते हैं जबकि राजकीय स्वामित्व वाले उपक्रम समूची जनता की सम्पत्ति होते हैं और वे वस्तुओं का विनिमय करते हैं। इसीलिए समाजवादी संक्रमण की निरन्तरता की यह अनिवार्य शर्त है कि छोटे पैमाने के सामूहिक स्वामित्व के बड़े पैमाने के सामूहिक स्वामित्व में और फिर राजकीय स्वामित्व में रूपान्तरण की प्रक्रिया लगातार जारी रहे।

मार्क्सवाद के सभी संशोधनवादी संस्करण सम्पत्ति के राजकीयकरण और समाजीकरण को प्रायः एक ही परिघटना बताते हैं। यह वस्तुतः एक वैधिक विभ्रम है। समूचे राज्य

की सम्पत्ति निजी स्वामित्व का निषेध तो होती है, पर स्वामित्व की पूरी व्यवस्था का निषेध नहीं होती। देश स्तर पर राजकीयकरण की प्रक्रिया पूरी होने के बाद भी अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में विषमता और बुर्जुआ अधिकार बने रहते हैं, सीमित और नियंत्रित होते हुए भी माल उत्पादन का अस्तित्व मौजूद रहता है और उपभोग की सामग्री के वितरण में राज्य की भूमिका बनी रहती है। अपने वास्तविक अर्थ में, समाजीकरण इसके आगे की मंजिल है जब उत्पादन और उपभोक्ता सामग्री के वितरण को विनियमित करने में राज्य की भूमिका समाप्त हो जाती है। राजकीयकरण की प्रक्रिया में सर्वहारा की राज्यसत्ता के सचेतन प्रयास की भूमिका होती है, जबकि समाजीकरण वर्ग और राज्य की इच्छा से स्वतंत्र एक वस्तुगत स्थिति है जो उत्पादक शक्तियों के सुनिश्चित विकास की माँग करती है जो पूरे समाज के हित में उत्पादन और वितरण को सुनिश्चित कर सके।

सम्पत्ति के समाजीकरण के आगे बढ़ते जाने के साथ ही माल के अस्तित्व का विलोप होता जाता है, लेकिन जब तक माल का अस्तित्व रहता है तब तक किसी-न-किसी रूप में मूल्य के नियम काम करते रहते हैं। समाजवादी उत्पादन में अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में, किसान और मज़दूर के बीच, शहर और देहात के बीच तथा बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच असमानता भी लम्बे समय तक बनी रहती है तथा पुराने समाज के बुर्जुआ कानूनी अधिकारों की मौजूदगी में ये असमानताएँ भी प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। **मार्क्स** ने गोथा कार्यक्रम की आलोचना में बुर्जुआ अधिकारों को 'असमानता के अधिकार' की संज्ञा दी है। एंगेल्स ने भी ड्यूहरिंग मत-खण्डन में इनकी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है और लेनिन ने राज्य और क्रान्ति में समाजवादी समाज में बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी को "बुर्जुआ वर्ग के बग़ैर बुर्जुआ राज्य की मौजूदगी" की संज्ञा दी है। लेनिन ने वर्गों को पूरी तरह समाप्त करने के लिए बुर्जुआ अधिकारों और उपरोक्त तीन अन्तर्वैयक्तिक असमानताओं की समाप्ति के दीर्घकालिक संघर्ष को अपरिहार्य बताया है। (*एक महान शुरुआत,* **लेनिन**)

आर्थिक मूलाधार के बाद अब अधिरचना के प्रश्न को लें। समाजवादी समाज में राजनीति से लेकर संस्कृति तक के दायरे में बुर्जुआ विचारधारा मौजूद रहती है, बुर्जुआ मूल्य-मान्यताएँ-संस्थाएँ मौजूद रहती हैं, जनता के बीच मौजूद 'पुरानी आदतों की शक्ति' समाजवाद की प्रतिकूल दिशा में ज़ोर लगाती रहती है, राज्य के संगठन में बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि मौजूद रहते हैं और फरमानशाही-नौकरशाही की कार्यशैलियों के विविध रूप मौजूद रहते हैं। पार्टी की अन्तर्रचना भी एकाश्मी नहीं होती (जैसा कि रामविलास शर्मा की समझ है)। समाज में वर्ग-अन्तर्विरोधों की मौजूदगी सर्वहारा वर्ग की पार्टी को भी निरन्तर प्रभावित करती रहती है। पार्टी के बुर्जुआ तत्व, बुर्जुआ विचारधारा और बुर्जुआ हितपोषक लाइनें हमेशा मौजूद रहती हैं, समय-समय पर

नये-नये 'बुर्जुआ हेडक्वार्टर' अस्तित्व में आते रहते हैं और इनके विरुद्ध यदि विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष न चलाया जाये तो सर्वहारा वर्ग की पार्टी के बुर्जुआ वर्ग की पार्टी में बदल जाने की सम्भावना सुनिश्चित भवितव्य बनती चली जाती है। कुल मिलाकर, समाजवाद के अधिरचनात्मक तंत्र में मौजूद ये बुर्जुआ अवयव पुराने शोषकों और साम्राज्यवादियों के प्रतिक्रियाविदी कुचक्रों को मदद पहुँचाने के साथ ही मज़दूर वर्ग के बीच से, पार्टी कतारों से और राज्य के कर्मचारियों के बीच से नये बुर्जुआ तत्व पैदा होते रहते हैं, तथा पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली को बल प्रदान करते हैं।

इसीलिए मार्क्स ने पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों के अनुरूप मौजूद सभी विचारों के क्रान्तिकारीकारण को समाजवाद की एक अभिलाक्षणिकता बताया था। इसीलिए लेनिन ने मज़दूर वर्ग और जनता को भ्रष्ट करनेवाले सभी विचारों और पुरानी आदतों के विरुद्ध लगातार संघर्ष की बात की थी। और इसीलिए माओ ने अधिरचना के क्षेत्र में सतत क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व लागू करने को अनिवार्यतः आवश्यक बताया था।

निष्कर्ष

समाजवादी संक्रमण, सर्वहारा अधिनायकत्व और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के कारणों के बारे में रामविलास शर्मा की समझ और निष्पत्तियाँ मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ की समझ और निष्पत्तियों से एकदम अलग ही नहीं, बल्कि सर्वथा विपरीत हैं।

समाजवाद के बारे में उनकी समझ निम्न-पूँजीवादी रोमांटिसिज्म से ग्रस्त है। सर्वहारा अधिनायकत्व, और इस तरह समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष को खारिज करते हुए वे पूरी तरह लासाल, बर्नस्टीन, काउत्स्की और ख्रुश्चेव के तर्कों का प्रयोग करते हैं, उन्हीं की भाषा में, "बहुदलीय जनतांत्रिक प्रणाली" और लोकतांत्रिक समाजवाद" के गुण बखानते हैं और उन्हीं के सुर में सुर मिलाकर सर्वहारा जनवाद में जनवाद की मात्रा बढ़ाने की माँग करते हैं, "पार्टी-अधिनायकत्व" की शिकायतें करते हैं तथा "सोवियत बनाम पार्टी" का काल्पनिक प्रश्न खड़ा करते हैं।

सर्वहारा अधिनायकत्व यानी राज्यसत्ता के प्रश्न को दरकिनार करके रामविलास शर्मा विदेशी पूँजी की जकड़ के आर्थिक उपादान को और पार्टी में साम्राज्यवाद के एजेण्ट के रूप में बैठे अवसरवादी नेतृत्व को पूँजीवादी पुनर्स्थापना का कारण मानते हैं। इस रूप में वे 'पॉलिटिक्स इन कमाण्ड' को छोड़कर अर्थवादी अवस्थिति अपना लेते हैं। समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की दिशा के बजाय वे उत्पादक शक्तियों के विकास को मानक बताते हैं और अर्थवाद के दलदल में गहरे धँस जाते हैं।

इसलिए वे पूँजीवाद की पुनर्स्थापना ख्रुश्चेव काल से नहीं बल्कि गोर्बाचोव काल से मानते हैं। ख्रुश्चेव द्वारा सर्वहारा अधिनायकत्व और वर्ग-संघर्ष के परित्याग के बाद ही सोवियत संघ में पूँजीवादी अर्थनीति और कार्यदिशा लागू हो रही थी, पर वह राजकीय इजारेदार पूँजीवाद था। ब्रेझनेव काल में इस राजकीय पूँजीवाद की राज्यसत्ता ने आक्रामक साम्राज्यवादी और सामाजिक फासीवादी आचरण प्रस्तुत करते हुए समाजवाद, और स्तालिन तक के झण्डे का इस्तेमाल किया। गोर्बाचोव-येल्तिसन के दौर में परिवर्तन का निहितार्थ यह था कि राजकीय इजारेदार पूँजीवाद पश्चिमी ढंग के नवक्लासिकी पूँजीवाद में रूपान्तरित होकर साम्राज्यवादी विश्व में पूरी तरह से समेकित हो गया।

रामविलास शर्मा समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की प्रकृति और सर्वहारा अधिनायकत्व को समझ पाने के कारण, ख्रुश्चेव और टीटो की आलोचना साम्राज्यवादी पूँजी को छूट देने और स्तालिन का विरोध करने के नाते करते हैं। वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व के परित्याग के प्रश्न पर वे वस्तुतः स्तालिन के ख़िलाफ़ और ख्रुश्चेव से लेकर यूरोकम्युनिस्टों तक के साथ खड़े होते हैं।

रामविलास शर्मा स्तालिन के उसी हद तक अनुयायी हैं जिस हद तक (समाजवाद के बारे में तीस के दशक के उत्तरार्द्ध में विचार प्रकट करते हुए) स्तालिन गलत थे और आधिभौतिकवाद के शिकार थे। जहाँ स्तालिन सही हैं (यानी सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रश्न पर और सोवियत संघ में साम्राज्यवाद की आर्थिक समस्याएँ पुस्तक में प्रस्तुत विवेचना के सन्दर्भ में), वहाँ रामविलास शर्मा उनके विरुद्ध खड़े हैं।

रामविलास शर्मा की समझ प्रत्ययवादी और पद्धति आधिभौतिकता से ग्रस्त है जिसके चलते वे पार्टी और समाजवाद की बनावट को एकाश्मी (मोनोलिथिक) मानते हैं, उनके भीतर के अन्तर्विरोधों को नहीं देख पाते और चीज़ों की आन्तरिक गति (यानी समाजवादी समाज में आन्तरिक वर्ग-संघर्ष) के बजाय बाह्य कारक को (यानी विदशी पूँजी को) प्रधान मानते हैं। पार्टी में अवसरवाद और विसर्जनवाद के उत्स तलाशते हुए भी वे यही पद्धति अपनाते हैं और पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष के रूप में मौजूद आन्तरिक गति की अनदेखी करते हैं।

रामविलास शर्मा समस्या की जड़ें जब लोगों में या पार्टी व राज्य की गलत नीतियों में देखते हैं तो उनके वस्तुगत सामाजिक आधार की कोई पड़ताल नहीं करते। यह एक प्रत्ययवादी विश्व-दृष्टिकोण है।

रामविलास शर्मा का 'मार्क्सवाद' एक किस्म का 'परिघटनावादी', 'लक्षणवादी', 'प्रतीतिवादी', पल्लवग्राही 'मार्क्सवाद' है। मार्क्सवादी विश्लेषण-पद्धति प्रतीति से सार तक, इन्द्रियगोचरता से बुद्धिसंगति तक, बोध से धारणा तक, परिघटना से अन्तर्भूत संरचना तक की यात्रा को बुनियादी मानती है। लेकिन रामविलास शर्मा इस विश्लेषण के बजाय सतह के लक्षणों के आधार पर फैसले देते हैं जो कभी-कभी तो

अटकलबाजी तक जा पहुँचता है।

उनकी पहुँच-पद्धति का यह भटकाव इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में भी प्रायः नज़र आता है। और यह स्वाभाविक है। यदि किसी व्यक्ति की पहुँच-पद्धति एक जगह आधिभौतिक या यांत्रिक भौतिकवादी होगी तो अन्यत्र भी वह विचलन एक या दूसरे रूप में मौजूद दिखेगा।

('आलोचना', अप्रैल-जून 2001 में प्रकाशित)

साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध हिन्दी कविता

विगत लगभग पन्द्रह वर्षों का समय हमारे समाज के लिए जितना महत्वपूर्ण रहा है, उतना ही हिन्दी कविता के लिए भी रहा है। इन पन्द्रह वर्षों ने हिन्दी कविता की शक्ल और मिजाज को काफ़ी हद तक बदल डाला है। हमारे समय की कविता को फासीवादी बर्बरता के विरुद्ध खुले गले से बोलना पड़ा है और इस दायित्व ने इसकी प्रकृति और स्थिति में, निश्चय ही कुछ बुनियादी बदलाव ला दिये हैं।

आज भी हिन्दी कविता, कविता की बुनियादी शर्तों से समझौता किये बिना, अपने समय से सीधी टकराती हुई, मुखर कविता है, लेकिन यह वाचाल कविता नहीं है। लेकिन सिर्फ़ इतना ही कहना एक आत्मतुष्टिमूलक समाहार होगा। अपने समय के जिन सामाजिक अन्तरविरोधों के बीच हमारी कविता पली-बढ़ी है, उन्हें हम बर्बरता और सभ्यता के बीच के संघर्ष का एक नया चक्र भी कह सकते हैं। संघर्ष के इस नये चक्र में, अपने ढंग से शामिल हिन्दी कविता के अपने अन्तरविरोध और विचारधारात्मक विचलन भी बहुत अधिक साफ़ होकर सामने आये हैं। हिन्दुत्ववादी लहर की फासीवादी बर्बरता के विरुद्ध खड़ी वामपन्थी कविता धारा में जनवाद, धर्मनिरपेक्षता और मानववाद जैसी ऐतिहासिक अवधारणाओं की समझ में कई खोट और झोल नज़र आये हैं। साथ ही, गुजरे पन्द्रह वर्षों के समय ने काफ़ी हद तक यह स्पष्ट कर दिया है कि समूची हिन्दी कविता की जो साम्राज्यवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी विरासत है, उसे श्रद्धा विगलित भावुकता के साथ शिरोधार्य मानना भी सिरे से गलत होगा। हमें इसके अन्तरविरोधों पर खुलकर चर्चा करनी होगी और आलोचनात्मक विवेक के साथ अपनी राष्ट्रीय जनवादी परम्परा के ग्राह्य पक्षों को गाह्य और त्याज्य पक्षों को त्याज्य कहने का साहस करना होगा। ऐसा न करना वैसा ही होगा, जैसे एक किस्म की अतीतोन्मुखता का जवाब दूसरे किस्म की अतीतोन्मुखता से देना।

मुख्यतः यह विषय इतिहास और आलोचना के विस्तृत प्रदेश से सम्बन्धित है और अलग से चर्चा की माँग करता है। लेकिन थोड़े में हम इतना ज़रूर कहना चाहेंगे

कि हिन्दी कविता ने परम्परा और विरासत की जिस ज़मीन पर पैर टिकाकर साम्प्रदायिक फासीवाद के मानवद्रोही सांस्कृतिक हमलों और बर्बर रक्तपातों-नरसंहारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई वह ज़मीन ही कुछ पोली और दलदली थी। औपनिवेशिक काल की राष्ट्रीय जनवादी कविता-धारा किसी किस्म के पुनर्जागरणकालीन क्रान्तिकारी मानववाद और प्रबोधन प्रसूत जुझारू भौतिकवादी तर्कणा के अभाव में प्रायः सुदूर अतीत के काल्पनिक गौरव से प्रेरणा लेती थी। हिन्दुत्व के जिस काल्पनिक गौरव की स्थापना के कार्यभार को आज "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, उसके कुछ तत्व राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर के साहित्य में आसानी से देखे जा सकते हैं। राष्ट्रवाद की इस अनैतिहासिक अवधारणा ने अपने समय के मुख्य अन्तरविरोध को हल करने में भले ही सकरात्मक भूमिका निभाई हो, लेकिन वह दौर जब बीत गया तो इतिहास की इस वैचारिक विरासत ने स्वातंत्र्योत्तर भारत में प्रतिक्रिया की शक्तियों को खूब खाद-पानी देने का काम किया। अपनी परम्परा के इन अन्तरविरोधों की पड़ताल का उद्देश्य ग़ैरज़रूरी तौर पर अपने पूर्वजों के कान का मैल निकालना कत्तई नहीं है, बल्कि हमारे समय की वामपन्थी-जनवादी कविता की अक्षमताओं-विसंगतियों और अन्तरविरोधों की समझदारी के लिए यह ज़रूरी है।

भारत में बुर्जुआ जनवाद के वाहक विचारकों के पीछे पश्चिमी यूरोप के देशों की तरह पुनर्जागरणकालीन महामानवों और प्रबोधनकाल के जुझारू भौतिकवादी दार्शनिकों की समृद्ध परम्परा नहीं थी। भारतीय समाज ने अपनी नैसर्गिक आन्तरिक गति से मध्यकालीन जड़ता से मुक्ति का उपक्रम शुरू ही किया था कि औपनिवेशिक दासता का दौर शुरू हो गया और पुरानी सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके इसपर एक नई औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी गयी। इस नये औपनिवेशिक समाज के गर्भ से ही वे विचारक-सिद्धान्तकार जन्मे थे जो राष्ट्रवाद और जनवाद के मूल्यों के वाहक थे और वे जिन वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे, वे वर्ग उसी औपनिवेशिक समाज के घटक थे। यह त्रासदी केवल राष्ट्रवाद की पूँजीवादी धारा की ही नहीं, बल्कि मार्क्सवाद से अनुप्राणित धारा की भी थी। औपनिवेशिक अतीत के इन जन्मचिह्नों को आज भी हमारे समाज के शरीर पर देखा जा सकता है। औपनिवेशिकरण ने भारतीय समाज के सभी वर्गों को उनके अतीत से काट दिया और आश्चर्यजनक नहीं कि सुदूर अतीत का काल्पनिक गौरव राष्ट्ीय उन्मेष, का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बन गया। परम्परा की यह धारणा एकाश्मी (मोनोलिथिक) थी। जिस अतीत को लाना था, वह एकाश्मी हिन्दु अतीत था, जो अन्य धर्मावलाम्बियों के लिए बेगाना था। जो सर्वधर्मसमभाव की बात करने वाली उदारवादी धारा थी उसका भी अतीत के प्रति आलोचनात्मक विवेकपूर्ण नज़रिया नहीं था। इस धारा का मानववाद इसी नाते मरियल और अन्तरविरोधपूर्ण था। इसी नाते हमारे समाज में संस्कृति और विचारों की दुनिया में प्रायः राष्ट्रवाद और अन्धराष्ट्रवाद के बीच की रेखा एकदम

धूमिल पड़ जाती है, इतिहास का अवलोकन इतिहासग्रस्त बना देता है, लोक पर बल शास्त्रीयता का पूर्ण निषेध करते हुए लोकवाद बन जाता है, पूँजीवाद का विरोध तर्कणा एवं विज्ञान का विरोध बनकर धर्म एवं अंधविश्वास का शरणागत बनाने लगता है, तथा विवेक के पारम्परिक स्रोतों की खोज कर्मकाण्ड तक पहुँचा देती है। यह पहले भी था और आज भी है। यह अनायास नहीं है कि आज उत्तर-आधुनिक और उत्तर-औपनिवेशिक चिन्तक आधुनिकता के बुर्जुआ पूर्वाग्रही अवधारणा का विरोध करते हुए पूर्व-आधुनिक प्रतिगामिता के अंधकूप में जा गिरते हैं।

इस चर्चा को कविता के दायरे में काम लाने का काम हम कवि **असद जैदी** के इन शब्दों से करेंगे - *"गिलक्रिस्ट के ज़माने से लेकर आज के विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों तक, हण्टर कमीशन से 'द्विवेदी युग' तक फोर्ट विलियम से लेकर राजभाषा विभाग तक, 'भारतेन्दु युग' की राजभक्ति और गोरक्षा से लेकर छायावाद और रामचन्द्र शुक्ल के 'क्षात्रधर्म' और 'राष्ट्रवाद' तक एक निहायत समस्याग्रस्त, खण्डित और अन्तरविरोधपूर्ण 'धरोहर' है। इस धरोहर को लेकर हिन्दी के पेशेवर बुद्धिजीवी समुदाय के विभिन्न खेमों के बीच सुलह, सहमति और सर्वानुमति के भयावय प्रकरण पाये जाते हैं। आज की हिन्दी कविता को इसी परम्परा के बरक्स और इससे लगातार उलझते हुए काम करना है।"* (**'सहमत'** द्वारा प्रकाशित संकलन **'दस बरस'** का सम्पादकीय)

हिन्दू धार्मिक मिथकों-रूपकों-बिम्बों के प्रयोगों से भरी हुई या वेदान्त-दर्शन प्रेरित सुधारवाद की भावना से आप्लावित राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर की कविता को ग़ैरहिन्दू आबादी और दलित आज यदि अपनी सांस्कृतिक विरासत नहीं समझ पाते तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस परम्परा से उनकी स्वाभाविक दूरी तो पहले भी थी, लेकिन उग्र हिन्दुत्व के इस दौर में उससे बेगानगी का भाव और अधिक गहरा हो गया है। अपने पूर्वोद्धत आलेख में असद ज़ैदी ने आज़ादी के पहले की कविता के बारे में लिखा है : *"पूर्वकाल की कविता में राष्ट्र, समाज, संस्कृति और मनुष्य की जो छवि उभरती है उस पर (कम से कम छायावादी युग तक) सांस्कृतिक पुनरुत्थनवाद, साम्प्रदायिक अलगाव, सवर्णवाद का गहरा असर है। उसके जिस्म पर हिन्दुस्तानी और उर्दू परम्परा के साथ किये गये 'धर्मयुद्ध' के दौरान लगे हुए घाव और 'गौरवचिह्न' हैं, जो आज भी रिस रहे हैं। इस परम्परा से असहमति ओर इसके अहाते से बाहर निकलने की छटपटाहट और बेचैनी से ही समकालीन हिन्दी कविता का जन्म हुआ है। पुनरुत्थानवादी मिथकों और पौराणिक रूपकों से निकलकर लौकिक, यथार्थपरक, लोकतांत्रिक, समाजवाद, प्रगतिशील और अन्तरराष्ट्रीयतावादी मूल्यों को हिन्दी कवियों ने इसी उपक्रम में अपनाया या देखा या परखा है।"* असद ज़ैदी स्वतंत्रता के बाद की जनवादी कविता को पूर्वकाल से अलगाते हुए बताते हैं कि *'समकालीन हिन्दी कविता की जड़े, प्रेरणा और सन्दर्भ के मुख्य बिन्दु आज़ादी के बाद के दौर और इस दौर के*

काव्य में है' और यह कि, आज के दौर को *'हिन्दी कविता का आधुनिक और सेकूलर दौर कहा जा सकता है। आज की कविता को जब वे 'हिन्दुत्ववादी प्रोजेक्ट के जागरूक प्रतिरोध की कविता'* की संज्ञा देते हैं, तो इससे अहसमति का कोई कारण नहीं दिखता। पर मात्र इतना ही कहना एक आत्मतोषी वक्तव्य होगा और समकालीन कविता परिदृश्य का एक अधूरा-एकाँगी आकलन भी।

आज जो हिन्दुत्ववादी प्रोजेक्ट के जागरूक प्रतिरोध की कविताएँ हैं, उन सभी का विचारधारात्मक आधार समान रूप से वैज्ञानिक और इतिहाससम्मत नहीं है। कविता की दुनिया में हिन्दुत्ववादी प्रोजेक्ट का प्रतिरोध एक जबर्दस्त सकारात्मक बात है और समकालीन सामाजिक यथार्थ के एक पहलू को वस्तुगत रूपसे दर्शाता है, लेकिन राजनीति की ही तरह, कला-साहित्य के क्षेत्र में भी प्रतिरोध के किसी उपक्रम के पीछे यदि सामाजिक-वैचारिक परिघटना विशेष की सही-सुसंगत समझ नहीं होगी तो वह उपक्रम जनमानस को प्रभावित-जागृत-उद्वेलित करने में सफल नहीं हो पायेगा।

साम्प्रदायिक फासीवाद लहर के विरुद्ध विगत पन्द्रह वर्षों के दौरान जो कविताएँ लिखी गयी हैं, उनके वैचारिक आधार एवं अन्तर्वस्तु की पड़ताल से इस बात को समझा जा सकता है।

सबसे पहले, आडवानी की रथयात्रा और बाबरी मस्जिद ध्वंस से लेकर गुजरात नरसंहार के बाद तक के समय के दौरान लिखी गयी वाम और प्रगतिशील धारा की कविताओं में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को लें। ऐसी कविताओं की संख्या काफ़ी है जो "सर्वधर्मसमभाव" की स्पिरिट को प्रकट करती है, जबकि धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा सर्वधर्मसमभाव से एकदम अलग है। यह सभी धर्मों के बीच समानता की बात नहीं करती, बल्कि धर्म को व्यक्तिगत आस्था-विश्वास की सीमा के अतिक्रमण की तथा सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों के दायरे में प्रवेश की इजाज़त नहीं देती और राज्य का किसी भी किस्म के धार्मिक विचार या गतिविधि से पूर्णतः पृथक्करण करती है। धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का आधार अठारहवीं शताब्दी के यूरोपीय (विशेषकर फ्रांसीसी) दार्शनिकों का जुझारू भौतिकवाद था। सामन्तवाद को पराभूत करते ही पूँजीवाद ने चर्च से अपवित्र गठबन्धन करके जुझारू भौतिकवाद का परचम धूल में फेंक दिया और उसकी धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा भी खण्डित एवं विकृत ही गयी। सच पूछें तो धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा अपने वास्तविक अर्थ में पश्चिम के पूँजीवादी देशों में भी कभी अमल में नहीं आ सकी और औपनिवेशिक अर्द्धऔपनिवेशिक अतीत वाले पिछड़े पूँजीवादी देशों में तो आर्थिक आधार एवं सांस्कृति-वैचारिक अधिरचना के क्षेत्र में तमाम प्राक्पूँजीवादी अवशेषों की मौजूदगी के चलते, राज्य और समाज का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप वस्तुतः रहा ही नहीं। धर्मनिरपेक्षता की शासकीय अवधारणा 'सर्वधर्मसमभाव' की रही है और यह 'सर्वधर्मसमभाव' भी विगत आधी सदी के दौरान मात्र एक खोखला नारा या 'यूटोपिया' ही सिद्ध हुआ है। धर्मनिरपेक्षता

की मार्क्सवादी अवधारणा बुर्जुआ अवधारणा से कुछ कदम आगे जाती है। वह धार्मिक व्यक्ति की निजी आस्था के साथ ही अनीश्वरवादी व्यक्ति की निजी आस्था को भी समान दर्जा और हक देती है। धर्म से राज्य के पूर्ण पृथक्करण के साथ ही मार्क्सवादी सोच यह भी रही है कि जीवन, समाज और प्रकृति के विकास भी वैज्ञानिक सोच से जनता को लैस करने के लिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी को और उसकी विचारधारा को स्वीकारने वाले बुद्धिजीवियों को अनीश्वरवाद का तथा धर्म के सामाजिक उद्गम एवं विकास-प्रक्रिया के बारे में अपने विचारों का लगातार प्रचार करना चाहिये। यह धार्मिक कट्टरपंथ के विरुद्ध वामपंथ के वैचारिक संघर्ष का एक दूरगामी कार्यभार है जो फौरी कार्यभारों के साथ-साथ लगातार हमारे सामने मौजूद है और कविता के प्रदेश को भी इससे अछूता कत्तई नहीं माना जा सकता। हिन्दी में ऐसी कविताओं की संख्या बस उँगलियों पर गिनने लायक ही है, जो धर्म की सत्ता या पूँजी और धर्म के अपवित्र गठबन्धन पर चोट करती हों। वामपन्थी धारा की बहुतेरी कविताओं का मूल स्वर भी वैसा ही ध्वनित होता है, जैसी कि इक़बाल की ये पंक्तियाँ बताती हैं : *'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।'* इसके विपरीत, आज कविता का यह स्वर बहुत कम दीखता है, जिसे **राहुल सांकृत्यायन** ने इन शब्दों में व्यक्त किया था : *'मजहब ही सिखाता है आपस में बैर रखना, भाई को सिखाता है भाई का खून पीना।'* धार्मिक कट्टरपंथ के विरुद्ध हिन्दी कविता का केन्द्रीय स्वर काफ़ी हद तक यही है कि : *'मन्दिर बाँटा, मस्जिद बाँटा, मत बाँटों इन्सान को,'* जबकि वास्तविकता कुछ यूँ है कि : *'मन्दिर-मस्जिद बाँटा जिससे बँटा रहे इंसान।'*

वाम और प्रगतिशील कविता का यह कार्यभार था कि वह धार्मिक कट्टरपंथ की बर्बरता पर चोट करते हुए धर्मनिरपेक्षता की वास्तवितकता जनवादी अवधारणा को प्रस्तुत करे तथा उस अधूरी-खण्डित धर्मनिरपेक्षता को भी बेनकाब करे जो तरह-तरह से बहुमत के धार्मिक विश्वासों को अल्पमत के ऊपर लादने की गुंजाइशें छोड़ देती है। साथ ही, धार्मिक कट्टरपंथ वित्तीय पूँजी के बढ़ते निरंकुश वर्चस्व की जिस ज़मीन से खाद-पानी पा रहा है, उसे भी सामने लाना प्रगतिशील कविता का एक बुनियादी कार्यभार था। और सिर्फ़ इतना ही नहीं, पूँजीवादी समाज में धर्म की भूमिका को स्पष्ट करना भी एक ऐसा कार्यभार है, जिसकी अनदेखी आज कविता के प्रदेश में भी नहीं की जा सकती। इन कार्यभारों को पूरा करने में कविता की जनपक्षधर धारा की जो कमियाँ रही हैं, उनके मूल में वैचारिक समझ की कमी की ही मुख्य भूमिका रही है। यह सही है कि विचारों की अतिमुखरता या यांत्रिक प्रस्तुति कविता की विफलता है, लेकिन विचारों का अभाव या गलत विचार भी कविता को लक्ष्यविमुख कर देते हैं।

साम्प्रदायिकता, फासीवाद और धर्मनिरपेक्षता के बारे में सुसंगत वैचारिक समझ के अभाव के चलते धार्मिक कट्टरपंथी बर्बरता और गुजरात जैसे बर्बर नरसंहार के दौर

में लिखी गयी बहुतेरी कविताएँ बुर्जुआ मानववाद की ज़मीन पर, या कभी-कभी तो उससे भी चार कदम पीछे, संतों-सूफियों की धर्मसुधारवादी परपम्रा की ज़मीन पर खड़ी दिखाई देती हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि कबीर, दादू, रैदास जैसे कवि हमारी गौरवशाली परम्परा हैं। पर वे हमारा वर्तमान नहीं है। वर्तमान के प्रश्नों का उत्तर मात्र परम्परा के सहारे नहीं दिया जा सकता।

धर्म-सुधार आन्दोलन के सहारे आज की धार्मिक कट्टरता और सवर्णवाद और पुरुष वर्चस्ववाद का मुकाबला नहीं किया जा सकता। इसी कमी के कारण गुजरात नरसंहार के बाद लिखी गयी अधिकांश कविताओं तक में एक बेबसी भरे सन्ताप और निरुपाय करुणा का भाव प्रधान बनकर सामने आता है। स्पेनी गृहयुद्ध से लेकर दूसरे विश्वयुद्ध तक के दौरान लिखी गयी **पाब्लो नेरूदा** की कविताओं में फासीवाद-विरोधी घृणा एवं क्रोध का जो आवेश और आवेग दीखता है, या **ब्रेष्ट** की इसी दौर की कविताओं में गाढ़े तेजाबी व्यंग्य और घृणा की जो रिक्तता दीखती है, वह आज की हिन्दी कविता में बहुत कम देखने को मिलती है।

आउश्वित्स यातना-शिविर से विचलित होकर जर्मन वामपन्थी चिन्तक **अदोर्नो** ने कहा था कि 'आउश्वित्स के बाद कविता लिखना बर्बतापूर्ण है।' बेशक उनका मतलब यही था कि आउश्वित्स के बाद कविता को फासीवादी पाशविक बर्बरता के विरुद्ध सीधे मुखर होना होगा। मलियाना, भिवण्डी, अयोध्या और सूरत की अगली कड़ी जब गुजरात के रूप में सामने आये तो ऐसे समय में कविता में बारीक तराश और रेशमी कतान एक किस्म की निर्दयता ही होगी और मात्र करुणा एवं सन्ताप में डूब जाना भी कायरता ही होगी। यहाँ बहस के विस्तार में जाने से बचने के लिए हम जान-बूझकर विशिष्ट कवियों और कविताओं के उदाहरण देने से बच रहे हैं। लेकिन एक आम उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करना ज़रूरी है। वली दकनी का मजार यदि किसी सामान्य दंगाई समय में धार्मिक कट्टरपंथी गुण्डों द्वारा तोड़ा गया होता तो यह किसी कविता का केन्द्रीय विषय या केन्द्रीय रूपक हो सकता था। लेकिन जिस समय सैंकड़ों स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार करके उन्हें टुकड़े-टुकड़े किया जा रहा हो और पेट चीरकर गर्भस्थ शिशुओं को निकालकर त्रिशूल की नोक पर टाँगा जा रहा हो, उस समय वली दकनी की मज़ार के तोड़े जाने को कविता का केन्द्रीय रूपक नहीं बनाया जा सकता। यह घटना हमारे समय के यथार्थ का प्रातिनिधिक बिम्ब रचते समय कहीं परिधि पर या पृष्ठभूमि में तो मौजूद रह सकती है लेकिन केन्द्र में नहीं रह सकती। इस नाते, सारे सुगढ़ता और तराश और प्रयोग के बावजूद, **देवी प्रसाद मिश्र** की कविता *'जो पीवे नीर नैना का'* मुझे उत्तर-गुजरात काल की एक कमज़ोर कविता प्रतीत होती है।

इसी तरह का एक महत्वपूर्ण सवाल कविता में धार्मिक रूपकों-बिम्बों के प्रयोग और मिथकों के आदर्शीकरण से जुड़ा हुआ है। साम्प्रदायिक फासिस्टों द्वारा मिथकों

और धार्मिक रूपकों-बिम्बों के विकृतिकरण के प्रतिकार सकारात्मक रूप में धार्मिक रूपकों-बिम्बों के प्रयोग या मिथकों के आदर्शीकरण द्वारा नहीं किया जा सकता। यह एक तरह का अनैतिहासिक नज़रिया होगा। ऐसा करना प्रकारान्तर से कट्टरपंथी हिन्दुत्व के मुकाबले एक सुधारवादी-उदारवादी हिन्दु को ला खड़ा करना होगा। पिछले दिनों लिखी गयी हिन्दी की बहुतेरी कविताओं का 'टोन' कुछ वैसा ही है, जैसा **कैफ़ी आज़मी** की नज़्म *'दूसरा वनवास'* का है जिसमें बनवास से लौटे राम अयोध्या में सरयू किनारे खून के धब्बे देखकर बिना पाँव धोये वापस जंगल लौट जाते हैं। छः दिसम्बर को उन्हें दूसरा बनवास मिलता है। वरिष्ठ कवि **शील** की कविता '30 अक्टूबर, 1990' धर्मान्धता और रामनाम और रामनाम के आधार पर वोट बैंक बनाने पर चोट करते हुए यह भी चिन्ता प्रकट करती है :

"तुलसी की मर्यादा राम पर
करते कुटिल कुठाराघात।"

हमें लगता है कि तुलसी के रामराज्य और राम की "मर्यादा पुरुषोत्तम" छवि को आदर्श रूप में प्रस्तुत करके 'जय श्रीराम' का नारा लगाते उन्मादियों का जवाब नहीं दिया जा सकता। धार्मिक कट्टरपंथ का जवाब केवल वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि और सही धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की प्रस्तुति द्वारा ही दिया जा सकता है, न कि किसी किस्म के धार्मिक यूटोपिया द्वारा। कविता में धार्मिक रूपकों-बिम्बों का प्रयोग, चाहे वह जिस किसी भी रूप में हो, हमारे रूढ़िबद्ध धार्मिक संस्कारों को अपील करता है। ऐसी कविताएँ सिर्फ़ सुधारवादी कातर कविताएँ ही हो सकती है। वे हमारे समय की फासीवादी चुनौती के सामने तनकर खड़ी नहीं हो सकती, मात्र करुण विलाप ही कर सकती हैं।

बेशक, साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध हाल के वर्षों में अशोक वाजपेयी और उनके स्कूल के विभिन्न कवियों ने भी थोक भाव से कविताएँ लिखीं हैं। यह स्वाभाविक है। क्योंकि फासीवादियों को तो अज्ञेय और अशोक वाजपेयी की भी कविता नहीं चाहिये। उन्हें अटल बिहारी की तुकबंदी से अधिक कुछ नहीं चाहिये। कविता का नाम सुनते ही फासीवादियों का हाथ पिस्तौल या बेहतर होगा कि कहें, त्रिशूल की मूठ पर चला जाता है। फासीवादी उपद्रव से कलावादियों के शान्त-स्वप्निल कलालोक में जो खलबली मच रही है, उससे उनका भी चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। लेकिन अशोक वाजपेयी सरीखे कवियों का साम्प्रदायिक फासीवाद-विरोधी स्वर गाँधीवादी मानवतावाद, नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता और कुलीनतावाद के सीमान्तों का अतिक्रमण किसी भी सूरत में नहीं कर सकता।

बहरहाल, इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अपने तमाम वैचारिक

विचलनों और अन्तरविरोधों के बावजूद, हिन्दी कविता ने अपने समय की सबसे जघन्य विभिषिका का सामना करने से जी कत्तई नहीं चुराया है। बर्बरता की शक्तियों के विरुद्ध खड़ी हिन्दी कविता में विफलता, क्षोभ, शोक, क्रोध, निरुपायता की मिली-जुली भावनाएँ उबलती-खौलती रही है। विगत पन्द्रह वर्षों की हिन्दी कविता ने अपनी तमाम कमज़ोरियों के बावजूद आश्वस्त किया है कि बर्बरता के विरुद्ध सक्रिय मानवीय शक्ति भविष्य की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए तैयार हो रही हैं। साथ ही, आज के समय ने हिन्दी कविता के समक्ष अपनी परम्परा और वर्तमान के अन्तरविरोधों के वस्तुपरक पड़ताल का भी अवसर प्रदान किया है। हमें इस अवसर को कत्तई खोना नहीं चाहिये। तभी जाकर, जैसा कि ब्रेष्ट ने कहा था, हम मानवद्रोही शक्तियों के विरुद्ध लेखन के जरिये लड़ सकेंगे और लोगों को यह दिखा सकेंगे कि हम लड़ रहे हैं। ब्रेष्ट के ही इन शब्दों को दुहराना हमारे आज के समय में कोई नारेबाजी नहीं बल्कि एक ज़रूरी और आकुल भावनात्मक अपील है : *"सभी देशों की मेहनतकश जनता के हित में, लेखकों को एक लड़ाकू यथार्थवाद को अपनाने के लिए ललकारा जाना चाहिये।"*

भारत के धार्मिक कट्टरपंथ के रूप में फासीवाद की जो चुनौती सामने खड़ी है, इसका ताल्लुक न तो धर्मोन्माद के मनोविज्ञान मात्र से है, न ही भाजपा के चुनाव जीतने या हारने से। इसकी जड़े हमारे समाज के विकास के इतिहास की कतिपय विशिष्टताओं में हैं, इसका आधार हमारे देश के पिछड़े पूँजीवाद का रोगी चरित्र है और इसकी पृष्ठभूमि है भूमण्डलीकरण के दौर का विश्व-पूँजीवाद। यह फासीवाद नासूर की तरह रिसता हुआ हमारे समाज में तबतक मौजूद रहेगा, जबतक सामाजिक-आर्थिक संरचना में बुनियादी बदलाव नहीं हो जायेंगे। तबतक इस शिकारी कुत्ते की जंजीर शासक वर्ग अपने हाथों में थाम्हे रहेगा। इसका इस्तेमाल आगे भी व्यवस्था के संकट के समाधान के लिए समय-समय पर होता रहेगा और व्यवस्था के संकट का फासीवादी समाधान शासक वर्गों के लिए भी नये-नये संकट पैदा करता रहेगा।

फासीवादी बर्बरता के विरुद्ध आगे एक लम्बी लड़ाई पड़ी है और समकालीन हिन्दी कविता की समालोचना भी इसी लम्बी लड़ाई की तैयारी के बहुविध उपक्रमों में से एक है।

(26 दिसम्बर, 2005 को विवेकवर्धिनी कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, हैदराबाद में स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग की ओर से आयोजित कार्यक्रम में प्रस्तुत)

हिन्दी कविता की समस्याएँ : कुछ फुटकल नोट्स

हिन्दी कविता में गत कुछ वर्षों से "लौटने" का आग्रह बहुत प्रबल है। अतीत की ओर लौटना जड़ों तक लौटना, स्मृतियों की ओर लौटना, बचपन की ओर लौटना, गाँव की ओर लौटना, राग की ओर लौटना... वग़ैरह-वग़ैरह। क्या भविष्य-स्वप्नों के लोप से, समता और न्याय से युक्त किसी सामाजिक ढाँचे और कल्पनाओं - संवेदनाओं से आविष्ट आत्मिक जीवन के निर्माण की परियोजनाओं के लोप से "लौटने" का यह अतिरिक्त आग्रह - दुराग्रह की हद तक का आग्रह पैदा हुआ है?

संधिबिन्दुओं पर रुककर हमें पीछे देखना होता है। संक्रमण की अवधियों में सिंहावलोकन करना होता है। स्मृतियों को टटोलना होता है। जड़ों के जरिए गहराई से ताकत लेनी होती है ताकि पत्तियाँ फैलाकर वायुमण्डल से प्राणवायु सोखी जा सके और अपने हरे पत्तों के जरिए सूर्य का प्रकाश सोखकर फोटो-संश्लेषण के जरिये सर्जना के लिए आवश्यक खुराक जुटाते रहा जा सके। पर जड़ों तक लौट जाने की, स्मृतियों में शरण लेने की बात तो स्वप्नों पर पाबन्दी लगाने जैसा होगा। विस्मृति के विरुद्ध संघर्ष जितना ज़रूरी है, उतना ही ज़रूरी है स्मृति-गुहाओं का निवासी बन जाने से बचना।

लौटना कहीं इसलिए तो नहीं कि आगे कुछ दीखता नहीं नंगी आँखों से? कहीं यह अनजाने ही पुनरुत्थानवाद की ओर जाना, या कम से कम, उसके लिए ज़मीन तैयार करना तो नहीं? लौटना कहीं वैज्ञानिक दृष्टि और इतिहास-बोध का अभाव तो नहीं? या यह आज के कठिन समय की एक फौरी काव्यात्मक प्रतिक्रिया तो नहीं? कहीं यह भौतिक-आत्मिक जीवन के गति के नियमों से अपरिचय और मानवद्रोही स्थितियों की मात्र अनुभव-सिद्ध आलोचना का परिणाम तो नहीं?



"लौटने" जैसा ही, समकालीन हिन्दी कविता का एक और बीज-शब्द है "बचाना"। लगातार बचाव की मुद्रा! "बचाना" - यह एक आर्त्त पुकार या अकर्मक कामना जैसा अधिक है, इसमें प्रतिरक्षात्मक संघर्ष का स्वर भी नहीं है। प्रत्याक्रमण

का उद्‌यम तो दूर ऐसी सोच भी नहीं है।

और कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे जिन चीज़ों को हम जीवन में बचाने के लिए कातरतापूर्ण चिन्ता और बेचैनी से भरे हुए हैं, उन्हें वैसे भी जीवन के बजाय संग्रहालयों में होना चाहिए।

आज भूमण्डलीकरण के दौर में साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी, उत्पादन से लेकर संचार-सूचना और विनिमय तक के क्षेत्र में अतिउन्नत तकनोलॉजी के सहारे अपने वर्चस्व को विस्तार दे रही है। अतिलाभ को लिप्सा एक ऐसे अराजकता का घटाटोप पैदा कर रही है जिसमें प्रकृति और मनुष्य दोनों ही तबाह हो रहे हैं, निचोड़े जा रहे हैं। कुछ लोग इस तबाही का कारण नई तकनोलॉजी में देखते हैं और उसे ही खारिज करते हुए पुराने उत्पादन के साधनों और जीवन-शैली को बचाना चाहते हैं। शत्रु नई तकनोलॉजी नहीं, पूँजी की सार्वभौम सत्ता है। पुराने उत्पादन के सम्बन्धों, साधनों को तो वैसे भी विस्थापित होना है। चिन्ता पुराने को बचाने की नहीं बल्कि उनके साम्राज्यवादी-पूँजीवादी विकल्पों को खारिज करके, नया, वैज्ञानिक जनपक्षीय-श्रमपक्षीय विकल्प प्रस्तुत करने की होनी चाहिए।

कविता में भी “बचाने” का अतिशय कोलाहल भी कुछ इसी किस्म के “स्वदेशी आन्दोलन” मार्का पुनरुत्थानवादी चिन्तन से अनुप्राणित प्रतीत होता है। कुछ नया बनाने की परियोजना नहीं, साहस नहीं, स्वप्न नहीं, मंसूबा नहीं, इसलिए हे भाई, जो बचा है, उसे ही किसीतरह बचा लें और जी लें।

ट्रैक्टर हार्वेस्टर के बरक्स हल-कुदाल को खड़ा करना, शहर के सामने गाँव को खड़ा करना, वर्तमान के विरुद्ध अतीत को, स्मृतियों को रखना, बचपन में गाँव में बिताये गये दिनों को याद करना और याद कर करके लम्बी आहें भरना - ये सरलीकरण भी कहीं-कहीं पुरातनपंथी आग्रह के रूप में ही प्रकट हो रहे हैं। “लोक” का (*Folk* के अर्थों) में अतिरिक्त आग्रह कभी-कभी अपने आपमें एक पुरातनपंथी दुराग्रह बन जाता है। जैसे विषमता से घबराकर आदिम साम्यवाद में वापस जाने का आग्रह प्रगति विरोधी होगा, उसी तरह प्राक्‌पूँजीवादी सामुदायिकता पर आधारित रागात्मक जीवन और लोक-कलाओं को भी सामाजिक जीवन में फिर से स्थापित नहीं किया जा सकता। हाँ वहाँ से प्रेरणा और ऊर्जा अवश्य ली जा सकती है, पर उसे आदर्श नहीं बनाया जा सकता - चाहे वह जीवन हो, या कविता।

“लौटने”, “बचाने” आदि के अतिरिक्त आग्रहों के साथ ही समकालीन हिन्दी कविता में एक तरह की कारुणिकता व्याप गई है। करुणा, दया, सहानुभूति और कातरता का घटाटोप है। हिन्दी कविता का मानववाद वर्ग-निरपेक्ष सा हो गया है। साम्राज्यवादी और विस्तारवादी युद्धों का ही नहीं, सभी युद्धों का विरोध। हिंसा-मात्र का विरोध। शान्ति की गुहार। इससे अँधेरे की हिंसक शक्तियों को बल ही मिल रहा है। कविता को मुखर होकर क्रान्तिकारी हिंसा और क्रान्तिकारी युद्ध का पक्ष लेना

होगा। मानव और मानवता को बचाने की अपील मात्र से सभी मानवों को तो कतई सहमत नहीं किया जा सकता, उस जनबल को भी खड़ा नहीं किया जा सकता, जो वास्तव में अपनी संगठित शक्ति से फासीवाद जैसी मानवद्रोही शक्तियों को पराजित करके मानवता को बचाने का काम करेगी।

अभी यदि कुछ बचाने का सवाल है तो यह कि **"बचा लें स्वाधीनता कि बाकी बची चीज़ों को/बचाने की कोशिश से उसका गहरा नाता है"** (पंकज सिंहः *'इतने सवालों के साथ'* : जनसत्ता, 30 जनवरी 2000) यह देखना सुखद है कि पंकज सिंह अपनी इसी कविता में **"बचाने की सोचते हैं तो पाते हैं/अफ़सोस में सिकुड़ी हमारी नीलाभ करुणा बर्बरता से/ बिंध रही है/ और बदलने की हिंसा अक्सर ज़रूरी हो रही है।"** बेशक कविता में एक बार फिर यह ऐलान करने का समय है और यह नारेबाजी नहीं बल्कि एक साहसी, ईमानदार, स्पष्टवक्ता कविता की भाषा है।



कभी-कभी लगता है कि प्रौढ़ता-परिवक्वता के नाम पर हिन्दी कविता दुनियादारी और चालाकी भरे एक कायरतापूर्ण बुढ़ापे में प्रविष्ट हो गई है। "ओजस्विता" - यह शब्द भी जैसे कविता की दुनिया में पुराना पड़ गया है, जैसेकि "उम्मीद" "और लड़ने" जैसे शब्द घिसे हुए सिक्के मान लिये गये हैं। कारण कहीं यह तो नहीं कि कवियों की बिरादरी, या उसका बड़ा हिस्सा एक घिसी हुई ज़िन्दगी का आदी हो गया है? जो भी नये शब्द, मुहावरे, रूपक, बिम्ब, गढ़े या प्रचलित किये जा रहे हैं, उनमें कुशल तराश और चमक तो है, पर जीवन की उष्ण, अनगढ़, तेजोमय दीप्ति नहीं है।

इधर प्रगतिशील दायरों के भीतर भी जनवादी कविता के आदर्श के तौर पर एक नये किस्म का रूपवाद परोसा जा रहा है। ऐसी कविताओं में निर्जीव चीज़ों का घटाटोप बहुत है, पर सक्रिय जीवन अनुपस्थित-सा है। यदि ऐसा बिम्ब रचने और रूपक गढ़ने के लिए किया गया है, तो भी बस बिम्बों-रूपकों का झिलमिलाता कुहरीला परिवेश ही रह जाता है, मन्तव्य कहीं खो जाता है। बिम्बों-रुपकों की खूबसूरत सजावट से सम्मोहित पाठक इस सज्जा और शब्दक्रीड़ा को ही कविता का मन्तव्य समझता है। ऐसी कविता में जीवन की त्रासदियों-विडम्बनाओं पर कुछ टिप्पणियाँ तो होती हैं, पर उनमें शब्द चातुर्य अधिक होता है, सोचने के लिए बाध्य कर देने की माद्दा नहीं होती। या फिर ये टिप्पणियाँ एक न्यायाधीश की-सी लगभग तटस्थ और सुगढ़-कुशल भाषा में होती हैं। शायद ऐसे कवि सोचते हैं कि जीवन में त्रासदियाँ-विडम्बनाएँ हैं ही इसलिए कि उनसे सुन्दर-कलात्मक कविताएँ लिखी जा सकें। यदि जीवन कविता के लिए महज कच्चा माल होगा तो कविता भावी जीवन के निर्माण के लिए कच्चा माल शायद कभी न बन सकेगी।

"औदात्य" या "उदात्तता" भी आज की कविता में जैसे पुरानी चीज़ हो गई है।

अलौकिक, जादुई, चमकदार और धुली-पुंछी, ठण्डी कविताएँ हृदय के सिंहासन पर टुच्चई का राज्याभिषेक करती हुई, हमें बार-बार यह विश्वास दिलाती हुई कि दिमाग़ महज एक अँधेरी गुफा है या फिर एक खोखल जिसमें चीज़ें यदि तरतीब से रखी जायें तो कविता के लिए कोई स्थान नहीं बचेगा।

मंगलेश डबराल ने अपनी बेतरतीब डायरी में 14 अगस्त 1997 को लिखा है, **"कुछ अजब तरीके की, वायवीय, वाष्पीय, लोकोत्तर, अलौकिक, पराभौतिक और पारलौकिक किस्म की कविता इनदिनों दिखाई देती है। 'आत्मा की आँख में निवास करता हुआ या रोता हुआ प्रागैतिहासिक ईश्वर' सरीखी कविताएँ। इनका स्वाद विचित्र-सा है। एक बासीपन या सीलापन जिसे एक 'फिनामेनन' की तरह पेश किया जा रहा है। इसकी जड़ें कहीं पश्चिम में ही हैं। जैसे फ़्रांस वग़ैरह में, जहाँ कविता इहलोक से विच्छिन्न होकर सिर्फ़ एक भाषिक और आत्मिक कल्लोल रह गई है। ...यह चारों ओर भीषण भौतिकता का निषेध नहीं करती, बल्कि उसके बीच प्रसन्नतापूर्वक अपनी आलौकिकता करती है। शेष समाज से उसका कोई संवाद नहीं है। क्या ऐसी ही कविता हमारी हिन्दी में भी आ गई है? उसमें ईश्वर से सीधी मुलाकात है। बीच में समाज कहीं नहीं है। यह आश्चर्यजनक है और कविता, स्वप्न और स्मृति के तर्क जहाँ तक जा पाते हैं उनसे भी परे लगती है। वह ऐसी चीज़ों से, जो कि पहले से ही रहस्यमय है, एक नया रहस्य बुनती हैं।"** *(स्वगत, 'सदी के अन्त में कविताः उद्‌भावना कवितांक)*। यहाँ मंगलेश से हमें सहमत होना है, पर अपने ढंग से, अपनी शर्तों पर। क्योंकि हर व्यक्ति अपने ढंग से और अपनी शर्तों पर ही किसी बात को स्वीकार करता है।

घुमाकर नाक पकड़ने के हठ से मुक्त होकर यह कहना होगा कि कविता को अपने देश-काल के सामाजिक व्यवहार के निकट लाना है, न सिर्फ़ निकट लाना है बल्कि इसमें सक्रिय रूप से शामिल करना है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की शैशवावस्था में ही **मार्क्स** ने कहा था, **"सामाजिक जीवन मूलतः व्यावहारिक है। सारे रहस्य जो सिद्धान्त को रहस्यवाद के गलत रास्ते पर भटका देते हैं, मानव व्यवहार में और इस व्यवहार के संज्ञान में अपना बुद्धिसंगत समाधान पाते है।"** ('फायरबाख़ पर निबन्ध' 1845)

हिन्दी कविता में आज सामान्यता (*Generality*) की प्रवृत्ति बहुत अधिक है और विशिष्टता (*Porticularity*) से बचने की कोशिश बहुत अधिक दीखती है। ठोसपन नहीं, वायवीयता अधिक है। सामान्यता कलात्मक लगती है। उसमें कोई जोखिम नहीं होता। विशिष्ट चीज़ या प्रवृत्ति की ठोस चर्चा को कविता में ला पाना और कविता का कुशलतापूर्वक निर्वाह कर पाना कठिन होता है और इसमें कवि को काव्येतर जोखिमों का सामना भी करना पड़ सकता है। बैल को सीधे सींग से पकड़ने के अपने खतरे तो हैं ही। हिन्दी की कविता अक्सर सामान्यता की भाषा में बात

करती है, यही कारण है कि आज कविता की दुनिया में प्रगति और प्रतिगामिता के बीच की विभाजक रेखाएँ प्रायः बेहद धुँधली-सी लगने लगी हैं। एक ही कवि वामपन्थी दायरों से लेकर कुलीन कलावंतों की महफिलों तक में प्रशंसित है और विडम्बना तो यह है कि वह चाहता भी यही है।

यह अनायास नहीं है कि जिस समय भारतीय नौकरशाही का निरंकुश ढाँचा फासीवाद की सेवा के लिए सर्वाधिक तत्पर है, उसी समय हिन्दी कविता की दुनिया में सबसे अधिक नौकरशाह, और यहाँ तक कि पुलिस के ऊँचे-ऊँचे अफ़सर भी प्रगतिशील धारा के कवि की मान्यता के साथ स्थापित हैं। या तो इस प्रगतिशीलता के मानकों में कोई खोट है, या फिर भारतीय राज्य सत्ता फासिस्ट अनुदारता की ओर नहीं बल्कि बुर्जुआ उदारतावाद की ओर उन्मुख है, या फिर सत्ताधारी काठ के उल्लू हैं, क्योंकि इतने सारे शीर्ष के अफसर कवि अपवाद नहीं हो सकते। यह सच है कि सच्ची वामपन्थी या जनवादी कविता आज भी उतने ही जोखिम का काम है, जितना हमारे महान अग्रज कवियों ने उठाया। सत्तातंत्र पहले से अधिक असहिष्णु हुआ है, पर उसने अतीत से सबक लेकर अपनी समझदारी बढ़ाई है और छद्मों को पालने-पचाने-प्रोत्साहित करने की कला में महारत हासिल की है।

कविता जब ज़्यादातर सामान्यता की भाषा में ही बात करती होती है और विशिष्ट मसलों पर ठोस चर्चा से बचती होती है, तो वह दरअसल सर्वस्वीकार्य बनने या सुपाच्य होने की चालाकी करती होती है और कलात्मकता का अतिरिक्त आग्रह इसमें खूब काम आता है।

आज का समय हमसे ज़्यादा से ज़्यादा प्रत्यक्ष राजनीतिक होने की माँग कर रहा है - कला-साहित्य की दुनिया में भी। एक के बाद एक राजनीतिक फैसले - पहले हमेशा की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्षतः और तुरत-तुरत, आम जनजीवन को प्रभावित कर रहे हैं। ऐसे में कविता यदि ठोस रूप में ज़िन्दगी के किसी पहलू की बात करेगी तो उसका राजनीतिक स्वर बहुत प्रच्छन्न, या आँखों से ओझल, नहीं हो सकता। ऐसे समय में, ऐसी कविता से कलात्मकता की कमी के नाम पर मुँह बिचकाने की आलोचक-वृत्ति ख़तरनाक है। जो कहते हैं, "आपकी कविता बहुत अधिक राजनीतिक है," उनसे मेरा कहना है, "माफ़ करना भाई, यही हमारे आसपास की ज़िन्दगी है।"

इसे कला माना जा रहा है कि कविता कई मुँह से बोले, कई अर्थ दे। कई धरातलों पर अर्थ-विस्तार नहीं, ऐसा अमूर्तन जो कविता को दोमुँहा-तिमुँहा बनाये। कविता अभिधा में अपनी बात कह दे या व्यंजना पारदर्शी हो तो चट कहा जायेगा कि कविता का "अर्थात्" सीमित है। हमें तो चाहिए कविता का सीधे-सीधे खुलता निहितार्थ - एक अर्थ - साक्षात्, हमारे किसी काम की नहीं वह काव्य चातुरी जिसे आप मान बैठे हैं कविता का अर्थात्।

●

जीवन में कविता की चौहद्दी के सिकुड़ने की चिन्ता भी इधर खूब प्रकट की जा रही है और गलत परिप्रेक्ष्य के कारण बहुतेरे लोगों को ग़लत नतीज़ों तक पहुँचा रही है। कुछ लोग इसका कारण छन्दों से मुक्ति मान रहे हैं, कुछ वाचिकता के ह्रास की बातें कर रहे हैं, कुछ लय के खो जाने में कारण देख रहे हैं और कुछ इसमें गुजरे ज़माने की प्रगीतात्मकता बहाल करना चाहते हैं।

जीवन में कविता की चौहद्दी सिकुड़ते जाने का मूल कारण पूँजीवाद है। भारत में प्राक् पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों के टूटने की आधी सदी लम्बी प्रक्रिया विगत लगभग दो दशकों के दौरान बहुत तेज हो गई है। इसने कविता की चौहद्दी को और अधिक संकुचित किया है। साथ ही इसने अन्य कला-विधाओं के साथ ही कविता में भी आभिजात्य का अतिरिक्त आग्रह पैदा किया है, एक तरह का कुलीन सौन्दर्य-बोध पैदा किया है।

एक किस्म की कविता छन्दबद्ध हो सकती है। पर छन्द अपने आप में अतीत की चीज़ है। उसका आग्रह जीवन के समकालीन काव्यात्मक बोध पर थोपा नहीं जा सकता, उसमें वह बँध भी नहीं सकता है। छन्द अतीत के काव्य रूप की निरन्तरता के रूप में कहीं आ सकता है, पर वह मुख्य रूप हो ही नहीं सकता। यही बात वाचिकता या एक हद तक, प्रगीतात्मकता के साथ भी लागू होती है। बच्चे की हरकतें बड़ी प्यारी लगती हैं पर यदि कोई प्रौढ़ बच्चों जैसी हरकत करे तो बचकाना होगा। कविता प्रौढ़ होगी तो छन्द से मुक्त होगी, उसकी लय भूमिगत होती जायेगी और वाचिकता का अवबोध (*Percoption*) भी बदलता जायेगा। कविता की कथित "गद्यात्मकता" उसकी प्रौढ़ता की सूचक है। फिर कविता में ऐसा क्या है जो उसे गद्य से अलग करेगा? मेरे विचार से मुख्यतः बिम्ब-विधान (*Imagery*)। वह एकदम सपाट बयान में भी हो सकता है और एक फैंटेसी में भी। और फिर उसमें एक लय तो होगी ही, वह ज़्यादा से ज़्यादा भूमिगत होगी, उसकी अन्तः सलिला उपस्थिति होगी। और फिर उसका एक प्रबन्ध होगा, विशिष्ट स्थापत्य होगा जो उसे गद्य से, अन्य विधाओं से भिन्न बनायेगा।

●

कविता में सपाटबयानी, मेरे ख़्याल से, एक धरातल पर कमज़ोरी है, तो दूसरे धरातल पर सबसे कठिन कला है। चीज़ों को सीधे-सीधे बयान करना और फिर भी कविता की शर्तों पर - कविता के मानकों पर खरा उतरना यह कोई सुगम काम नहीं। प्राणों को निचोड़कर ही कतिपय बड़े कवियों ने यह कला साधी है। हिन्दी कविता में यह बहुत कम सध पाई है। प्रायः सपाटबयानी हमारे यहाँ कमज़ोरी बनकर ही

आती है। पर इससे जो दूसरे ध्रुवान्त का आग्रह पैदा हुआ है, वह बहुत खतरनाक है। एक चालू जुमला-सा बन गया है कविता पर सपाटबयानी का, "क्रातिवादिता" का या मुखर राजनीतिक होने का लेबल चस्पाँ कर देने का, जो अखबारी समीक्षक बड़े पैमाने पर कर रहे हैं और उनसे बहस में उतरने का कोई मतलब नहीं है।

कविता से कला का हमारा आग्रह उस भाषा में नहीं हो सकता, जो कलावादियों की होती है। मैं समझती हूँ, कविता में आज अभिधा को साधने की ज़रूरत है। यह सबसे कठिन है, पर सबसे ज़रूरी है। व्यंजना हो तो एकदम पारदर्शी।

...कविता की चौहद्दी के सिकुड़ने के कारण मूलतः और मुख्यतः कविता की चौहद्दी के बाहर, हमारे सामाजिक जीवन में मौजूद है। कविता की चौहद्दी के विस्तार का सवाल मूलतः और मुख्यतः मौजूदा सामाजिक ढाँचे को एक नये, मानवीय ढाँचे द्वारा विस्थापित करने के सवाल से और इस दिशा में जन समुदाय के और स्वयं हमारे उद्यमों-प्रयासों से जुड़ा हुआ है। हाँ, इसके बाद कविता की चौहद्दी सिकुड़ने के उन कुछ गौण कारणों पर भी सोचा जा सकता है, जो खुद आज की कविता के भीतर मौजूद हैं - अन्तर्वस्तु के स्तर पर और शिल्प के स्तर पर भी।



बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के घनिष्ठ सहयोगी और गत शताब्दी के एक महान क्रान्तिकारी संगीतकार **हान्स आइस्लर** ने एक जगह लिखा है कि ब्रेष्ट पारंपरिक संगीत के रूपवाद और उसकी प्रस्तुति की अतिरेकपूर्ण औपचारिकताओं से बहुत अधिक चिढ़ते थे। वे मानते थे कि 'सिम्फनी कंसर्ट' और 'ऑपेरा' सिर्फ़ 'इमोशनल कन्फ़्यूजन' पैदा करते हैं और दिमाग को बाहर रखकर ही उन्हें सुनने जाना होता है।

ब्रेष्ट संगीत से 'रीजन' की - तर्कणा की माँग करते थे और मानते थे कि 'रीजन' का इस्तेमाल ही सबसे बढ़िया मनोरंजन है। संगीतकारों के लिए ब्रेष्ट की यह माँग एकदम अनुचित थी और सदमा पहुँचाने वाली थी। पर इस माँग का आधार सर्वथा उचित था और तर्कसंगत था।

समकालीन कविता से भी आज हमारी माँग 'रीजन' की है - तर्कणा की है। जो भी पुनरुत्थानवादी, कट्टरपंथी ताकतें, फासिस्ट ताकतें आज सामाजिक-राजनीतिक जीवन में ऐतिहासिक विपर्यय के माहौल में हावी हो रही हैं, वे वैज्ञानिक-ऐतिहासिक तर्कणा को ही अपने वैचारिक-सांस्कृतिक हमले का निशाना बना रही हैं। हम मानववाद और भाइचारे की भावुकतापूर्ण अपीलों से या बुर्जुआ जनवाद की दुहाई देने मात्र से इसका प्रतिकार नहीं कर सकते। हमें सांस्कृतिक कर्म के द्वारा सही इतिहास-बोध से निःसृत 'रीज़न' को सामाजिक जीवन में स्थापित करने की कोशिश करनी होगी और कविता के क्षेत्र में भी ऐसा ही करना होगा।

कविता को तर्कणा की शक्ति से लैस करना होगा और अपना मंतव्य ठोस तर्कों

के साथ प्रस्तुत करना होगा। महज कुछ निष्पत्तियाँ रख देना, बिम्बों के जरिए कुछ आनुभाविक निष्कर्ष मात्र रख देना ही काफ़ी नहीं होगा। कविता के निष्कर्ष भी बुद्धिसंगत होने चाहिए और उन निष्कर्षों तक पहुँचने की प्रक्रिया भी वहाँ उपस्थित होनी चाहिए।



और अन्त में एक स्पष्टीकरण यह कि यहाँ हमने हिन्दी कविता की सिर्फ़ समस्याओं की ही चर्चा की है, इसकी समृद्धि या उपलब्धियों की नहीं। उपलब्धियों की चर्चा होती रही है और उन पर हमें गर्व है। पर आज संकटों, सवालों और चुनौतियों पर बातचीत का समय है। आज का समय कवि-कर्म से भी कुछ अतिरिक्त अपेक्षा कर रहा है। एक नये प्रबोधन (*Enlightenment*) का आग्रह कविता से भी करना अनुचित नहीं होगा। राजनीतिक नारेबाजी या यहाँ तक कि प्रत्यक्षतः राजनीतिक हुए बिना भी, कविता एक उत्कृष्ट कविता होने की सभी शर्तों को पूरा करती हुई, उन शक्तियों के लिए खतरनाक हो सकती है, या कम से कम परेशानी का सबब बन सकती है जो यथास्थिति की पक्षधर है या समाज को पुरातन अथवा मध्यकालीन अँधेरे की तरफ ले जाना चाहती हैं। इसलिए हमने इस आपसी बातचीत में अपनी चिन्ता और सरोकार के तौर पर कुछ समस्याओं की चर्चा की है, और महज समस्याओं की ही चर्चा की है। बेशक कविता सिर्फ़ संघर्ष का एक उपकरण ही नहीं है, वह हर कलात्मक सृजन की तरह सम्पूर्ण जीवन को सम्बोधित करती है और आत्मिक जगत की हर छोटी से छोटी हलचल, कम्पन, नाद, अनुनाद को नोटिस में लेती है, पर यह सब कुछ वह इतिहास के मंच पर घट रही घटनाओं से अछूती रहकर नहीं कर सकती और न ही इतिहास के युगीन आग्रहों-माँगों से मुँह मोड़कर कर सकती है। हमारी कविता को बर्बरता की आँखों में आँखें डालकर खड़ा होना है और हम कवियों को इसकी हर कीमत चुकाने के लिए तैयार रहना है। नेरूदा की ये पंक्तियाँ हमारे अपने देश-काल के लिए भी है :

> और पूछोगे तुम
> क्यों नहीं करती उसकी कविता
> उसके देश के
> पेड़ों और फूलों की बात?
> आओ देखो, गलियों में बहता लहू!
> गलियों में बहता लहू!
> गलियों में बहता लहू!

(फरवरी, 2002 में दिल्ली में प्रतिरोध मंच
द्वारा आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत)

हमारा यह समय और कविता

शब्द ने
रक्त में जन्म लिया,
अन्धकारमय देह में बढ़ा, स्पन्दनशील,
और होंठों और मुँह से होकर उड़ा।
दूर और दूर, निकट और निकट,
वह लगातार लगातार आता रहा
बार बार, बार बार वह लौटकर आया।
मृत पूर्वजों से और यायावर जातियों से
ऐसे देशों से जो पत्थर हो गये,
ऐसे देश से जो अपने दरिद्र कबीलों से ऊब चुके
क्योंकि जब मुसीबत राहों पर फिरने लगी
लोग चल दिये और वहाँ पहुँचे
जहाँ उन्होंने नयी भूमि और जल को परिणीत किया
ताकि वे अपने शब्द पुनः उपजा सकें।
और इसतरह यही विरासत है,
और यही वह तरंग-दैर्ध्य है जो हमें
मृत मानवों से और अभी आलोक में जो नहीं आये हैं,
ऐसे प्राणियों के उदय से जोड़ता है।

- पाब्लो नेरूदा ('शब्द' कविता से)

स्मृतियों और स्वप्नों के बीच, मृत पूर्वजों की विरासत और आने वाली पीढ़ियों के जीवन के बीच सेतु के रूप में कविता सदा-सर्वदा उपस्थित रहेगी। कविता ख़त्म नहीं हो सकती। जैसा कि **मुक्तिबोध** ने कहा था, वह *"आवेग-त्वरित काल-यात्री"* है।

संकट? हाँ, हमारा समय कविता के लिए संकट का समय है। पर कविता के लिए ही क्यों? हमारा समय सभी कलाओं के लिए संकट का समय है। यह हमारे

बहिर्जगत और अन्तर्जगत में मानवीय सारतत्व की हिफ़ाजत के लिए बेहद-बेहद कठिन समय है। बेशक़ विचारों की दुनिया में भी यह संकट का समय है। पर विचारों की दुनिया में संकट जितना गहन है, उससे कहीं अधिक कला का कविता की दुनिया में है। वहाँ वस्तुगत यथार्थ के बुनियादी तर्क को सीधे पकड़ने की जद्दोज़हद है। एक कवि या कलाकार का आत्मसंघर्ष कुछ अधिक जटिल है। हम जीवन की अमूर्त लय को, पारभासी पर्दे के पीछे के वर्णक्रम को पकड़ने-देखने की कोशिश करते हैं। इतिहास के कठिन संक्रमण-कालों में, जब जीवन हमारे सामने झुण्ड के झुण्ड नयी परिघटनाओं को ला उपस्थित करता है तो फिर कविता की दुनिया में दुर्दान्त, गम्भीर संकट उठ खड़ा होता है। सामाजिक-आर्थिक संरचना के वस्तुजगत में भी यह संकट होता है, लेकिन वहाँ एक जीवन-दृष्टि (या दर्शन) के अतिरिक्त आर्थिक मूलाधार का विज्ञान (राजनीतिक अर्थशास्त्र) भी राजनीतिक विश्लेषक और कार्यकर्ता की मदद करता है, चीज़ों को समझने में। एक कवि के पास जीवन से उसकी नज़दीकी के अतिरिक्त बस उसकी जीवन-दृष्टि होती है। यदि वह राजनीतिक अर्थशास्त्र का ज्ञाता हो, तो भी संक्रमणशील समय के तरल यथार्थ के कलात्मक पुनर्सृजन में उसे उतनी मदद नहीं मिलने वाली। उसका इतिहास-बोध ज़रूर उसका सहायक होता है, लेकिन मात्र इतिहास-बोध के सहारे ही नये यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन नहीं हो जाता। उसके लिए नये सौन्दर्य-विधान का अन्वेषण ज़रूरी होता है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र जड़-सूत्रों का समुच्चय नहीं है, वह जीवन-जगत के साथ-साथ विकसित होते हुए ही जीवित रह पाता है।

कविता का यही संकट आज बुनियादी है, जो हर ईमानदार कवि के सामने गम्भीर रूप में उपस्थित है। **येसेनिन** की ये पक्तियाँ हमारे समय पर सबसे अधिक लागू होती है :

"कवि होना ऐसा है जैसे
जीवन के प्रति निष्ठा रखना,
मानो खुद उधेड़कर अपनी कोमल चमड़ी
देना लहू उड़ेल और लोगों के दिल में।"



पर कविता के संकट का एक दूसरा भी आयाम है। यह ख़ासकर वामधारा की कविता के दायरे में है। इस संकट का मूल कारण भारतीय (खुशहाल मध्यवर्गीय) बुद्धिजीवी के ऐतिहासिक विश्वासघात में निहित है। **मुक्तिबोध** ने इनमें से कुछ को मंत्री, उद्योगपति, सेनाधिकारियों और डोमाजी उस्ताद के साथ रात के अँधेरे में जुलूस में चलते देख लिया था। आज इन "गहन मृतात्माओं" में ऐसे कवि-कलाकारों की संख्या बहुत अधिक है जो अपने को वामपन्थी कहते हैं। इन नववामपन्थी संशयात्माओं

की संख्या घोषित कलावादियों से भी अधिक है। ये सुखभोगवादी सत्ताधर्मी हैं जिनके पास तमाम सलमा-सितारों-तमगों के साथ ही एक लाल कलगी भी है। दरअसल भारत का जो प्रगतिशील मध्यवर्ग है, वह श्रम की संस्कृति की बजाय राष्ट्रीय जनवादी (नेशनल डेमोक्रेटिक) भावनाओं के साथ वाम के पक्ष में आया था। आज इनका बुर्जुआ राष्ट्रवाद पूँजी के अन्तरराष्ट्रवाद में समाहित हो चुका है और इनका जनवाद (डेमोक्रेसी) इन्हें हासिल हो चुका है। पूँजीवाद जिन्हें जनवाद दे ही नहीं सकता, उनका पक्ष ये त्याग चुके हैं। समाजवाद का झण्डा इस खुशहाल बुद्धिजीवी समुदाय के बड़े हिस्से ने धूल में फेंक दिया है। ज़रा हिन्दी के वामपन्थी कवियों को देखा जाये। इनमें से अस्सी प्रतिशत नागरिक प्रशासन, पुलिस प्रशासन और वित्तीय प्रतिष्ठानों के उच्चाधिकारी, प्रोफेसर, पत्रकार, डाक्टर आदि हैं। यह होना कोई गुनाह नहीं है। पर यह 'कम्पोज़ीशन' अपने आप में कुछ बताता है। दूसरी बात, और अहम बात यह है कि ये जन-जीवन की परेशानियों और सरगर्मियों से बहुत दूर हैं। चूँकि आज भी वाम कविता का ही बाज़ार-भाव ठीक-ठाक है, इसलिए ये वामपन्थी हैं। पर इनमें से अधिकांश स्वयं 'एलियनेशन' के शिकार हैं, मुक्तिबोध के ब्रह्मराक्षस के बौने-प्रहसनात्मक संस्करण हैं, उन्मुक्तमना विलासी और पाखण्डी हैं, गम्भीर जोकर हैं।

ऐसे कवियों की प्रजाति नेरूदा, नाज़िम हिक़मत, ब्रेष्ट, मुक्तिबोध आदि की बातें करती है, लेकिन इसके भीतर जनता के संघर्षों और उनके भविष्य के प्रति गहन अनास्था है। ये क्रान्ति के "महावृत्तान्तों" के तथा "सर्वसमाहारी" विचारों के, यहाँ तक कि प्रबोधनकालीन मानवतावादी आदर्शों के भी विरोधी हैं। ये संशयात्माएँ हैं, जिनका अन्ततोगत्वा विनाश इतिहास का नियम है, पर आज इनका प्रभाव गहरा है। इनका संशयवाद दरअसल इनके अपने वर्गीय परिवेश की देन है। जैसे ये कवि हैं, वैसे ही वामपन्थी आलोचकों की भी कमी नहीं है। पूरी की पूरी गिरोहबन्दी है। इसने प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की सारी विभाजक-रेखाओं को मिटा दिया है। ऐसे लोग भी कविता के संकट की बात करते हैं। पर उनके विधवा-विलाप की अपनी अलग ज़मीन है। उनकी कविता का संकट उनके जीवन की उपज है। वे अपने सामाजिक अपराधों और गुप्त रोगों को छुपाने के लिए एक किस्म का स्वाँग रच रहे हैं और जो वास्तविक संकट है उसे गम्भीर चर्चा का विषय नहीं बनने दे रहे हैं। संकट की उनकी चीख-पुकार पर तो बस यही कहा जा सकता है : चुप्प! ढोंगियो, कायरो, मानवद्वेषियो, चुप्प!!



लेकिन कविता के साम्प्रतिक संकट से इनकार नहीं किया जा सकता। निश्चय ही, हमारे समय में कविता की हिस्सेदारी पूर्वापेक्षा घटी है। इसके वस्तुगत कारण हमारे समय के सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक ताने-बाने में निहित हैं,

लोभ-लाभ की संस्कृति के वर्चस्व और 'कमोडिटी फेटिशिज़्म' के घटाटोप में निहित है, पूर्णता की हदों तक जा पहुँचे श्रम-विभाजन जनित 'एलियनेशन', सामाजिक समष्टि के विघटन और मानवीय सारतत्व के ह्रास में निहित हैं। यह सब कुछ **मार्क्स** और फिर **लेनिन** के ज़माने के पूँजीवाद में भी था। लेकिन आज के भूमण्डलीकृत पूँजीवादी समाज में जितना है, उतना पहले कभी नहीं था। श्रम-विभाजन की दासता का सार्वभौमिक संकुचनकारी प्रभाव आज अत्यधिक व्यापक एवं सूक्ष्म हो गया है। इसने कविता के सामाजिक उत्स को संकुचित कर दिया है, उसके प्रभाव को कुन्द किया है तथा उसे एकांगी बना दिया है। यूँ तो **मार्क्स** की यह प्रस्थापना पूँजीवाद के हर दौर पर लागू होती है कि *"पूँजीवादी उत्पादन आत्मिक उत्पादन के कुछ रूपों से, उदाहरण के लिए, कला तथा काव्य से शत्रुता रखता है"*, पर आज के परभक्षी, वित्तीय वर्चस्व वाले पूँजीवाद पर यह बात और अधिक नग्न, प्रत्यक्ष और विकट रूप में लागू होती दीख रही है।

लेकिन कविता के इस संकट का अर्थ कविता की मृत्यु की सम्भावना कदापि नहीं है। इस "आवेगत्वरित कालयात्री" की यात्रा इस सघन संकट में भी जारी है। पूँजीवादी समाज की संरचना एकाश्मी नहीं है। पूँजीवाद में सिर्फ़ पूँजीवाद ही नहीं होता। हर स्तर पर इसका प्रतिकार भी इसके भीतर ही मौजूद रहता है। चीज़ों को केवल द्वन्द्वात्मक रूप से ही समझा जा सकता है। शोषण की पूँजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही उन मानवतावादी आदर्शों के साथ गहन अन्तरविरोध रखता है जो कलाकारों को प्रेरणा देता है। कलात्मक सृजन में लगे लोगों में अपने आदर्शों और पूँजीवादी समाज के अन्तरविरोध के बारे में जितनी ही अधिक चेतना होती है, पूँजीवादी समाज की बर्बरता-अमानवीयता के प्रति उनका विरोध उतना ही मुखर और तीव्र होता है।

यह समय इतिहास में क्रान्ति की धारा पर प्रतिक्रान्ति की धारा के हावी होने का है। यह ऐतिहासिक विपर्यय का समय है। साथ ही, पूँजी की शक्तियाँ आज नये-नये हरबा-हथियारों से लैस होकर आम लोगों के जीवन के साथ ही मानवीय मूल्यों पर भी व्यापकतम, सूक्ष्मतम और कुशलतम ढंग से आक्रमण कर रही हैं। इनकी कार्यप्रणाली को समझने की चुनौती यदि राजनीति के दायरे में है तो कला के दायरे में भी है। भावोद्रेकों, उच्छवासों, उलाहनों और अनुभववादी प्रेक्षणों से कुछ नहीं होने वाला है। कवि-कलाकार को भी वैचारिक धरातल पर चीज़ों को समझना होगा। बाह्य यथार्थ को समझकर ही उसपर विजय हासिल की जा सकती है। अन्यथा स्वाभाविक है कि बाह्य यथार्थ का आतंक हमारी कविता को एकायामी और कमज़ोर बनायेगा। फिर चाहे कविता का रेशमी सूत जितना बारीक काता जाये, चाहे जितनी पच्चीकारी की जाये, बाहर से मुँह मोड़कर अन्तस्तल के गुहान्धकार में चाहे जितना भीतर धँस लिया जाये, कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला है।

यह चुनौती है, जिसका आज के समय में हम कविगण सामना कर रहे हैं।

समस्या यह है कि आज अधिकांश सच्चे-संवेदनशील कविगण भी सामाजिक आन्दोलनों से ही नहीं, बहुसंख्यक आम लोगों के जीवन की आम सरगर्मियों से भी दूर हैं। और न केवल जीवन से ही, बल्कि किताबों से भी वे दूर हैं। न तो उनके पास अपना अनुभवसंगत ज्ञान है, न ही पहले की पीढ़ियों और विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय अपने समकालीनों द्वारा अर्जित अवधारणात्मक ज्ञान है। ऐसी स्थिति में आज की कविता समकालीन वस्तुगत यथार्थ के मिथ्याभास को भेदने में काफ़ी हद तक विफल सिद्ध हो रही है। वह प्रतीति को भेदकर सार तक नहीं पैठ पा रही है। आलोचनाजगत पर भी कूपमण्डूक डण्डीमार पंसारियों का प्रभुत्व है। वे कुछ सहायता करने के बजाय तरह-तरह की दुरभिसंधियों के द्वारा संकट को बढ़ाने का ही काम कर रहे हैं।

मूलत : यही कारण है कि पहले की अपेक्षा कविता आज वृहत्तर समुदाय से अधिक कटी हुई है। इसका वस्तुगत कारण आज के पूँजीवादी समाज में निहित है और मनोगत कारण कवियों के जीवन में निहित है जो "जनसंगऊष्मा" से रिक्त है। व्यापक स्तर पर एक मनोगत कारण यह भी है कि हमारे युग के ऐतिहासिक परिवर्तन की हरावल शक्तियाँ फिलहाल वैचारिक रूप से कमज़ोर हैं और बिखरी हुई भी हैं। यह स्थिति, लाजिमी तौर पर कविता को भी प्रभावित कर रही है। पर बात यदि कवियों और कविता के जीवन पर ही केन्द्रित करें, तो कहा जा सकता है कि 'कमोडिटी फेटिशिज़्म' जनित अमूर्तन ने वास्तविक, सकारात्मक, कलात्मक अमूर्तन को काफ़ी हद तक विस्थापित कर दिया है। हमारा जटिल जीवन जगत का हमारे मानस से होने वाला जो परावर्तन कविता के बिम्बों-छवियों के रूप में ढल रहा है, उसकी विकृति का कारण परावर्तक लेन्स का नुक़्स है और उसकी गलत पोजीशनिंग है।

लेकिन यहीं पर एक और बात की सफाई भी ज़रूरी है। कविता के वृहत्तर समुदाय से एकदम प्रत्यक्षतः जुड़े होने के बारे में वामपन्थी धारा के भीतर प्रायः एक लोकरंजकतावादी (पॉपुलिस्ट) किस्म की सोच हावी रही है। पूँजीवादी समाज के श्रम-विभाजन जनित परिवेश में, कविता व्यापक जनसमुदाय के बीच, प्रत्यक्षतः और तुरत-फुरत प्रभाव कत्तई नहीं छोड़ सकती। केवल सामाजिक उद्वेलनों के समय में, जब अलगाव की दीवारें कुछ हद तक टूटती हैं, तो कुछ हद तक यह सम्भव हो पाता है। लेकिन गहन वैचारिक कविता उस समय भी उस हद तक जन-जन तक नहीं पहुँच पाती, जिस हद तक 'एजिटेशनल' कविता या आह्वानमूलक गीत पहुँच पाते हैं। वह उन्नत चेतना वाले लोगों और वर्ग-सचेत तत्वों तक ही पहुँचती है और फिर उनके माध्यम से, परोक्ष रूप से, आम जन को प्रभावित करती है। सम्प्रेषणीयता के प्रश्न को अतिसरलीकृत करके देखने की प्रवृत्ति पूँजीवादी समाज में कला की स्थिति न समझने के चलते पैदा होती है। गहन वैचारिक कविता आम लोगों तक सीधे केवल

तभी पहुँच सकती है जब पूँजीवादी श्रम-विभाजन और तज्जनित मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच की अन्तर्वैयक्तिक असमानता का कम से कम एक हद तक लोप हो जाये। कला तब पूरी तरह से उत्पादक वर्गों के प्रत्यक्ष उपयोग की सामग्री होगी, जब मानव समाज आवश्यकता के राज्य से स्वतंत्रता के राज्य में संक्रमण कर जाये। तब जैसा कि **एंगेल्स** ने कहा था, *मानव सभ्यता के वास्तविक इतिहास की शुरुआत होगी और अबतक का इतिहास प्रागैतिहास बन जायेगा।*



अब एक बार फिर मूल प्रश्न पर वापस लौटें। कविता के हाशिए के जीवन के लिए कविता की भाषा, शिल्प या बुनावट को मुख्यतः ज़िम्मेदार नहीं माना जा सकता। भाषा, शिल्प या बुनावट का मसला सारभूत समस्या नहीं है। यह सारभूत समस्या की रूपगत अभिव्यक्ति है। कविता के हाशिए के जीवन का वस्तुगत कारण आज की सामाजिक संरचना में निहित है और मनोगत कारण यह है कि आज के संजटिल यथार्थ-विन्यास को, उसकी गतिकी को, समझ पाने में हम कविगण फिलहाल विफल हैं, या कम से कम, काफ़ी हद तक विफल हैं। कविता में जो जटिलता-कृत्रिमता पैदा हुई है, वह हमारे समय की जटिलता कृत्रिमता का प्रतिबिम्बन है और साथ ही कवि के उलझे दिमाग का, उसकी आधी-अधूरी, या दिग्भ्रमित, या क्रियाविच्छिन्न समझ का भी प्रतिबिम्बन है।

गोविन्द पुरुषोत्तम देशपाण्डे ने अपने एक साक्षात्कार में सृजनशीलता को इसतरह परिभाषित किया था : *"...जीवन और जगत के बहुआयामी यथार्थ को एक बने-बनाये ढाँचे में ढालकर यांत्रिक रूप से प्रस्तुत करने के बजाय जब हम एक नये ढंग से व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को समझते हुए उस यथार्थ को सामने लाते हैं - चाहे साहित्य और कलाओं के रूप में, चाहे दर्शन और विज्ञान के रूप में, चाहे राजनीतिक और सामाजिक कार्यों के रूप में - तब हम अपनी सृजनशीलता का परिचय देते हैं। सृजनशीलता नये ढंग से कुछ करने में दिखाई पड़ती है। लेकिन यह नयापन फ़ैशन जैसा नयापन नहीं, ऐतिहासिक नयापन होना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें, तो सृजनशीलता ऐतिहासिक नवीनता में होती है। दूसरे शब्दों में कहें, तो सृजनशीलता ऐतिहासिक नवीनता में होती है।"* इतिहास के कुछ दौर यदि सृजनशीलता के उभार के दौर होते हैं तो कुछ इसके ह्रास के दौर होते हैं। क्षुद्रताओं के इस समय में सृजनशीलता का ह्रास केवल कविता में ही नहीं हुआ है। यह सर्वव्यापी है। *सृजनशीलता हमेशा सामाजिक होती है,* **एजाज़ अहमद** ने यह ठीक ही कहा है। जिस हद तक हमारे इस समय में सामाजिकता का ह्रास हुआ है, उसी हद तक सृजनशीलता का भी ह्रास हुआ है।



लेकिन कविता के लिए यह जो संकट का समय है, यही कविता की नयी ज़मीन के उद्घाटित होने के समय को जन्म देगा। यहाँ भी हमें द्वन्द्वात्मक होना होगा और विपरीतों की एकता के सूत्र को लागू करना होगा। अभी संकट का पहलू प्रधान है, कल इसका विपरीत पहलू प्रधान होगा। यह नये प्रयोगों का, नयी सृजनशीलता का पहलू होगा। आज भी यह मौजूद है, लेकिन नितान्त गौण पहलू के रूप में मौजूद है। यूँ भी कठिन संक्रमण के दौर ही प्रायः कविता के नये, महान रूपों को जन्म देते रहे हैं। आने वाले समय में जीवन की ही तरह कला की दुनिया में भी नये महावृत्तान्त रचे जायेंगे। महावृत्तान्तों के स्थायी अन्त की बात अतार्किक और अनैतिहासिक है। अतिआशावादी होने का जोखिम मोल लेकर भी मैं यह कहना चाहूँगी कि क्षुद्रताओं का समय स्थायी नहीं हो सकता।

हम रोज़-रोज़ के अपने जीवन में, अपने समय के संकट से टकराते हैं, इसकी चुनौतियों को स्वीकारते हैं और उनसे जूझते हैं। हमारे काव्यात्मक चिन्तन की दुनिया में भी यह संघर्ष प्रतिफलित, प्रक्षेपित और प्रतिबिम्बित होता है। एक कवि के आत्मसंघर्ष की व्याख्या मैं इसी रूप में करती हूँ। यह दुर्निवार आत्मसम्भवा अभिव्यक्ति की साहसिक खोजी यात्रा है। इस यात्रा में हताशा और थकान के कालखण्ड भी आते हैं और आह्लाद और उपलब्धियों के दिन या क्षण भी आते हैं। कुछ बिम्ब उभरते हैं, कुछ स्वप्न-दृश्य सामने आते हैं, कुछ रूपक और कुछ नाटकीय आख्यान सुनिश्चित रूपाकारों में ढलने लगते हैं। कभी एक कविता जन्म लेती है तो कभी सबकुछ सहसा दृश्यपटल से तिरोहित हो जाता है। यूँ हमारे भीतर कभी तो एक कविता शुरू हो जाती है और कभी-कभी वह शुरू होते-होते रह जाती है और त्रासद विफलताओं के खाते में कुछ नयी प्रविष्टियाँ दर्ज़ हो जाती हैं। यूँ जीवन चलता रहता है और कविता भी।

('अन्यथा' अंक-5, नवम्बर, 2005 में प्रकाशित)

अपसंस्कृति और साहित्य की भूमिका

(हमारे समय में साहित्यिक सृजन की समस्याएँ और चुनौतियाँ)

जिसे आम तौर पर 'अपसंस्कृति' कहा जाता है, वही आज के पूँजीवादी समाज की वर्चस्वकारी संस्कृति है। कुछ दशकों पहले के मुकाबले इसमें एक ग़ौरतलब बदलाव यह आया है कि तथाकथित सूचना-संचार क्रान्ति ने घर-घर तक इसकी पहुँच और पैठ को इतना गहरा बना दिया है कि इसकी सत्ता सर्वव्यापी प्रतीत होती है। लेकिन जो बदलाव अधिक महत्वपूर्ण है, वह है इसकी अन्तर्वस्तु में बदलाव। पूँजीवादी संस्कृति जितनी रुग्ण, निरंकुश और मानवद्रोही रूप में आज हमारे सामने है, उतनी पहले कभी नहीं थी।

पूँजी की इस संस्कृति की, इसके सांस्कृतिक वर्चस्व के बुनियादी कारणों की पहचान-पड़ताल हमें करनी होगी और यहीं से जनता के साहित्य की आज की भूमिका को समझने की शुरूआत होगी। आज से एक शताब्दी से भी कुछ अधिक समय पहले **कार्ल मार्क्स** ने अपनी महान कृति **'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त'** में यह स्थापना दी थी कि "पूँजीवादी उत्पादन आत्मिक उत्पादन के कुछ रूपों से, उदाहरण के लिए कला और काव्य से शत्रुता रखता है।" मार्क्स के जीवन काल से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक, या कुछ हद तक उसके बाद तक भी, पूँजीवाद के अन्तर्गत साहित्य और कला का विकास हुआ। मार्क्स यह मानते थे कि पूँजीवाद के अन्तर्गत साहित्य और कला का विकास सम्भव है, लेकिन उनकी स्थापना यह थी कि पूँजीवादी यथार्थ के अन्तरविरोध के बारे में रचनाकार में जितनी गहरी समझ होगी, पूँजीवादी सम्बन्धों की अमानवीयता के प्रति उसका विरोध भरा स्वर उतना ही तीव्र और मुखर होगा। यही वह ज़मीन थी, जिसपर खड़े होकर **शेक्सपीयर** ने मुद्रा की विकृतिकारी शक्ति को पहचाना था और **बाल्ज़ाक** ने इसी जगह से यह घोषणा की थी कि "हर सम्पत्ति-साम्राज्य अपराध की बुनियाद पर खड़ा होता है।"

बीसवीं शताब्दी साम्राज्यवाद की शताब्दी थी, जब अनुत्पादक और परजीवी वित्तीय पूँजी की वरीयता और निर्णायक भूमिका स्थापित हो चुकी थी। इसी ज़मीन पर खड़े होकर 1930-31 में **मक्सिम गोर्की** ने लिखा थाः "श्रम की दुनिया में क्रान्ति

की आवश्यकता की चेतना उत्पन्न हो गयी है। साहित्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उसकी मदद करे जो विद्रोह के लिए उठ खड़ा हुआ है।" वह काल अक्टूबर क्रान्ति के बाद समाजवादी निर्माण का समय था और वह समय था जब पूँजीवादी विश्व पर महामन्दी ने तड़ित प्रहार किया था।

आज भी हम एक पूँजीवादी दुनिया में ही जी रहे हैं। लेकिन यह एक अलग समय है। भूमण्डल पर वित्तीय पूँजी के निर्णायक वर्चस्व के इस दौर में पूँजी के क्रिया-व्यापार की प्रणाली में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। ये परिवर्तन ही मौजूदा रुग्ण, मानवद्रोही बुर्जुआ संस्कृति की आधार भूमि तैयार करते हैं। अतः इन परिवर्तनों को जानना-समझना हमारे लिए बेहद ज़रूरी है। साथ ही, हमें यह भी समझना होगा कि यह विश्व सर्वहारा क्रान्तियों के अभूतपूर्व पराजय, इतिहास की पुरोगामी धारा के अभूतपूर्व विपर्यय और पश्चयगामी धारा के अभूतपूर्व पुनःस्थापना का काल है। और यदि हम पूँजीवादी सभ्यता को अमर-अविनाशी नहीं मानते, यदि हम 'इतिहास के अन्त' में विश्वास नहीं करते, यदि हम यह नहीं मानते कि छः अरब लोगों की मानव-सभ्यता का अन्त बर्बरता की किसी अँधेरी बन्द सुरंग में होगा, तो हमें यह भी मानना होगा कि यह पूँजीवादी विरोधी क्रान्तियों के नये संस्करणों के निर्माण का काल है। आज जिस अपसंस्कृति के ख़िलाफ़ साहित्य की भूमिका तय करनी है, उसे साँगोपाँग समझने से ही शुरुआत करनी होगी। इस अपसंस्कृति के विरुद्ध समग्र संस्कृतिकर्म को संगठित किया जाना है। पर इसमें भी अग्रणी भूमिका साहित्य की ही होगी। पहली बात तो यह है कि परवर्ती पूँजीवाद की नई-नई विचार सरणियों को समझने समझाने का काम यहीं होगा। दूसरी बात यह कि सिनेमा, नाटक, नुक्कड़-नाटक, गायन और लोकप्रिय कला-माध्यमों से भी हम अपना सांस्कृतिक संघर्ष तभी आगे बढ़ा सकेंगे जब ऐसी रचनाएँ लिखी जायेंगी। लोकप्रिय और व्यापक पहुँच वाले दृश्य-शृव्य कला-माध्यमों की पूर्वपीठिका आज भी वह गम्भीर लिखित साहित्य ही बनेगा जिसकी पहुँच आभासी तौर पर भले ही सीमित प्रतीत होती है, लेकिन जो सामाजिक चेतना के सापेक्षतः उन्नत संस्तरों को प्रभावित करता है और फिर वहाँ से अनेकशः रूपों में रूपान्तरित होकर जनसामान्य तक पहुँचता है।

आज के सांस्कृतिक संघर्ष में साहित्य की ठोस भूमिका तय करने के लिए हमें आज की उस दुनिया को समझना होगा जिसमें हम जी रहे हैं। विश्व पूँजीवाद के असमाधेय संकटों की, साम्राज्यवाद के अमूतपूर्व आक्रामकता की, पिछड़े देशों में जारी निर्बन्ध पूँजी-निवेश और लूट की, सूचना-संसार और मनोरंजन के भूमण्डलीकृत तंत्र की नई प्रभाविता की और फासीवादी शक्तियों के नये उभार की चर्चा आमतौर पर की जाती है। हम समझते हैं कि इन्हें और गहराई में जाकर समझना होगा। सबसे ग़ौरतलब बात यह है कि वित्तिय पूँजी की जो निर्णायक भूमिका उन्नीसवीं शताब्दी

के अन्त में स्थापित हुई, वही बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक तक चरम वर्चस्व में रूपान्तरित हो चुकी थी। वित्तिय पूँजी ने आज वास्तविक उत्पादन से स्वतंत्र होकर सम्पूर्ण विश्व-अर्थव्यवस्था पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया है। आज पूँजी का जो विश्वव्यापी प्रसार दीख रहा है, वह सट्टेबाजी और मुद्रापूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन के रूप में है। दुनिया भर में निवेशित कुल पूँजी का अस्सी प्रतिशत से भी अधिक आज सट्टा बाजार, मीडिया, विज्ञापन, मनोरंजन उद्योग तथा अन्य अनुत्पादक कार्रवाइयों में लगा हुआ है। साम्राज्यवाद के दौर में पूँजी के जिस परजीवी, परभक्षी, अनुत्पादक और जुआड़ी चरित्र की चर्चा **लेनिन** ने की थी, वह उस समय से कई गुना अधिक हो चुकी है।

हम जानते हैं कि ऐतिहासिक तौर पर, उद्योगों ने बुर्जुआ जनवाद के सौरगृह की भूमिका निभाई थी, जबकि फासीवाद के विषैले नाग की जन्मभूमि वित्तिय पूँजी का दुर्गन्धमय दलदल बना था। इस आधार पर यह समझना मुश्किल नहीं है कि आज विश्व-स्तर पर रहे-सहे बुर्जुआ जनवादी मूल्यों के भी निश्शेष होने, तरह-तरह की पुनरुत्थानवादी-फासीवादी राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सिर उठाने, तर्कणा और मानववाद के विरुद्ध नानाविध अंधवश्विासी एवं धर्मान्ध प्रवृत्तियों के फलने-फूलने तथा कला-साहित्य के क्षेत्र में माल-अन्धभक्ति, अतर्कपरकता, पराजयवाद, “अन्त” वाद और कलावाद-रूपवाद के नये-नये संस्करणों के उभरने की ज़मीन इतिहास का यही दौर है जिसे कुछ अर्थशास्त्री और राजनीतिशास्त्री ‘वित्तिय पूँजी की अन्तिम विजय’ की संज्ञा दे रहे हैं।

भारत की विशेष स्थिति की चर्चा करते हुए सबसे पहले इस बात पर गौर करना होगा कि नियंत्रित साम्राज्यवादी मदद, सीमित आर्थिक स्वायत्तता, मिश्रित अर्थव्यवस्था और समाजवादी मुखौटे वाले विलम्बित एवं क्रमिक पूँजीवादी विकास का जो रास्ता आधी सदी पहले यहाँ के शासकों ने चुना था, वह बीसवीं सदी के नवें दशक तक बन्द गली के आखिरी छोर पर आ गया था। रास्ता अब एक ही था और वह था देश के साम्राज्यवादी वित्तिय पूँजी का खुला चरागाह बना देने ओर निजी पूँजी को खुला हाथ देने का रास्ता। भारत ही नहीं, तीसरी दुनिया के कमोबेश सभी देशों में राष्ट्रीय नायकों की महागाथा की परिणति आज खण्डित नायकत्व और पराभूत गौरव की त्रासद-कथा के रूप में सामने आ चुका है।

भारत का पिछड़ा हुआ पूँजीवादी समाज अपने समस्त पिछड़ेपन के साथ आज भूमण्डलीकृत विश्व का एक अंग बना हुआ है। कारण साफ़ है। जो प्राक्पूँजीवादी अवस्था के पिछड़े हुए मूल्य हैं, अतर्कपरकता, धार्मिक, जातिगत संकीर्ण संस्कार हैं, अंधविश्वास हैं - वे आज की पूँजीवादी दुनिया के लिए भी उतने ही उपयोगी हैं, इसलिए जनता के देशी भाग्यविधाताओं और दुनिया के वित्तीय महाप्रभुओं ने उन्हें

समान प्रेमभाव से अपना लिया है। इस आधार पर पेप्सी-कोक-मैकडोनाल्ड संस्कृति के साथ अंधविश्वास एवं धार्मिक कर्मकाण्ड भरे टी.वी. सीरियलों तथा 'जय श्रीराम' की नरसंहारी संस्कृति के समन्वय को आसानी से समझा जा सकता है।

इन सबके साथ ही, एक और फैक्टर की अनदेखी नहीं की जानी चाहिये। बीसवीं शताब्दी की मज़दूर क्रान्तियों की पराजय के कारणों की पड़ताल यहाँ हमारा विषय नहीं है। हम सिर्फ़ इस तथ्य को यहाँ रेखाँकित करना चाहते हैं कि विश्व ऐतिहासिक विपर्यय, गतिरोध और पुनरुत्थान का यह दौर अपनी स्वयंस्फूर्त आन्तरिक गति से पुनरुथानवादी और मूलतत्ववादी संस्कृति और विचारों को जन्म दे रहा है, जिनका सचेतन इस्तेमाल शासक-वर्ग सूचना-संचार-मनोरंजन के अपने अतिउन्नत तंत्र के जरिये प्रभावी ढंग से कर रहा है।

साहित्य के माध्यम से सांस्कृतिक प्रतिरोध कर्म के बारे में सोचते हुए पहली बात तो यही दिमाग में आती है कि चीज़ों को बदलने के लिए चीज़ों को समझना होता है। यानी जनता के पक्ष में खड़े साहित्यकारों का पहला कार्यभार तो यही बनता है कि वे उन तमाम नई-नई विचार-सरणियों को समझें और उनका विश्लेषण करें जो परवर्ती पूँजीवाद की वैचारिक-दार्शनिक अन्तर्वस्तु को अनेकशः रूपों में प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के तौर पर हम आज बहुप्रचलित उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-संरचनावाद, उत्तर उपनिवेशवाद जैसे दर्जनों बुर्जुआ और "नववामपन्थी" संस्कृति-सिद्धान्तों का नाम ले सकते हैं। हमें उन छद्म रैडिकल सिद्धान्तों की भी चीड़फाड़ करनी होगी जो नारी-मुक्ति और दलित-मुक्ति के नये-नये अकर्मक विमर्शों के रूप में, वर्ग-संघर्ष की मार्क्सवादी अवधारणा के समान्तर प्रस्तुत किये जा रहे हैं। हमें आज के बुर्जुआ मीडिया संस्कृति-उद्योग के सिद्धान्तकारों के नये-नये रहस्यमय, अमूर्त सिद्धान्तों की असलियत को भी समझना समझाना होगा।

लेकिन इन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें आज के सामाजिक यथार्थ और नई सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटनाओं-प्रवृत्तियों को रेशा-रेशा समझना होगा और उन्हें कलात्मक यथार्थ में रूपान्तरित करना होगा, रचना के धरातल पर उतारना होगा। इसी प्रक्रिया में मार्क्सवादी कला-दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र समृद्ध हो सकता है, विकसित हो सकता है और समकालीन हो सकता है। लेकिन समस्या यह है कि यह काम बहुसंख्यक आम जनता के जीवन और संघर्षों से एकता कायम किये बिना हो ही नहीं सकता। आज जनता के साहित्य की समस्याएँ बहुतेरी हैं, लेकिन सारी समस्याओं की कूंजीभूत गाँठ यह समस्या है कि जो प्रगतिशील, जनवादी और वामपन्थी ज्ञानधूरीण साहित्यकार हैं, उनका बहुलांश आज आम जनता की जीवन-स्थितियों के वस्तुगत यथार्थ से एकदम कटा हुआ है। यह एक कथित वामपन्थी अभिजन समाज है जो अपनी सुख-सुविधाओं पर कोई भी जोखिम मोल नहीं लेते की शर्त पर

और बाज़ार की माँग के हिसाब से नकली प्रगतिशील साहित्य रच रहा है। अपने अतीत की स्मृतियों, कल्पना, रेल के डिब्बों से देखे गये दृश्यों और सुनी-सुनायी बातों के आधार पर तथा शैली और रूप की जादुई विधानों के सहारे ये तमाम लोग अपनी रचनाओं में यथार्थ के हवामहल निर्मित कर रहे है।

इस स्थिति के भी बुनियादी कारणों की पड़ताल करनी होगी। दरअसल विगत कुछ दशकों के दौरान भारतीय मध्यवर्ग का भी तेज विस्तार और विभेदीकरण हुआ है। शीर्षस्थ नौकरशाहों, वैज्ञानिकों, डॉक्टरों, इंजीनियरों, प्रोफ़ेसरों से लेकर स्वतंत्र बुद्धिजीवियों तक का एक बड़ा हिस्सा या तो पूरी तरह या थोड़ी बहुत शिकायतों भुनभुनाहटों के साथ इस व्यवस्था के पक्ष में खड़ा हो चुका है। मेहनतकश जनता तो दूर आम नौकरीपेशा, तबाहहाल मध्यवर्गीय कतारों से भी ये लोग एकदम अलग खड़े हैं। अब जरा हम वामपन्थी प्रगतिशील साहित्यकारों का वर्ग-विशलेषण करें। ज़्यादातर ऐसे कवि-लेखक विश्वविद्यालयों-कालेजों में प्रोफेसर या सरकारी अफसर हैं या स्थापित मीडियाकर्मी हैं। यह अपने-आप में कोई बुरी बात नहीं है। बुरी बात यह है कि ये लोग सुविधाओं व तरक्की के लिए ज़िन्दगी में हर तरह का समझौता करने वाले, निजी जीवन में अपने स्वघोषित उसूलों के एकदम उलट आचरण करने वाले तथा आम जनता की ज़िन्दगी से एकदम कटे हुए लोग हैं। ये अपनी छुट्टियों का एक छोटा हिस्सा भी गाँव के ग़रीबों या शहर के मज़दूर-बस्तियों की जीवन स्थितियों को जानने पर खर्च नहीं करते। नेहनीड़ों के स्वामी ये सद्गृहस्थ वास्तव में गरुड़ का स्वाँग भरने वाली आँगन की मुर्गियाँ हैं। ये फर्जी वसीयतनामा पेश करके गोर्की, लूशुन, प्रेमचंद का वारिस होने का दावा करने वाले लोग हैं। ये "मुक्त लोग" हैं जो जनता के संघर्षों में भागीदारी और किसी भी तरह के अनुशासन को अपनी सर्जनात्मकता के लिए बाधक मानते हैं। ये अकेले-अकेले अपने दम-बूते पर जनता और इतिहास की सेवा करने वाले लोग हैं। यह सबकुछ दरअसल उबकाऊ किस्म का मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद, अराजकतावाद है और कुछ भी नहीं। वामपन्थी साहित्य क्षेत्र के शीर्ष पर ऐसे लोगों के आसीन होते हुए, यदि कविता-कहानी में "वामपन्थी" रूपवाद-कलावाद और मध्यवर्गीय लम्पटता का बोलबाला है, यदि सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियाँ चतुर्दिक हावी हैं, यदि साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध सांस्कृतिक मोर्चे पर फैशनेबुल अनुष्ठानों से अधिक कुछ भी नहीं हो पा रहा है तो रत्ती भर भी आश्चर्य की बात नहीं है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि साहित्य में आज यथार्थवाद के नाम पर प्रकृतवादी आग्रहों का बोलबाला है जिसका एक रूप बजबजाती मध्यवर्गीय लम्पटता और जुगुप्सापूर्ण अश्लीलता के रूप में सामने आ रहा है। जनता के साहित्य को नये सिरे से ऊर्जस्वी बनाने के लिए वामपंथ के इन रेशमी रूमालधारी छैलों और "बुरे शरीफ़जादों" के ख़िलाफ़ भी साहसपूर्वक आवाज़ उठानी ही होगी। तभी आज पूँजी के

दुर्ग के परकोटों-बुर्जों से लगातार हो रही प्रतिक्रियावादी सांस्कृतिक गोलन्दाजी का कारगर प्रतिरोध संगठित किया जा सकता है।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि आने वाले समय में क्रान्तिकारी लेखकों-कलाकारों की एकदम नयी पीढ़ी जनता की ज़िन्दगी और संघर्षों के ट्रेनिंग-सेण्टरों से प्रशिक्षित होकर सामने आयेगी। इनमें आम मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि वाले युवा बड़ी तादाद में होंगे। लेकिन सिर्फ़ वही नहीं, मज़दूर वर्ग के लोग भी होंगे। आज महानगरों के युवा मज़दूरों का बड़ा हिस्सा हाई-स्कूल से लेकर बी.ए. पास तक मिल जाता है। उन्हें यदि राह दिखलाने वाला मिल जाये तो वे गोर्की, लू शून और प्रेमचन्द को चाव से पढ़ते हैं। और उनमें से कई तो अपनी जीवन स्थितियों पर कविता-कहानी भी लिखने लगते हैं। यह हमलोगों का प्रत्यक्ष अनुभव है। इनकी विस्तृत चर्चा अलग से एक विषय है, पर इतना ज़रूर बताना चाहेंगे कि इन अनुभवों ने हमारे इस आशावाद को और अधिक मज़बूत बनाया है कि आने वाले दिनों में वामपन्थी कुलीनतावाद के बरक्स जुझारू यथार्थवादी साहित्य का एक मॉडल ज़रूर खड़ा होगा जिसकी रीढ़ की हड्डी एकदम सीधी होगी और जो बुर्जुआ अपसंस्कृति के विरुद्ध सांस्कृतिक बैरिकेड्स खड़ा करने का काम करेगा।

कार्यभारों की यदि बात करें तो आधी सदी से भी कुछ अधिक समय पहले कही गयी ब्रेष्ट की यह उक्ति आज भी एकदम प्रासंगिक प्रतीत होती हैः “सभी देशों की मेहनतकश जनता के हित में, लेखकों को एक लड़ाकू यथार्थवाद को अपनाने के लिए ललकारा जाना चाहिये। केवल एक समझौताहीन यथार्थवाद, जो सच्चाई पर, यानी शोषण-उत्पीड़न पर पर्दा डालने के सभी प्रयासों से जूझेगा, केवल वही शोषण और उत्पीड़न की कड़ी निन्दा कर उनकी कलई खोल सकता है।”

(थीसिस ऑन ऑर्गनाइजिंग द वाचवर्ड “फाइटिंग रियलिज़्म”)

अपनी बात हम ब्रेष्ट के ही एक और उद्धरण से समाप्त करना चाहेंगे जो आज के समय में भी हमारे कार्यभारों के लिए दिशा-निर्देशक सूत्र का काम कर सकता हैः

“लेखन के जरिये लड़ो! दिखाओ कि तुम लड़ रहे हो! ऊर्जस्वी यथार्थवाद! यथार्थ तुम्हारे पक्ष में है, तुम भी यथार्थ के पक्ष में खड़े हो! जीवन को बोलने दो! इसकी अवेहलना मत करो! यह जानो कि बुर्जुआ वर्ग इसे बोलने नहीं देता! लेकिन तुम्हें इजाज़त है। तुम्हें इसे बोलने देना चाहिये। चुनो उन जगहों को जहाँ यथार्थ को झूठ से, ताकत से, चमक-दमक से छुपाया जा रहा है। अन्तरविरोधों को उभारो!... अपने वर्ग के लक्ष्य को, जो सारी मानवता का लक्ष्य है, आगे बढ़ाने के लिए सब कुछ करो, लेकिन किसी भी चीज़ को सिर्फ़ इसलिए मत छोड़ दो, क्योंकि वह तुम्हारे निष्कर्षों, प्रस्तावों और आशाओं से मेल नहीं खाती, बल्कि ऐसे निष्कर्ष को छोड़ ही दो, बशर्ते सच्चाई आड़े न आये; लेकिन ऐसा करते हुए भी इस बात पर ज़ोर दो कि, उस भयंकर

लग रही कठिनाई पर जीत हासिल कर ली गयी है। तुम अकेले नहीं लड़ रहे हो, तुम्हारा पाठक भी लड़ेगा, यदि तुम उसमें लड़ाई के लिए उत्साह भरोगे। तुम अकेले ही समाधान नहीं ढूँढ़ोगे, वह भी उसे ढूँढ़ेगा।”

(‘थीसिस फॉर प्रोलेतारियन लिटरेचर’)
2000
(एक संगोष्ठी के लिए लिखा गया, जिसमें भागीदारी सम्भव नहीं हो सकी)

पाश को फिर से पढ़ते हुए

“कवि होना ऐसा है
जैसे जीवन के प्रति निष्ठा रखना
हर मुश्किल में
मानो खुद अपनी उधेड़कर कोमल चमड़ी
देना लहू उड़ेल अन्य लोगों के दिल में”

पाश को पढ़ते हुए हर बार **सेर्गेई येस्येनिन** की ये पंक्तियाँ दिलो-दिमाग़ में कौंधती रहती हैं। कवि एक योद्धा कवि के रूप में पाश आद्यन्त यही करता रहा। जीवन के प्रति उसकी निष्ठा बरकरार रही और कविताओं के जरिए वह लोगों के दिलों में अपना लहू उड़ेलता रहा। यह अप्रत्याशित नहीं कि इसकी कीमत उसे अन्ततः अपने लहू से ही चुकानी पड़ी।

कवि मित्र चमन लाल के साथ पाश की प्रतिनिधि कविताओं का यह संकलन तैयार करते हुए पाश के पूरे काव्य संसार से एक बार फिर गुजरने का मौका मिला। हमेशा की तरह यह यात्रा इस बार भी ताज़गी, मशक्क़त और जद्दोजहद से भरी रही। पाश को पढ़ते हुए बार-बार आप पाठक की अपनी भूमिका भूल जाते हैं और अपने समय और अपने खुद के वजूद से एक बार फिर साक्षात्कार करने लगते हैं और एक ऐसे आत्मसघर्ष में उतर पड़ते हैं जो अपने किसी घनिष्ठतम मित्र के साथ अन्तरंग ईमानदार संवाद के दौरान ही सम्भव हो सकता है। वह अलगाव और आत्मकेन्द्रण जो आज के कठिन समय में दीमक की तरह आत्माओं को खोखला बना रहा है, पाश की कविताएँ उसे नष्ट करने वाले एक कारगर उपकरण की तरह हर बार हाथ लगती हैं।

और तब अक्सर यह विचार मन में उमड़ता-घुमड़ता रहता है कि मुक्तिबोध की तरह गहन वैचारिकता से ओत-प्रोत न होते हुए भी ऐसा क्यों होता है कि पाश को हर बार पढ़ना उसके कवित्व का और साथ ही अपनी आत्मा की अजेयता का नये सिरे से आविष्कार करने के समान होता है!

बहुत सोचने के बाद पाश की कविता की इस लगातार मौजूद ताज़गी और

नयेपन का स्रोत मुझे यहाँ नज़र आता है कि ये कविताएँ अपने उस समय के गहरे इतिहास-बोध की कविताएँ हैं जो पूरी दुनिया और हमारे देश के स्तर पर एक विचित्र किस्म का, जटिल किस्म का संक्रमण-काल रहा है। विगत क़रीब चौथाई शताब्दी का समय हमारे देश में क्रान्तिकारी उभार, उसके ठहराव और फिर बिखराव, भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य पर आये अहम बदलावों तथा धार्मिक कट्टरपंथ के उभार और फैलाव का दौर रहा है। इस पूरे दौर की इन्दराजी पाश के कविता-जगत में गहरी सूझबूझ के साथ और सान्द्र रचनात्मक आवेग के साथ हुई है।

पाश की काव्य-यात्रा लगभग बीस वर्षों के दौरान कई मोड़ों और घुमावों से होकर गुजरी, पर उसकी कविताओं में गहन वैचारिकता के गुरुत्व के साथ भावनाओं के आवेग का संश्लेषण लगातार मौजूद रहा। पाश की कविताएँ इसीलिए गहरे अर्थों में राजनीतिक कविताएँ हैं। अत्यन्त गहरे और इतिहास-दृष्टि सम्पन्न मानवीय सरोकारों के साथ पाश अपने समय की राजनीतिक घटनाओं पर विवेकसम्मत टिप्पणियाँ करता है। अपना आलोचनात्मक विवेक खोकर घटनाओं की आशु-प्रतिक्रिया या सतही जुमलेबाजी के स्तर पर वह कभी नहीं उतरता। उसकी कविताएँ, चाहे वे एक क्रुद्ध युवा आवेग वाली शुरू की कविताएँ हों या बाद की गम्भीर प्रतिकारी क्षोभ भरी कविताएँ परिस्थितियों की तर्कातीत, अनुभवाश्रित आलोचना नहीं बल्कि द्वन्द्वात्मक तर्कपूर्ण आलोचना प्रस्तुत करती हैं।

पाश के पहले संकलन 'लौहकथा' की पहली ही कविता 'भारत' राष्ट्रवाद की बुर्जुआ अंधराष्ट्रवादी परिभाषा के समान्तर मेहनतकश जनता की देशभक्ति की अवधारणा प्रस्तुत करती है। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में अपने समय का सम्पूर्ण ताप, सम्पूर्ण दबाव और सम्पूर्ण संघात अंकित है। यह नक्सलबाड़ी किसान-उभार का दौर था। गौर करने की बात है कि इस दौर में हिन्दी कविता अभी अराजकतावादी विद्रोह के दायरे से बाहर निकलने के लिए संघर्ष कर रही थी और उसमें क्रान्तिकारी वाम का जो नया तेवर पैदा हुआ था, उसमें मध्यवर्गीय अतिवामपंथ की नारेबाजी का स्वर बना हुआ था। पाश के प्रथम संकलन की कविताओं में ही हमें विद्रोही कविता का एक नया सौन्दर्य-विधान भी निर्मित होता हुआ दिखाई देता है जो लोक संस्कृति और परम्परा में गहरे बसी हुई जनसंग ऊष्मा से अपने को ऊर्जस्वी बना रहा था।

1974 में 'उड्डदे बाजां मगर' प्रकाशित हुआ जिसमें 'उड़ते बाजों के पीछे' और 'हम लड़ेंगे साथी' जैसी प्रसिद्ध कविताएँ शामिल थीं। इस संग्रह की 'हाथ' कविता को बिना किसी झिझक के नाज़िम हिक़मत की 'तुम्हारे हाथ' कविता के समकक्ष रखा जा सकता है। 'तूफ़ान कभी मात नहीं खाते' क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता पर फूले नहीं समाने वाली बुर्जुआ शक्तियों के साथ ही वामपन्थी राजनीति की संशोधनवादी धारा पर भी परोक्ष प्रहार करती है।

पाश के इस दूसरे संकलन ने उस कठिन दौर के वस्तुगत एवं मनोगत यथार्थ

को काव्यात्मक सत्य में ढालने के साथ ही पाश को पंजाब के बाहर पूरे देश के स्तर पर एक मँजी हुई कलम वाले योद्धा कवि के रूप में स्थापित किया।

'साडे समियाँ विच' संकलन 1978 में प्रकाशित हुआ। इस दौर की कविताओं में समकालीन समय का काव्यात्मक दस्तावेज़ तैयार करते हुए पाश की कलम अधिक गहराई में उतरते, अधिक संजीदा ढंग से चीज़ों पर सोचते हुए दिखाई देती है। विचारों का घनत्व और गुरुत्व बढ़ गया है, पर पहले का भावनात्मक आवेग भी कम नहीं हुआ है।

संग्रह की पहली ही कविता की जो पंक्तियाँ चुनावी दलदल में धँसे संशोधनवादियों पर चोट कर रही थीं, वे आज और भी प्रासंगिक हो उठी हैं जब क्रान्तिकारी वामपन्थी शिविर के तमाम धड़े भी संसदीय राजनीति और अर्थवादी मज़दूर राजनीति के श्मशान में बुर्जुआ प्रेत जगाने के तांत्रिक अनुष्ठानों में लगे हुए हैं।

> "यह शर्मनाक हादसा हमारे ही साथ होना था
> कि दुनिया के सबसे पवित्र शब्दों ने
> बन जाना था सिंहासन की खड़ाऊँ
> मार्क्स का सिंह जैसा सिर
> दिल्ली की भूल-भुलैया में मिमियाता फिरता
> हमें ही देखना था
> मेरे यारो, यह कुफ़्र हमारे ही समयों में होना था।"

पाश की श्रृंखलाबद्ध लम्बी कविता 'कामरेड से बातचीत' पाश की चिन्तन-प्रक्रिया और रचना-प्रक्रिया के विकास का एक अहम मुकाम है जहाँ खड़ा होकर वह न सिर्फ़ उस क्रान्तिकारी धारा के सकारात्मक-नकारात्मक पक्षों की काव्यात्मक समीक्षा करता नज़र आता है, बल्कि ईमानदार प्रतिबद्ध मध्यवर्ग की नियति, दुविधा और द्वन्द्व को भी उकेरने की कोशिश करता है और इन सबके साथ सबसे अहम बात यह कि वह अभिव्यक्ति के नये आयामों की खोज की चुनौती से यहाँ टकराता हुआ दिखाई देता है।

निस्सन्देह क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन की जिन कमजोरियों की ओर यह कविता इंगित करती है, उसके कारणों की जो भावाकुल समझ इस कविता-श्रृंखला से छनती नज़र आती है, उससे पूरी तरह सहमत होना तो सम्भव नहीं है। पर एक बात जो निर्विवाद है, वह यह कि पाश यहाँ फिर भी 'आउटसाइडर' की तरह कमेण्ट नहीं करता, उसकी व्यथा एक क्षोभ के स्वर गहरे सरोकारों और चिन्ताओं की उपज हैं। इसकी व्यथा में जो निराशा के स्वर झलकते हैं, वह निराशा उसी हद तक एक फौरी भाव के रूप में है जितना कि एक कवि के लिए ज़रूरी है और एक राजनीतिक

कार्यकर्ता के लिए भी।

पिछले दिनों, आज के कठिन हालात पर अपनी प्रतिक्रिया एक कवि राजनीतिक कार्यकर्ता ने एक कविता के रूप में लिखी। वह कविता सुनते समय हठात् मुझे पाश की कविता-श्रृंखला 'कामरेड से बातचीत' की याद आई। वह कविता इस प्रकार थी।

साथ है जीने का सबब
ओ मेरे साथियो!
उम्मीदें और मंसूबे
बाँटा किये हम
बची रहीं फिर भी कुछ दूरियाँ।
राहों के नक्शों और सफर की स्कीमों में भी
काफ़ी कुछ साझा रहा
तमाम नाइत्तफ़ाकियों के बाद भी।
मगर हम सबकी हैं
अपनी अलग-अलग कुछ उदासियाँ
और कुछ मायूसियाँ
और अपनी कुछ अलग-अलग
तनहा उनींदी रातें फिर भी।
इन्हें भी बाँट लें क्या?
सच से सदमा न लगे,
इसके लिए नाउम्मीद होना भी
सीखना होता है
और कभी-कभी अकेला हो जाना भी।
जैसे भी हो
कुछ अपनी उदासियों और मायूसियों की भी
हिफाजत का चाव करें।
इनको भी होना है साथ-साथ
जैसे कि हर चीज़ के साथ
उसका दूसरा पहलू
या जैसे कि काम पर जाते दिहाड़ी मज़दूर की पोटली में
रोटी के साथ तीखी हरी मिर्च और प्याज़ के कुछ टुकड़े।
आखिर चन्द दिनों की तो बात नहीं।
सफर है यह जो
पूरी ज़िन्दगी का।
यूँ साथ चलें।

अस्सी के दशक में राज्यसत्ता और खालिस्तानी आतंकवादियों के दोहरे फासिस्ट दबाव में पंजाब ने एक बार फिर जो झेला वह उपनिवेशवादी दमन के गुजरे हुए दौरों को भी पीछे छोड़ देने वाला था। इस बीहड़ दौर में पाश ने 'धर्मदीक्षा के लिए विनयपत्र' और 'सबसे ख़तरनाक' जैसी दस्तावेज़ी राजनीतिक कविताएँ लिखीं।

पाश की अन्तिम प्रकाशित कविता 'सबसे ख़तरनाक' उन लोगों का मुँह बन्द करने लायक पुख़्ता सबूत है जो यह कहा करते हैं कि पाश बाद के दौर में मायूस हो चला था।

पाश का क्रान्तिकारी मानवतावाद अन्तिम साँस तक सलामत था। अन्तिम साँस तक वह जीवन, संघर्ष, सृजन और सौन्दर्य का गायक बना रहा, सच्चाई का मेनिफेस्टो पेश करता रहा, बग़ावत का ऐलान करता रहा, परजीवी शोषक-शासक वर्गों को चुनौती देता रहा, भगोड़ों को दुत्कारता रहा और यथास्थितिवाद के मुँह पर थूकता रहा।

नाज़िम हिक़मत ने एक बार कहा था, "अगर कोई रचनाकार कई देशों की जनता तक तेजी से पहुँचना चाहता है और बेहतर समझे जाने की आकांक्षा रखता है तो उसके लिए कम्युनिस्ट होना ज़रूरी है। बहुत ज़्यादा ज़रूरी है। लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है। कवि के लिए प्रतिभाशाली होना और मानवता के भविष्य सम्बन्धी गानों के बारे में, मैत्री और शान्ति के बारे में, प्रेम और घृणा के बारे में भावबोध और शैली दोनों ही क्षेत्रों में अपना मौलिक योगदान देना भी ज़रूरी है।"

पाश अन्त तक कम्युनिज़्म के प्रति विश्वासी रहा और जीवन के बहुस्तरीय द्वन्द्वों की पूरी अर्थवत्ता को आत्मसात् करके कविता लिखने के प्रति आग्रही भी।

पाश आज पंजाब और पंजाबी का नहीं, पूरे भारत का कवि है और सभी भारतीय भाषाओं में पढ़ा जाता है। हमें विश्वास है कि दुनिया की जिस भाषा में भी उसका अनुवाद प्रस्तुत किया जायेगा, वहाँ की जनता उसे अपने कवियों की कतार में शामिल कर लेगी। पाश कम्युनिज्म और जनता के साथ ही कविता के भविष्य के प्रति भी अन्त तक आस्थावान रहा और उसके बारे में भी वही कहा जा सकता है जो कभी **नाज़िम हिक़मत** के बारे में **पाब्लो नेरुदा** ने कहा था। उन्होंने कहा था : "*... अमानवीय पीड़ा झेलते हुए भी नाज़िम कहते हैं। 'मैं कविता के भविष्य पर विश्वास करता हूँ।' ऐसे कई रहस्य जो लोगों को अभी जानने हैं, इन शब्दों में थरथरा रहे हैं।*"

पाश एक ही साथ उतना ही पंजाब की मिट्टी और लोकरंग का कवि था जितना कि मेहनतकश जनता की भारतीयता का कवि था और उतना ही वह अन्तरराष्ट्रीयतावादी भी था। इन अर्थों में वह **लोर्का** की परम्परा से भी जुड़ता था और **नाज़िम हिक़मत** और **पाब्लो नेरुदा** की धारा से भी। पाश की कविता पंजाब में मध्यकालीन गुरुओं की संघर्ष परम्परा से लेकर बब्बर खालसा आन्दोलन, गदर पार्टी और भगतसिंह और उनके साथियों के इतिहास से जुड़कर विकसित हुई थी। उसमें **हीर-राँझा**,

सोहनी-महिवाल आदि की लोकगाथाओं के उद्दाम मानवीय प्यार की गहराइयाँ भी थीं और किसानी जीवन और किसान संघर्षों का लोकरंग भी था। उसकी बिम्बावली इसी ज़मीन से उपजी थी पर वह जितनी पंजाबी थी, उतनी ही भारतीय भी और उतनी ही 'इण्टरनेशनलिस्ट' भी।

पाश की कविताओं में निस्सन्देह विचारों के धरातल पर अन्तरविरोध भी है, पर इन अन्तरविरोधों को 1947 के बाद के पचास वर्षों के भारतीय समाज के संक्रमणशील ढाँचे के अन्तरविरोधों तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन के अन्तरविरोधों के साथ रखकर ही समझा जा सकता है और इनके प्रतिबिम्बन के रूप में ही समझा जा सकता है। निर्णायक बात यह है कि मूलतः और मुख्यतः पाश जन के पक्ष में खड़ा है, भविष्य के पक्ष में खड़ा है, युयुत्सा और जिजीविषा के पक्ष में खड़ा है। पाश समग्रता में अपने समकालीनों और आने वाली पीढ़ियों को ज़िन्दगी और कविता के निचोड़ के तौर पर यह धरोहर सौंपता है। प्रख्यात रूसी नाटककार **स्तानिस्लाव्स्की** ने एक बार कहा था, *"सोने की खनक की तरह मैं आने वाली पीढ़ियों को अपनी मेहनत, अपनी तलाशें और अभाव, अपनी खुशियाँ और निराशाएँ नहीं बल्कि केवल वह मूल्यवान अयस्क पिण्ड ही दे सकता हूँ, जो मैंने पाया है।"* यदि कोई पूछता तो पाश भी शायद ऐसा ही कुछ कहता। या कम से कम उसका कृतित्व हमें यही संकेत देता है।

पाश को पढ़ते समय बार-बार मन में यह प्रश्न उठता था कि उसकी अपनी जो एक शैलीगत विशिष्टता है, उसकी पहचान किस रूप में की जा सकती है? इसका उत्तर ढूँढने में मुझे एक हद तक **मायकोवस्की** ने मदद की। कविता की रचना-प्रक्रिया विषयक अपने प्रसिद्ध लेख में वे लिखते हैं : *"लय कविता की मूल शक्ति तथा मूल ऊर्जा है। इसकी व्याख्या नहीं की सकती, उसकी चुम्बक या विद्युत के प्रभाव की तरह केवल चर्चा ही की जा सकती है। चुम्बकत्व या विद्युत ऊर्जा के रूप हैं। कई कविताओं, यहाँ तक कि कवि के पूरे कृतित्व में एक ही लय हो सकती है, लेकिन इससे उसका कृतित्व एक जैसा नहीं हो जाता, क्योंकि लय, निरुपण में इतनी कठिन और जटिल होती है कि कवि अपनी अनेक मुख्य कृतियों में भी इसका पूरा उपयोग करने में असमर्थ रह सकता है।"*

पाश की कविताओं की भी एक अपनी लय है जो पंजाबी लोक साहित्य की वाचिक परम्परा और वहाँ के जनसंघर्षों के सुदीर्घ इतिहास की लोक-स्मृतियों के साथ ही वहाँ की मिट्टी, वहाँ की नदियों, वहाँ के नृत्यों-गीतों आदि से रची हुई है। लेकिन इसके साथ ही पाश की प्रगतिधर्मिता में पूरे भारतीय जन की स्मृति, परम्परा और समकालीन जीवन की गति का द्वन्द्व भी है और पूरी दुनिया के लड़ते हुए लोगों के बिरादराना रिश्तों की बुनावट भी। पाश की कविताओं का उद्दाम, विद्रोही क्रान्तिकारी रोमैंटिसिज़्म (स्वच्छन्दतावाद) इन्हीं संघटक अवयवों से निर्मित होता है और इसी रूप में उनका सौन्दर्यलोक एक नया रूपाकार ग्रहण करता है।

पिछले क़रीब दस वर्षों के भीतर पंजाब की क्रान्तिकारी राजनीति और क्रान्तिकारी वामपन्थी कविता की धारा में भी काफ़ी ठहराव आया है। बहुतेरे लोग आन्दोलन की चुनौतियों से जूझने के नाम पर बौद्धिक बाजीगरी, अकादमिक मशक्क़त और शब्दों की जुगाली में मशगूल होकर "अपनी बिगड़ी सँवारने" में लग गये हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो आज भी रुटीनी कवायद में लगे हुए हैं।

साहित्य की दुनिया में भी अवसरवाद का बोलबाला है। लोक राग गाने वाले देह राग गा रहे हैं। रूपवाद का प्रभाव मार्क्सवादियों पर भी पर्याप्त है और 'पोस्टमाडर्निज्म' की फ़ैशनपरस्ती भी चालू है। प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता की विभाजक रेखा को धूमिल करने की कोशिशें भी जारी हैं और सत्ताश्रित सुरक्षित वामपन्थी बनते जाने की बेशर्मी भी। ऐसे में पंजाब की क्रान्तिकारी वामपन्थी कविता को भी आज एक नई करवट लेनी है और आज के कठिन समय के गर्भ में जो विस्पफोट पल रहा है, उसकी साहित्य में इन्दराजी करनी है। पाश की परम्परा को आज आगे विस्तार देने के लिए एक नई शुरुआत की ज़रूरत है। महज यादगार के रस्मी जलसों से आगे बढ़ने का समय एक बार फिर एकदम हमारे सामने है।

भगतसिंह के बारे में अपनी एक टिप्पणी के अन्त में पाश ने लिखा था, "जिस दिन उसे फाँसी लगी, उसकी कोठरी से लेनिन की किताब मिली थी जिसका एक पन्ना मोड़ा हुआ था। पंजाब की जवानी को उसके आख़िरी दिन के मोड़े हुए पन्ने से आगे बढ़ाना है।"

खालिस्तानियों की गोली से शहीद होने से पहले पाश भी ज़िन्दगी और शायरी की जद्दोजहद की किताब का एक पन्ना मोड़ा हुआ छोड़ गया था। पंजाब के और पूरे भारत के प्रतिबद्ध कवियों को उसी मोड़े हुए पन्ने से आगे बढ़ना है।

(1998)

‘धरती धन न अपना’ और ‘नरकुण्ड में बास’ के बहाने समकालीन यथार्थ, यथार्थवाद और हिन्दी उपन्यासों पर एक चर्चा

सत्तर के दशक के शुरुआती सालों में, वामपन्थी दुस्साहसवाद की धारा के हावी होने और उसके दुष्परिणामों के लम्बे सिलसिले की शुरुआत के बावजूद, नक्सलबाड़ी किसान उभार से शुरू हुई क्रान्तिकारी वामपंथ की राजनीतिक धारा अभी आम जनता, छात्रों-नौजवानों और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों की उम्मीदों का केन्द्र बनी हुई थी और साहित्य के दायरे में इसका व्यापक प्रभाव कायम था। वामपन्थी और पक्षधर साहित्य के नये उभार का प्रस्थानबिन्दु नक्सलबाड़ी किसान उभार था जिसने बंगला तेलगू, हिन्दी और मराठी से लेकर पंजाबी तक के साहित्य पर व्यापक प्रभाव छोड़ा। यह तो सकारात्मक पहलू था। इसका विपरीत पहलू यह था कि निम्नपूँजीवादी अतिक्रान्तिकारिता और उससे पैदा हुई अति भावुकता ने लगभग सत्तर के पूरे दशक में जनता के क्रान्तिकारी साहित्य की धारा में बड़े पैमाने पर एकांगीपन एवं उथलेपन को, द्वन्द्ववाद के निषेध को, तथा सौन्दर्यात्मक पहलुओं के निषेध को जन्म दिया और क्रान्तिकारी यथार्थवाद की धार को काफ़ी हद तक कुण्ठित किया। कविता और कहानी में इसकी गुंजाइश ज़्यादा थी, अतः ऐसी कविताएँ - कहानियाँ बड़े पैमाने पर लिखी गईं। उपन्यास में गुंजाइश कम थी। इसलिए सत्तर के दशक के शुरू में हिन्दी उपन्यास कुछ ठहर सा गया था। फिर जो लिखे गये, वे भी या तो कमज़ोर, सामाजिक अन्तरविरोधों की सांगठनिक-राजनीतिक समझदारी के फ्रेम में कसकर लिखे गये उपन्यास थे या फिर सतही अनुभववादी यथार्थवादी या सामाजिक-जनवादी नज़रिये से लिखे गये उपन्यास। फिर भी इस दशक के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुए जिनकी उपेक्षा करके स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास पर बातचीत ही नहीं की जा सकती।

जगदीशचन्द्र का दूसरा उपन्यास ‘धरती धन न अपना’ भी ऐसे ही उपन्यासों में से एक था। और ग़ौरतलब बात यह है कि इसका प्रकाशन सत्तर के दशक की

शुरुआत में, 1972 में हुआ, जब हिन्दी-उपन्यास-लेखन की गति कुछ थम सी गई प्रतीत हो रही थी। अनुमान लगाया जा सकता है कि इसकी रचना साठ के दशक के आखिरी सालों में हुई होगी। आज लगभग चौथाई सदी बाद यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि 'धरती धन न अपना' न केवल स्वातंत्रयोत्तर काल के हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा के मील का एक पत्थर था, बल्कि पहली बार इतने व्यापक फलक पर, इतनी सूक्ष्म तफ़सीलों के साथ, संक्रमणकालीन भारतीय ग्रामीण समाज के अत्यन्त धीमी गति से स्वरूप बदलते अन्तरविरोधों की पृष्ठभूमि में अवस्थित करके, देश के क़रीब पन्द्रह-सोलह करोड़ हरिजनों की त्रासद जीवन-स्थितियों का अन्तरंग और आधिकारिक चित्रण प्रस्तुत किया गया था। मेरी अपनी मान्यता है कि भारतीय समाज के अस्पृश्यों-हरिजनों की जीवन स्थितियों, मूल्यों-मान्यताओं, आस्थाओं-परम्पराओं, आशाओं-आकांक्षाओं के व्यापक और सूक्ष्म चित्रण के मामले में 'धरती धन न अपना' का स्थान उपन्यासों के बीच वैसा ही है जैसा कहानियों के बीच प्रेमचन्द की 'सद्‌गति', 'ठाकुर का कुआँ' और कफ़न' जैसी कहानियों का स्थान। पर सिर्फ़ इतना ही नहीं है। हरिजनों के जीवन पर केन्द्रित होते हुए भी उपन्यास का व्यापक फलक ग्रामीण जीवन के सभी अन्तरविरोधों और उनके सभी पहलुओं को तथा आज़ादी के ठीक बाद के दशक की संक्रमणकालीन ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक संरचना के सभी आयामों को इस तरह अपने दायरे में समेटता है कि स्वरूप और 'ट्रीटमेण्ट' की दृष्टि से इसे न तो दलित साहित्य के आनुभविक यथार्थवादी प्रतिरोध साहित्य की श्रेणी में बाँधा जा सकता है और न ही आंचलिक उपन्यास के दायरे में क़ैद किया जा सकता है।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि-सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादीकरण के ग़ैरक्रान्तिकारी 'प्राशियाई मार्ग' के अमल के पहले और बाद के समय में, रैयतवारी, ज़मीनदारी और महालवारी बन्दोबस्त वाले इलाकों के रैयतों-काश्तकारों (आज के मालिक किसानों) की स्थिति में तो काफ़ी कुछ फर्क आ रहे हैं, लेकिन बेगारी करने वाले, सबसे निचले दर्जे के भूदासों - हरिजनों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति-परिस्थितियाँ, स्वरूप और कुछ अन्य सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद, पूरे भारत में, सारतःकमोबेश एक ही रही है। कृषि-सम्बन्धों के बीमार, अधूरे, रुग्ण-विकलाँग पूँजीवादीकरण की प्रक्रिया एक हद तक पूरी होने के बाद, मध्य जातियों (परम्परागत किसान जातियों) के काश्तकार मालिक किसान बन गये। उनमें से कुछ मध्यम दर्जे या ग़रीब दर्जे की स्थिति में पहुँच गये तो कुछ नये पूँजीवादी भूस्वामी बने। पर हरिजन, जो सामन्ती-अर्द्धसामन्ती भूमिसम्बन्धों के दौर के भूमिहीन, बेगारी करने वाले मजूर या जमींदारों-चौधरियों के ड्योढ़ियों-खेतों पर काम करने वाले लोग; वे ही नये भूमि सम्बन्धों के अन्तर्गत, कृषि सर्वहारा बन गये। गाँवों से उजड़कर नये औद्योगिक केन्द्रों की ओर पलायन करने वाले ज़्यादा लोग इसी तबके से आते थे। इसी दलित अस्पृश्य

तबके के जीवन पर केन्द्रित उपन्यास 'धरती धन न अपना' आज़ादी के ठीक बाद के दशक में पंजाब के एक गाँव को केन्द्र बनाता है, पर वास्तव में यह सम्पूर्ण भारतीय जीवन के एक महत्वपूर्ण पहलू का सामान्य प्रतिनिधि चित्र है।

'धरती धन न अपना' जब प्रकाशित हुआ था, वह भारतीय जीवन, राजनीति और साहित्य का एक महत्वपूर्ण संक्रमणकालीन दौर था। इसी उपन्यासत्रयी का दूसरा भाग, 'नरकुण्ड में बास' जब (1994) में प्रकाशित हुआ तो पुनः हमारा समाज, हमारी राजनीति और संस्कृति संकट और परिवर्तन के एक महत्वपूर्ण दौर से गुजर रही थी। विश्व-ऐतिहासिक स्तर पर यह आर्थिक नव उपनिवेशवाद का और सांस्कृतिक वर्चस्ववाद का नया दौर है। कला-साहित्य-दर्शन के दायरे में यह उत्तर-आधुनिकतावादी, उत्तर-संरचनावादी, उत्तर-मार्क्सवादी नारों-फतवों के घटाटोप का दौर है जब परिवर्तनशील यथार्थ को समझने-व्याख्यायित करने के नाम पर सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटनाओं के व्याख्या-विश्लेषण की एक पूरी नई शब्दावली और प्रणाली विकसित की जा रही है, जो कुल मिलाकर, इतिहास-निर्माण में सामाजिक शक्तियों की भूमिका को और कला-साहित्य-संस्कृति की सामाजिक सोद्देश्यता-सकर्मकता को बड़ी सफाई से खारिज करने के उद्देश्य से प्रेरित-निर्देशित हो रही है। यह नये-नये, चौंक-चमत्कार भरे नारों-फतवों का दौर है। गत दो-तीन वर्षों के ही दौरान 'उपन्यास के अन्त' (बतर्ज 'इतिहास का अन्त', 'विचारधारा का अन्त', 'कविता का अन्त', 'विज्ञान का अन्त') 'उपन्यास की मुक्ति' और 'भारतीय उपन्यास की खोज' जैसे नारे भी उछाले गये हैं और आज इन नये सिक्कों' की बड़ी चर्चा है। 'नरकुण्ड में बास' उपन्यास का ऐसे दौर में प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है और एक बढ़िया इत्तफाक है। इसके हवाले से, उपन्यास विधा को लेकर आज उठाये गये सभी सवालों पर एक अच्छी और ज़रूरी बातचीत की जा सकती है।

'धरती धन न अपना' उपन्यास के अन्त में केन्द्रीय पात्र काली गाँव के प्रभुत्वशाली तबके के लोगों तथा पूरे सामाजिक तंत्र एवं पुरातनपंथी सांस्कृतिक तंत्र के दबावों के आगे अवश-निरुपाय सा होकर, अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर भागकर शहर आ जाता है। यहीं से 'नरककुण्ड में बास' की कहानी प्रारम्भ होती है।

'नरककुण्ड में बास' का शहर आज से तक़रीबन तीस-पैंतीस सालों पहले का शहर है, पर सच यह है कि आधुनिक बड़े उद्योगों के मुट्ठी भर संगठित मज़दूरों और 'लेबर अरिस्टोक्रेसी' के एक छोटे से हिस्से के अतिरिक्त शहर के बहुसंख्यक असंगठित मज़दूरों, कुलियों, पल्लेदारों, रेहड़े-खोमचेवालों, क्लीनरों-खलासियों आदि के लिए भारत का हर नगर-महानगर आज भी वैसा ही नरककुण्ड है। फ़र्क सिर्फ़ यह पड़ा है कि पहले गाँव से शहर की ओर भागने वाली आबादी का बहुलांश बेघर-बेबस भूमिहीन दलितों का हुआ करता था और फिर जमींदारी प्रथा के क्षेत्रों में जमींदारों द्वारा उजाड़ दिये गये या सूखे व अकाल से त्रस्त काश्तकार किसानों का, जो प्रायः मध्य

जातियों तक के हुआ करते थे। आज कृषि के पूँजीवादीकरण के कारण किसान आबादी के बढ़ते विभेदीकरण और भारी ग्रामीण आबादी के सर्वहारागण के साथ ही अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर पहले के मध्यम किसानों तक की एक बड़ी आबादी नये-पुराने औद्योगिक केन्द्रों की ओर भाग रही है और वहाँ के नरक में भटकते हुए काली जैसा ही अभिशप्त जीवन बिता रही है।

गाँव की अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर, बीवी-बच्चों से दूर होकर तमाम बेबस-बेकस लोग पूँजीवादी उत्पादन तंत्र के नृशंस जबड़ों में फँसे हुए अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, निहत्थे ही जो भयानक संघर्ष करते हैं, उसका मार्मिक और आधिकारिक आख्यान प्रस्तुत करते हुए जगदीश चन्द्र ने इस उपन्यास को आज़ादी के बाद घटित आर्थिक-सामाजिक परिवर्ततनों का एक वस्तुपरक औपन्यासिक दस्तावेज बना डाला है।

बाल्ज़ाक की कृति *'मानवीय कामदी'* की चर्चा करते हुए **फ्रेडरिक एंगेल्स** ने लिखा था कि बाल्ज़ाक इस कृति में *"फ़्रांसीसी समाज का... सबसे अद्‌भुत यथार्थवादी इतिहास हमारे सामने पेश करते हैं।"* उनके अनुसार, मुख्य कथानक के चारों ओर *"बाल्ज़ाक ने फ़्रांसीसी समाज का पूरा इतिहास समेटा है, जिससे मुझे आर्थिक तफ़सीलों तक के मामले में (उदाहरण के लिए, क्रान्ति के बाद चल तथा अचल सम्पत्ति की पुनर्व्यवस्था के बारे में) इस अवधि के सारे के सारे विशेषज्ञों - इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों तथा सांख्यिकीविदों - की पुस्तकों से कहीं अधिक जानकारी मिली।"* यहाँ मेरा मन्तव्य जगदीश चन्द्र की बाल्ज़ाक से तुलना करना तो नहीं है, पर इतना ज़रूर रेखांकित किया जाना चाहिए कि जगदीश चन्द्र ने 'नरकुण्ड में बास' उपन्यास में शहरों के असंगठित सर्वहारा वर्ग की जीवन-स्थितियों के जिन बारीक 'डिटेल्स' का, जिन सामाजिक-आर्थिक तफ़सीलों का बयान किया है, वे इसे तत्कालीन समय के इतिहास का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत बना देते हैं।

यूरोप, अमेरिका और रूस के उन्नीसवीं सदी के महान बुर्जुआ यथार्थवादी लेखकों से लेकर **अप्टन सिंक्लेयर** और **मक्सिम गोर्की** तक की कृतियों में प्रारम्भिक पूँजीवाद के निर्मम लूटमार का जो इतिहास सामने आया है और छोटे-छोटे कारखानों में हाड़ गलाने वाले असंगठित मज़दूर तबके का जो नारकीय जीवन निरुपित हुआ है, वह भारतीय समाज में आज भी नये-पुराने औद्योगिक केन्द्रों में दिखाई देता है जहाँ बड़े उद्योगों के इर्द-गिर्द तमाम छोटे-छोटे वर्कशापों-कारखानों में असंगठित मज़दूर नितान्त अमानवीय और असुरक्षित परिस्थितियों में आज भी पन्द्रह-पन्द्रह, अठारह-अठारह घण्टे काम करते हैं। 'नरककुण्ड में बास' कुलियों, खलासियों, पल्लेदारों, पाण्डियों, रेढ़ेवालों और चमड़े के कारखाने के मजूरों की ज़िन्दगी का आधिकारिक और सूक्ष्मग्राही चित्रण प्रस्तुत करता है। उस सर्वहारा वर्ग की ज़िन्दगी का ऐसा आधिकारिक चित्र हिन्दी उपन्यासों में बहुत कम आया है, जिसके बारे में **मार्क्स-एंगेल्स** का यह कहना

आज भी सही लगता है कि इस वर्ग में *"सभी मानवीय चीज़ों से, मानवीय चीज़ों के आभास तक से पृथककरण लगभग पूरा हो चुका है"* **(मार्क्स-एंगेल्स : 'पवित्र परिवार)**। उपन्यास के नायक काली को अपनी इस स्थिति का आभास भी है। यही वह फूटती हुई वर्ग-सचेतनता है जो उसे अपनी जीवन-स्थितियों के विरुद्ध विद्रोह के लिए विवश करती रहती है।

यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि जीवन के इस कठोर यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन करते हुए जगदीशचन्द्र ने कहीं काली द्वारा यथास्थिति के अस्वीकार को जल्दबाजी में राजनीतिक रंग देने की या चेतना के तीव्र क्रान्तिकारीकरण को यांत्रिक ढंग से चित्रित करने की और बनावटी चटख आशावादी रंग या सोद्देश्य भरने की कोशिश नहीं की है। साहित्यिक कृतियों की प्रयोजनमुखता को स्वीकारते हुए **एंगेल्स** ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि *"प्रयोजन को स्वयं परिस्थिति या कार्यकलाप में अपने को व्यक्त करना चाहिए, विशेष रूप से लक्षित किये बिना, और लेखक अपने द्वारा वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयारशुदा रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्तव्यबद्ध नहीं है।* "एंगेल्स की दृष्टि में, *"समाजवादी प्रयोजनमूलक उपन्यास उस समय अपने ध्येय की पूर्णतया पूर्ति करता है जब वह वास्तविक सम्बन्धों का सच्चा चित्रण कर इन सम्बन्धों के स्वरूप के बारे में हावी रहने वाले प्रचलित भ्रमों को मिटा देता है, बुर्जुआ दुनिया के आशावाद को झकझोर देता है तथा अस्तित्वमान के आधार की शाश्वतता के बारे में शंका का समावेश करता है - भले ही लेखक ने इसके बारे में कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत न किया हो, भले ही उसने कभी-कभी कोई पक्ष तक न लिया हो"* (**एंगेल्स** : *मिन्ना काउत्स्की को पत्र,* 26 नवम्बर 1885)। जगदीशचन्द्र उपन्यास को प्रयोजनमूलक बनाने की इस भौतिकवादी द्वन्द्ववादी पद्धति का पटु ढंग से इस्तेमाल करते हैं। उत्पादन-सम्बन्धों, सामाजिक सम्बन्धों, सम्पूर्ण जीवन स्थितियों और मनोस्थिति का जटिल ताना-बाना बुनते हुए वे बिना किसी मुखर राजनीतिक स्वर के पूँजीवाद की अमानवीयता के विरुद्ध बगावत की चेतना और चिन्ता से दिलो-दिमाग़ को भर देते हैं। प्रयोजनमूलकता को वे घटनाओं-चरित्रों के 'ट्रीटमेण्ट' के जरिए प्रकट करते हैं और उसे समाधान की स्थूलता से हर हमेशा बचा ले जाते हैं। अपने मज़दूर नायक को अत्यधिक निष्कलंक और वीर व्यक्ति के रूप में वे पुराने जमाने के धीरोदत्त नायक का नया संस्करण नहीं बनाते। इसके विपरीत उनका मज़दूर नायक ग़लतियाँ करने वाला, कभी-कभी स्थितियों से हार भी मानने वाला और थकने वाला और फिर उठ खड़ा होने वाला एक ऐसा आम आदमी है जिसकी जिजीविषा भी अभी जीवित है और युयुत्सा भी। जगदीशचन्द्र अपने नायक पर रीझ जाने या मेहनतकश तबके के किसी आम आदमी को महान दिखाने अथवा उपन्यास के कथानक के दायरे में ही उसके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वांतरण को दिखा देने की ग़ैरज़रूरी जिद या लालच नहीं पालते।

वे कथाविन्यास के जरिये अपने प्रतिनिधि चरित्रों और जीवन स्थितियों के विकास की दिशा की ओर इंगित करके छोड़ देते हैं, पाठक को उँगली पकड़कर किसी सुनिश्चित नतीज़े तक नहीं पहुँचाते। उनके क्रान्तिकारी यथार्थवाद की आधिकारिकता का यही मूल स्रोत है। साहित्य और कला के क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग के यथार्थवाद की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने हमेशा सच्चाई के साथ चित्रण-वर्णन करने, वर्णित घटनाओं के प्रति ठोस ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने और ऐसे सजीव तथा व्यक्तिगत गुणों से युक्त पात्रों को प्रस्तुत करने पर बल दिया जो उनके (पात्रों के) वर्ग परिवेश के चरित्र तथा मनःस्थिति के लाक्षणिक पहलू प्रतिबिम्बित करते हों। उनका कहना था कि यथार्थवादी चित्रण यथार्थ की नकलमात्र न होकर, परिघटनाओं के सार तक पैठने का एक तरीका, कलात्मक सामान्यीकरण करने की एक ऐसी विधि है, जो युग-विशेष के आम गुणों को उजागर करना सम्भव बनाती है। **एंगेल्स** के शब्दों में, *"यथार्थवाद का अर्थ तफ़सील की सच्चाई का, आम परिस्थितियों में आम चरित्रों की सच्चाई भरा पुनर्सृजन है"* (**मार्गरेट हार्कनेस** को पत्र; अप्रैल 1888)। साथ ही वे यह भी कहते हैं, *"लेखक के विचार जितने छुपे रहें, कला की कृति उतनी ही अच्छी होती है"* (वही पत्र) जगदीशचन्द्र ने सच्चे क्रान्तिकारी यथार्थवादी प्रयोजनवादी उपन्यास की रचना करते हुए यह सावधानी हमेशा बरती है और यही वह बुनियादी कारण है जिसके कारण हिन्दी उपन्यास के विकास के स्वातंत्र्योत्तर दौर में उनके विशिष्ट स्थान और योगदान की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(14-15 अक्टूबर, 1995 को जालंधर में जगदीशचन्द्र के उपन्यासों पर केन्द्रित संगोष्ठी में प्रस्तुत)

इप्टा के क्रान्तिकारी समूह-गीत : भूमिका और जनस्वीकार

"प्रत्येक अन्य कला की तरह, संगीत को भी समाज में एक सुनिश्चित उद्देश्य पूरा करना होता है। बुर्जुआ समाज द्वारा इसका इस्तेमाल मुख्यतः मन-बहलाव के तौर पर, श्रम-शक्ति के पुररुत्पादन के लिए, लोगों को सुलाने के लिए और उनकी विचार-शक्ति को कुन्द बनाने के लिए किया जाता है।

"मज़दूरों के संगीत-आन्दोलन को अपने संगीत के नए कार्यभार के बारे में स्पष्ट होने की ज़रूरत है। इसका उद्देश्य मज़दूरों को संघर्ष के लिए सक्रिय करना और उनके बीच राजनीतिक शिक्षा को प्रोत्साहित करना है।"

हान्स आइस्लर : *'हमारा क्रान्तिकारी संगीत'*

आज लगभग आधी सदी पीछे जाकर 'इप्टा' के स्वर्णिम दौर पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि उस दौर के क्रान्तिकारी गीत व्यापक मेहनतकश जनता को 'संघर्ष के लिए सक्रिय करने' और 'उनके बीच राजनीतिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने' में अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका निभा रहे थे।

उल्लेखनीय है कि जो दौर इप्टा के गीतों और संगीत के उत्कर्ष का दौर था, वह भारतीय इतिहास का भी एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कालखण्ड था। वह तेभागा, तेलंगाना और पुनप्रा-वायलार के क्रान्तिकारी किसान-संघर्षों का, नौ सेना-विद्रोह का और देशव्यापी मज़दूर-हड़तालों-प्रदर्शनों का दौर था। देश एक महत्त्वपूर्ण संक्रमण-काल से गुजर रहा था।

जनता के दुर्द्धर्ष संघर्षों और अकूत बलिदानों ने उपनिवेशवाद को पीछे हटने के लिए विवश कर दिया था, पर वामपन्थी नेतृत्व की गम्भीर अन्तर्निहित कमजोरियों और गलतियों के कारण कांग्रेस के बुर्जुआ नेतृत्व ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली थी और औपनिवेशीकरण और क्रान्तिकारी भूमि-सुधार के कामों को (अपने वर्ग-हितों के अनुरूप) अधूरा छोड़कर एक बुर्जुआ संविधान के निर्माण और शासन चलाने की बुनियादी नीतियों का निर्धारण करते हुए अपनी सत्ता के सुदृढ़ीकरण के

काम को कुटिल चतुराई के साथ अन्जाम देने लगा था। यह 1946-50 का संक्रमण काल था।

छठे दशक के उत्तरार्द्ध तक इप्टा के नाटकों और गीतों की क्रान्तिकारी ऊर्जा भी निश्शेष होने लगी थी और जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की यह महत्वपूर्ण धारा गतिरोध और क्षरण-विघटन का शिकार होने लगी थी। इप्टा आन्दोलन में सक्रिय नाट्यकर्मियों और गीतकारों-संगीतकारों की एक भारी संख्या बम्बइया फिल्मों में सपनों की सौदागरी करने लगी थी। जो ऐसा नहीं कर सके, वे भी किसी सशक्त वैकल्पिक सांस्कृतिक-वैचारिक नेतृत्व के अभाव, बिखराव और वामपन्थी राजनीति के दायरे में संशोधनवादी-सुधारवादी धारा के वर्चस्व के चलते अपनी सारी ऊर्जास्विता खोकर धीरे-धीरे निष्प्रभ होते चले गये।

साठ के दशक में, नक्सलवादी किसान उभार के बाद, सांस्कृतिक दायरे में भी, इप्टा की परम्परा नए रूपों में पुनरुज्जीवित होती प्रतीत हुई। लेकिन वामपन्थी दुस्साहसवाद के जिस वैचारिक भटकाव के चलते वह क्रान्तिकारी उभार एक नए विचारधारात्मक-राजनीतिक-सांगठनिक केन्द्र के निर्माण का प्रस्थान-बिन्दु बनने के बजाय गतिरोध और विघटन का शिकार हो गया, उसी के चलते, सांस्कृतिक क्षेत्र का नवोन्मेष भी एक सशक्त आन्दोलन की शक्ल लेते-लेते रह गया। निस्सन्देह, सत्तर और अस्सी के दशक में, वामपन्थी सांस्कृतिक संगठन फिर से सक्रिय हुए, लघु पत्रिका आन्दोलन ने एक महत्वपूर्ण वैचारिक-सांस्कृतिक भूमिका निभाई तथा नुक्कड़ नाटक और गायन की टोलियों और दस्तों की देशव्यापी सक्रियता एक नई परिघटना के रूप में सामने आई। पर बीसवीं शताब्दी का अन्तिम दशक आते-आते, इन सभी क्षेत्रों में गतिरोध स्पष्ट दीखने लगा था। जीवन की परिवर्तनशील नई सच्चाइयों और नई प्रतिकूल परिस्थितियों की वैचारिक चुनौतियों के बरक्स, जनता का सांस्कृतिक आन्दोलन सृजनात्मक लेखन, नाटक और गीत-संगीत की दुनिया में प्रयोगों के नए क्षितिज और आयाम उद्घाटित करने के बजाय दुहराव, फार्मूलावाद और जड़सूत्रवाद का शिकार हो गया। कहीं-कहीं इन कमियों का अहसास भी हुआ तो उन्हें बुर्जआ कलात्मक पच्चीकारी, लटकों-झटकों या रूपवाद की छौंक-बघार से दूर करने की कुण्ठित कोशिशें की गईं, जिनसे सांस्कृतिक परिदृश्य पर एक विद्रूप प्रहसन जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई।

हमारा राष्ट्रीय जीवन आज सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक - सभी खतरों पर एक युगान्तरकारी संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। इतिहास के ऐसे दौर प्रायः सघन-सान्द्र वैचारिक संघर्षों-आन्दोलनों के साथ-साथ सांस्कृतिक नवजागरण के महाकाव्यात्मक प्रयोगों को जन्म देते रहे हैं। यह आज के समय का तकाजा है कि एक नए सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के कार्यभारों को अंजाम देने के लिए हम अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा की फिर से पड़ताल करें, विस्मृति के गर्भ से

उत्खनन करके एक तरह से उनका पुनराविष्कार करें और गहन आलोचनात्मक विवेक के साथ उनकी खूबियों-खामियों का निरीक्षण-परीक्षण करें। 'इप्टा' के पूरे दौर को आज इसी दृष्टि से देखने की ज़रूरत है।

इस सन्दर्भ में हम यहाँ इप्टा के क्रान्तिकारी समूह-गीतों पर थोड़ी चर्चा करेंगे।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में, आम जनता के प्रतिरोध के स्वर स्वतःस्फूर्त ढंग से गीतों में भी ढलते रहे थे और लोक-कण्ठों से फूटते रहे थे। 1857 के स्वतंत्रता-संघर्ष और देश के विभिन्न हिस्सों में हुए किसान संघर्षों ने लगभग सभी भाषाओं-बोलियों में अगणित लोकगीतों को जन्म दिया था। बीसवीं सदी में आन्दोलन की गाँधीवादी धारा और क्रान्तिकारी धारा से वैचारिक प्रतिबद्धता रखनेवाले कवियों-गीतकारों ने बहुतेरे ऐसे गीत रचे थे जो जनसभाओं में और जुलूसों-प्रभातफेरियों में गाये जाते थे। इप्टा के क्रान्तिकारी समूह-गीतों की धारा आम जनता के साम्राज्यवाद-विरोधी लोकगीतों की परम्परा और राष्ट्रीय आन्दोलन की विभिन्न धाराओं से प्रभावित गीतों की परम्परा से ऊर्जास्वित-अनुप्राणित होकर विकसित हुई थी और वस्तुतः इन परम्पराओं की प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी एवं अग्रवर्ती कड़ी थी।

'इप्टा' के गीतों और नाटकों की सशक्त परम्परा को ढालने में बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष की ऐतिहासिक घटना थी। उपनिवेशवादी नीतियों के परिणामस्वरूप जन्मे इस विभिषिका के चलते बंगाल के गाँवों में भूख से मरते लाखों लोगों के पक्ष में न केवल बंगाल, बल्कि देश के अन्य क्षेत्रों के भी प्रगतिशील लेखक-संस्कृतिकर्मी उठ खड़े हुए थे। विभिन्न भाषाओं में बंगाल की व्यथा और उसके लिए जिम्मेदार ब्रिटिश शासन के विरुद्ध दर्जनों नाटक और सैंकड़ों गीत लिखे गये थे। 'इप्टा' की टोलियों ने इन नाटकों और गीतों को बंगाल के शहरों से लेकर महाराष्ट्र, पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बिहार आदि इलाकों में जनता के सामने प्रस्तुत किया और अकाल-पीड़ितों के लिए सहयोग इकट्ठा किया। इस प्रक्रिया में, नाटकों के साथ ही 'इप्टा' की टोलियों के क्रान्तिकारी समूह-गानों ने भी पूरे देश में आम जनता के बीच व्यापक लोकप्रियता अर्जित की।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद, साम्राज्यवाद-विरोधी जन-ज्वार पुनः एक नये उत्कर्ष की ओर बढ़ने लगा था। केबिनेट मिशन और अन्तरिम सरकार बनाने की कांग्रेसी-लीगी कसरतों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ नेतृत्व के असली चरित्र को जनता के सामने काफ़ी हद तक स्पष्ट कर दिया था। 1946 के नौसेना-विद्रोह ने पूरे देश में व्यापक प्रभाव छोड़ा। आन्दोलनकर्मी नौसैनिकों और उनकी मदद के लिए उठ खड़े हुए बम्बई के मज़दूरों का बर्बरतापूर्वक दमन किया गया। बम्बई की सड़कें खून से लाल हो गईं। ग़ौरतलब बात यह थी कि कांग्रेस और लीग के सभी नेताओं ने ब्रिटिश दमन के बजाय विद्रोही नौसैनिकों की ही आलोचना की और विद्रोह की आग पर पानी के छींटे मारने का काम किया। इसी ऐतिहासिक घटना पर, राष्ट्रीय

आन्दोलन के नेताओं से सवाल पूछते हुए साहिर लुधियानवी ने अपना यह प्रसिद्ध गीत लिखा था जिसे 'इप्टा' की गायन टोलियों ने पूरे देश में लोकप्रिय बना दिया था -

ऐ रहबरे-मुल्को-कौम बता
आँखें तो उठा नज़रें तो मिला
कुछ हम भी सुनें हमको भी बता
ये किसका लहू है कौन मरा....
धरती की सुलगती छाती पर
बेचैन शरारे पूछते हैं
हम लोग जिन्हें अपना न सके
वे खून के धारे पूछते हैं
सड़कों की जुबाँ चिल्लाती है
सागर के किनारे पूछते हैं
ये किसका लहू है कौन मरा...

गीतकार शंकर शैलेन्द्र ने भी अपना प्रसिद्ध गीत 'क्रान्ति के लिए उठे कदम, क्रान्ति के लिए जली मशाल' इसी दौर में लिखा था, जिसे 'इप्टा' की टोलियाँ जब गाती थीं तो हज़ारों लोग साथ-साथ गाने लगते थे। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, अहमदाबाद आदि शहरों में इस दौरान मज़दूरों के उग्र हड़तालों-प्रदर्शनों का सिलसिला जारी था। शंकर शैलेन्द्र का गीत 'हर ज़ोर-जुल्म के टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है" मज़दूर हड़तालों का मानो उद्घोषक-गान बन गया था। सिर्फ़ इप्टा की टोलियाँ ही नहीं, बल्कि जहाँ भी हड़ताल होती थी वहाँ के मज़दूर न सिर्फ़ इस गीत को लहककर गाते थे, बल्कि इसकी टेक की पंक्तियों का नारे के समान भी इस्तेमाल करते थे। क्रान्तिकारी समूह गीतों के इतिहास में बहुत कम गीतों को इतनी व्यापक लोकप्रियता हासिल हुई होगी और वह भी इस तरह कि लिखे जाने के महज एक-दो वर्षों के भीतर यह गीत करोड़ों लोगों की जुबान पर चढ़ गया था।

1946 से 1951 के बीच तेभागा, तेलंगाना और पुनप्रा-वायलार के गौरवशाली किसान-संघर्ष को लेकर हिन्दी, उर्दू, तेलगू, बंगला, और मलायलम में सैकड़ों की संख्या में गीत लिखे गये, जिन्हें न सिर्फ़ इप्टा की गायन टोलियाँ बल्कि हज़ारों-हज़ार आन्दोलनकारी किसान और खेत-मज़दूर भी गाते थे। प्रसिद्ध शायर **मखदूम मोहिउद्दीन** ने तेलंगाना किसान-संघर्ष के दौरान की एक घटना पर ही अपना यह प्रसिद्ध गीत लिखा थाः 'दो बदन प्यार की आग में जल गये, इक चमेली के मड़वे तले', जिसका इस्तेमाल बाद में एक बम्बइया व्यावसायिक फिल्म में, मूल सन्दर्भ से काटकर और पिलपिले ढंग से नया रोमानी सन्दर्भ देकर किया गया था।

फ़ैज़ का प्रसिद्ध तराना 'दरबारे-वतन में जब एक दिन सब जानेवाले जायेंगे...' इप्टा की टोलियों का एक प्रिय गीत था। फ़ैज़ का जो दूसरा गीत इप्टा की गायन-टोलियों द्वारा खूब गाया जाता था और जिसे व्यापक-लोकप्रियता मिली थी, वह था -

हम मेहनतकश जगवालों से जब अपना हिस्सा माँगेंगे।
इक खेत नहीं, इक देश नहीं हम सारी दुनिया माँगेंगे।

इसी दौर में तेलंगाना किसान संघर्ष से बतौर पार्टी कार्यकर्ता जुड़े शायर **मखदूम मोहिउद्दीन** ने यह गीत लिखा था जिसे काफ़ी लोकप्रियता मिली थी -

ये जंग है जंगे-आज़ादी
आज़ादी के परचम तले
हम हिन्द के रहनेवालों की, महकूमों की मज़बूरों की
आज़ादी के मतवालों की, दहकानों की, मज़दूरों की...

जां निसार अख्तर का यह गीत उस दौर में शहरी मज़दूरों और नौजवानों के बीच विशेष लोकप्रिय हुआ था -

मैं उनके गीत गाता हूँ, मैं उनके गीत गाता हूँ।
जो शाने पर बगावत का अलम लेकर निकलते हैं
किसी जालिम हुकूमत के धड़कते दिल पे चलते हैं
मैं उनके गीत गाता हूँ, मैं उनके गीत गाता हूँ।

कुचल सकते हैं जो मज़दूर जर के आस्तीनों को
जो जलकर आग दे देते हैं, जंगी कारखानों को
मैं उनके गीत गाता हूँ, मैं उनके गीत गाता हूँ...

इनके अतिरिक्त **शंकर शैलेन्द्र, मजरूह, मजाज़, कैफ़ी आज़मी, अली सरदार जाफ़री, खलीलुर्रहमान आज़मी, साहिर** आदि के गीतों की लोकप्रियता काफ़ी व्यापक थी और लगभग सभी भाषाभाषी क्षेत्रों में थी। हिन्दी क्षेत्र में **शंकर शैलेन्द्र** के अतिरिक्त जनकवि **शील** के कुछ गीत काफ़ी लोकप्रिय हुए थे। खासकर, शील के इन गीतों की लोकप्रियता काफ़ी व्यापक थी -

देश हमारा धरती अपनी, हम धरती के लाल
नया संसार बसायेंगे, नया इंसान बनायेंगे...
नया आदमी माँग रहा है जीने का अधिकार।

नई ज़िन्दगी है नई है सदाएँ
नए गीत गाते चले जा रहे हैं
नई रोशनी है नई हैं हवाएँ,

नए गुल खिलाते चले जा रहे हैं।

काम किए जा, काम किए जा
काम किए जा कामरेड।...

गीत गा कि एक-एक भारतीय गा उठे
जमीर जगमगा उठे, ज़मीन मुस्करा उठे...

बंगला के प्रसिद्ध कवि हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने विश्व मज़दूर आन्दोलन के प्रसिद्ध गीत 'इण्टरनेशनल' का बंगला और हिन्दी में रूपान्तरण सम्भवतः कुछ समय पहले किया था, पर इसे व्यापक मेहनतकश अवाम तक पहुँचाने का काम, खासकर पचास के दशक में इप्टा की गायन टोलियों ने ही किया था।

नए प्रयोगों के मामले में, गायन के क्षेत्र में इप्टा की बंगाल की टोलियाँ निर्विवाद रूप से सबसे आगे थीं। बंगाल की इप्टा की गायन टोलियों ने क्लासिकी परम्परा, रवीन्द्र संगीत की नवक्लासिकी परम्परा, नजरूल-गीति की राष्ट्रीय जनवादी धारा और बाउल संगीत, माझी गीत आदि विविध लोक-परम्पराओं के अवयवों से जनवादी संगीत के नए-नए रूप संघटित किये। साथ ही पश्चिमी संगीत की क्लासिकी धारा, लोकधारा (जैसे अश्वेत संगीत) और सर्वहारा संगीत की धारा को भी अत्यन्त सर्जनात्मक ढंग से विकसित किया। पॉल रॉबसन के कई प्रसिद्ध गीतों का इस दौरान बड़े खूबसूरत ढंग से बंगला रूपान्तरण किया गया। इन प्रयोगों में सलिल चौधरी की एक अग्रणी भूमिका रही थी। यूरोप और अमेरिका के मज़दूर आन्दोलन में तीसरे-चौथे दशक के दौरान लोकप्रिय कई गीतों के आधार पर बंगला में कई गीत लिखे गये। यही नहीं, सुकान्त भट्टाचार्य की कई कविताओं की इप्टा की टोलियों ने संगीतबद्ध करके मंच से प्रस्तुत करने का काम भी किया। बंगाल के माझी गीत, कहारों के गीत आदि की लोकधुनों के आधार पर जो गीत काफ़ी लोकप्रिय हुए थे, उनमें से कुछ के हिन्दी रूपान्तरण हुए और कुछ ऐसे ही प्रयोग हिन्दी में भी हुए जिन्हें काफ़ी ख्याति मिली। इन गीतों में से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है -

माझी रे... साथी रे...
घुमड़ आये बदरा माझी रे...
ओ हो हो...

उमड़ा सागर ढलता सूरज
साँझ की बेला आई, हैया रे हैया
अँधियारे ने जाल बिछाया
साँझ की बदरी छाई, हैया रे हैया...

अब मचल उठा है दरिया
अब सर पर घिरी बदरिया
उनचास पवन डोले झंझा की बजे बँसुरिया
नैया पार लगा, हो नैया पार लगा...

जागा रे जागा रे जागा सारा संसार
फूटी किरन लाल है खुलता है पूरब का द्वार...

हो सावधान आया तूफ़ान
पर दूर नहीं है किनारा
हम ही मुसाफिर, हम ही खिवैया
हम सब हिम्मत वाले
निकल पड़े मौजों से लड़ने
देशभक्त मतवाले...

अब जाग उठो तैयार हो लख कोटि भाइयो
हम भूख से मरनेवाले न मौत से डरनेवाले
आज़ादी का डंका बजाओ उठाओ लाल निशान...

जनता के दुर्द्धर्ष संघर्षों और अकूत कुर्बानियों का सौदा करके और उसके स्वप्नों-आकांक्षाओं के साथ विश्वासघात करके कांग्रेसी नेतृत्व ने 1947 में जो अधूरी और विकलांग आज़ादी हासिल की, उसने शहीदे-आज़म भगतसिंह की चेतावनी को शत-प्रतिशत सही साबित किया।

इस आज़ादी के असली चरित्र को सबसे पहले अली सरदार जाफरी, फ़ैज़, शंकर शैलेन्द्र, खलीलुर्रहमान आजमी आदि ने अपनी कविताओं-नज़्मों में उजागर करने का काम किया। इप्टा की टोलियों ने इन कविताओं-नज़्मों को मंचों से प्रस्तुत करके जन-भावनाओं को अभिव्यक्त करने का काम किया।

फ़ैज़ ने 15 अगस्त, 1947 की आज़ादी को 'ये दाग़-दाग़ उजाला ये सबगजीदा सहर' का नाम दिया। अली सरदार जाफ़री ने लिखा -

कौन आज़ाद हुआ
किसके माथे से गुलामी की सियाही छूटी
मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमी का
मादरे-हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही।

खलीलुर्रहमान आजमी का कहना था -

अभी वही है निज़ामे-कोहना, अभी तो जुल्मों-सितम वही है

अभी मैं किस तरह मुस्कराऊँ अभी तो रंज़ो-अलम वही है।

और शंकर शैलेन्द्र ने लिखा -

भगतसिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की
देशभक्ति के लिए मिलेगी सजा आज भी फाँसी की।

आज़ाद देश की सरकार ने जब तेलंगाना किसाान संघर्ष को सैनिक बूटों और संगीनों से कुचल डाला तो आज़ादी का चरित्र एकदम साफ़ हो गया। लेकिन विडम्बना यह थी कि तेलंगाना किसान संघर्ष की पराजय के बाद से ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी 'क्रान्तिमार्ग का परित्याग करके संसद मार्ग की अनुगामी बनने की प्रक्रिया शुरू कर चुकी थी। नेहरू के 'समाजवाद' में उसे उम्मीद की किरणें दीखने लगी थीं। अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर ख्रुश्चेवी 'गुलाश कम्युनिज़्म' के उदय के बाद भारतीय संसद मार्गी कम्युनिज्म को मानो अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाण-पत्र भी हासिल हो गया।

साठ के दशक में वामपन्थी राजनीति की क्रान्तिकारी ऊष्मा निश्शेष होने के साथ ही प्रगतिशील लेखक संघ और इप्टा के सांस्कृतिक आन्दोलन के गतिरोध और विघटन की क्रिया भी तेज गति से आगे बढ़ी और 57-58 तक अपनी तार्किक परिणति तक जा पहुँची। इप्टा का आन्दोलन विघटित हो गया और सत्तर के दशक में जब उसे पुनर्जीवित करने की कोशिश भी हुई तो वह इप्टा के नाम पर महज कुछ छद्‌म वाममार्गी, सुधारवादी, अभिजनवर्गीय, फैशनेबुल प्रेतों का जागरण ही सिद्ध हुआ।

नक्सलबाड़ी किसान-उभार के बाद देश में क्रान्तिकारी वामपंथ की जिस राजनीति का सूत्रपात हुआ वह सत्तर के दशक में ही अपनी विचारधारात्मक कमजोरियों (मुख्यतः वामपन्थी दुस्साहसवादी भटकाव) के चलते बिखराव का शिकार हो गया। इस आन्दोलन की गर्मी ने एक नए सांस्कृतिक आन्दोलन की प्रबल सम्भावनाओं को जन्म दिया, पर ये सम्भावनाएँ भी जल्दी ही गतिरोध का शिकार होकर स्खलित हो गईं।

आज भूमण्डलीकरण के नए साम्राज्यवादी दौर में, सांस्कृतिक उपकरणों का साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी और देशी पूँजीवादी सत्ता द्वारा अत्यन्त प्रभावी इस्तेमाल किया जा रहा है। ऐसे दौर में साम्राज्यवादी-पूँजीवादी संस्कृति के वैचारिक हमलों का प्रतिकार करने के साथ ही जनता की वैकल्पिक संस्कृति के कारगर उपकरण विकसित करने का कार्यभार हमारे सामने है। क्रान्तिकारी समूह गीतों और गायन टोलियों की इस सन्दर्भ में, आज भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। इस प्रश्न पर आज नए सिरे से सोचने की ज़रूरत है और इसके लिए इप्टा के स्वर्णिम दौर के अनुभवों और समृद्ध परम्परा से हमें काफ़ी कुछ अभी भी सीखना है। नए दौर

के सर्वहारा गीत नए होंगे। आज का सर्वहारा संगीत भी नया होगा। पर उनमें परिवर्तन के साथ निरन्तरता के तत्वों का भी द्वन्द्वात्मक संश्लेषण करना होगा। तभी हमारे नए समूह-गीतों की नई अन्तर्वस्तु नए रूपाकारों में ढलकर प्रभावी बन सकेगी।

(‘वर्तमान साहित्य’ के शताब्दी कविता विशेषांक मई-जून, 2000 में प्रकाशित)

आज की हिन्दी कविता : परम्परा की विरासत और भविष्य की सम्भावनाएँ

अन्तर्वस्तु और रूप की दृष्टि से आज की हिन्दी कविता यदि किसी एक पूर्वज कवि की सबसे अधिक ऋणी है, तो निस्सन्देह वे निराला हैं। निराला के कृतित्व की बहुआयामिता में उनके युग के विभिन्न पहलू प्रतिबिम्बित हो रहे थे। उनकी सर्जना के अन्तरविरोध उनके देशकाल के अन्तरविरोधों के प्रतिफलन थे।

कहीं उनका काव्यस्वर ह्रासमानता के नैराश्य को प्रकट करता है तो कहीं उनके काव्यक्षितिज पर भविष्य की अरुणाभा दिखाई देती है।

एक ओर संस्कृत शब्द बहुल, क्लासिकी शैली के गीत निराला ने अपने अन्तिम दौर तक लिखे। इस शैली का प्रतिनिधित्व निराला के बाद जानकी वल्लभ शास्त्री के गीतों की परम्परा में होता दीखता है। दूसरी ओर प्रसाद गुण युक्त जनवादी शैली के जिन गीतों को आगे त्रिलोचन के रचना-संसार में विस्तार मिला, जिस ओजपूर्ण जनवादी गीति शैली का प्रतिनिधित्व आगे चलकर शील, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन' और डा० रामविलास शर्मा ने किया तथा जिस तरह से माधुर्यगुण युक्त जनवादी शैली के प्रतिनिधि गीतकार केदारनाथ अग्रवाल माने गये, उन सभी शैलियों के उत्स हमें निराला की काव्य सर्जना से फूटते दिखाई देते हैं।

यह बात उल्लेखनीय है कि शमशेर और त्रिलोचन से पहले निराला ने उर्दू के काव्यरूपों को अपनाया था और हिन्दी में ग़ज़लें लिखी थीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म और व्यापक से व्यापक रंगों-गंधों और जटिल बिम्ब-विधान वाली गद्यात्मक आधुनिका शैली, जो आगे मुक्तिबोध और शमशेर के कृतित्व में अलग-अलग ढंग से विस्तारित होती है, वह सबसे पहले निराला की ही कुछ लम्बी और कुछ छोटी कविताओं में दृष्टिगोचर होती है। भारत भूषण अग्रवाल और प्रभाकर माचवे जैसे तार सप्तक के कवियों पर निराला की हास्य व्यंग्य परक अगीतात्मक पद्य रचनाओं की स्पष्ट छाया दीखती है। नागार्जुन की राजनीतिक व्यंग्यमूलक कविताओं की धारा का उद्गम निराला की 'झींगुर डट कर बोला', 'मँहगू महँगा रहा', '...न आये वीर जवाहरलाल', 'राजे ने रखवाली की' जैसी कविताओं में सहज ही ढूँढ़ा जा सकता है।

नई कविता की जो नई धारा हिन्दी में पचास के दशक में फूटी और साठ के

दशक में अलग-अलग रूपों में विकसित और फिर विघटित हुई, उसकी शुरुआत निराला की कविता 'जलाशय के किनारे कोहरी थी' ('अणिमा' की अन्तिम कविता) से माना जा सकता है।

हिन्दी में प्रगतिवादी कविता का जो स्वर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के कृतित्व में फूटा और परिपक्व हुआ तथा आगे चलकर पुनःसंस्कारित होकर, साठ और सत्तर के दशक में जिसने जनवादी कविता के रूप में नया विस्तार पाया उसकी शुरुआत निराला की 'बेला' और 'नये पत्ते' की कविताओं से मानी जा सकती है।

पचास और साठ के दशक में शम्भूनाथ सिंह, केदारनाथ सिंह और ठाकुर प्रसाद सिंह आदि ने नवगीत विद्या की शुरुआत की। पर इससे भी पहले, यह प्रवृत्ति हमें निराला के "मैं अकेला, देखता हूँ, आ रही मेरे दिवस की सांध्य बेला" और "स्नेह निर्झर बह गया है/रेत ज्यों तन रह गया है" जैसे गीतों में ('अणिमा' में संकलित) दिखाई देती है।

'अकविता' आन्दोलन का अंध-अराजक और सर्वनिषेधवादी स्वर भी निराला के उग्र अराजकतावादी स्वर का ही अधोमुखी विस्तार था। जगदीश चतुर्वेदी स्वयं मानते हैं कि अकविता की प्रेरणा उन्हें निराला की 'कुकुरमत्ता' और 'खजोहरा' जैसी कविताओं से मिली। रामविलास शर्मा ने साठ के दशक में प्रचलित 'एब्सर्ड' कविता का सम्बन्ध भी निराला की 'ताकि कमसिन वारि' जैसी कविताओं से जोड़ा है। फ़र्क यह है कि निराला की 'ताकि कमसिन वारि' कविता का रूपबन्ध 'क्लासिकल' है; जबकि उत्तरवर्ती 'एब्सर्ड' कविता और उसकी सहवर्ती धाराएँ विकृतिमूलक स्वच्छन्दतावादी मिजाज की है।

बीसवीं सदी के अन्त की ही नहीं, बल्कि इक्कीसवीं सदी की प्रगतिशील जनवादी कविता भी प्रत्यक्षतः निराला की ऋणी रहेगी। अपने रचनाकाल के प्रथम दौर में निराला द्विवेदी युग की भावोच्छवासी राष्ट्रवादी कविता और छायावादी दौर के स्वच्छन्दतावादी के बीच के सेतु के रूप में दिखते हैं। दूसरी ओर वे छायावाद की परिधि का अतिक्रमण करते हुए प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की धाराओं को प्रभावित करते हुए और उससे भी आगे नई कविता की प्रतिबद्ध धारा और उत्तरवर्ती जनवादी काव्य-सरणि को भी प्रेरित अनुप्राणित करते दिखायी देते हैं। निराला प्रगतिरोधी अन्तर्वस्तु और रूप से टकराते हुए लगातार नई अन्तर्वस्तु और रूप का अन्वेषण करते हैं, हालाँकि यह भी सही है कि इस प्रक्रिया में कई बार वे वापस लौटते हुए, अन्तरविरोधों से मुक्त न हो पाते हुए और पराजय बोध से भी ग्रस्त दीखतें हैं और कहीं-कहीं पुरातनता के संस्कारों को तोड़ने में विफल वेदान्त की खोह में शरण लेते भी दीखते हैं। पर यदि समग्र मूल्याँकन किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि निराला ने द्विवेद्वी युग और छायावाद की सर्वोत्कृष्ट परम्पराओं को आत्मसात करते

हुए उनकी सीमाओं का अतिक्रमण किया तथा प्रयोग की नयी ज़मीन और अभिव्यक्ति के नये क्षितिज उद्घाटित किये। वे निरन्तरता और परिवर्तन के तत्वों के द्वन्द्वात्मक सम्मिलन के मूर्त रूप थे। राजकुमार सैनी ने उन्हें "आधुनिक हिन्दी में प्राचीन सौन्दर्याभिरुचियों के अन्तिम और नवीन सौन्दर्याभिरुचियों के पहले महाकवि" ('साहित्यद्रष्टा निराला') की संज्ञा ठीक ही दी है।

द्विवेद्वी युगीन कविता का राष्ट्रवादी स्वर ओजपूर्ण और प्रेभंजक होते हुए भी अतीतोन्मुख था। प्रसाद छायावादी दौर के उस स्वच्छन्दतावादी स्वर के प्रतिनिधि थे, जो औपनिवेशक समाज की काव्यालोचना प्रस्तुत करते हुए समकालीन समस्याओं का समाधान अतीत से अनुप्राणित यूटोपियों में तलाश रहे थे। पन्त का स्वच्छन्दतावाद प्रकृति की ओर मुड़ता है और उनकी आत्मपरकता आत्मग्रस्तता के सीमान्तों तक जा पहुँचती है। 'युगवाणी' और ग्राम्या तक आते-आते (1937-1938 के आस-पास) वे प्रगतिवादी स्वर अपनाते दीखते हैं, पर इस आरोपित प्रगतिधर्मिता के निश्शेष होते देर नहीं लगती और अन्ततोगत्वा मोक्ष पद वे 'चिदम्बरा' के आध्यात्मवाद में ही पाते हैं। निराला का स्वच्छन्दतावाद कुछ अर्थों में अंग्रेजी के कवि शेली से तुलनीय है। वर्तमान की आलोचना करते हुए वे धीरे-धीरे अतीत की ओर देखना बन्द कर देते हैं, परम्परा की भी समालोचना शुरू करते हैं और धीरे-धीरे उनका वेदान्ती आमूल परिवर्तनवाद जुझारू भौतिकवादी स्वर में संक्रमण करता दिखाई देता है। 'जूही की कली', 'शेफालिका' और 'सांध्य सुन्दरी' की स्वरस्थापित छायावादी प्रतिमाओं का विखण्डन करके निराला हिन्दी कविता में पत्थर तोड़ने वाली सर्वहारा नायिका को स्थापित करते हैं; गुलाब की जगह 'कुकुरमुत्ता' को स्थापित करते हैं, उनकी कविताओं में झींगुर डटकर बोलने लगता है और अमीरों की हवेली में खुली पाठशाला में धोबी, पासी, चमार और तेली अँधेरे का ताला खोलने लगते हैं।

1936-1937 के आसपास कविता में प्रगतिवाद का जो स्वर फूटा, उसे निरन्तरतापूर्ण विकास सिर्फ़ नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के कृतित्व में मिला। इन तीन कवियों के अतिरिक्त जिन बहुतेरे कवियों ने यांत्रिक भौतिकवाद वैचारिक संकीर्णता के साथ या आदर्शवादी रूमानी भावोच्छवास के साथ मज़दूर किसान के जीवन, सर्वहारा क्रान्ति या समतापूर्ण समाज के बारे में तुकबन्दी या नारेबाजी की, वह सब कुछ जल्दी ही काल के प्रवाह में तिरोहित हो गया और विस्मृति के गुहान्धकार में खो गया। नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन की सर्जनात्मकता "नई कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलन्दाजी" के दौर में भी गतिमान रही तथा परिमल के रूपवाद एवं नवगीतों के रूमानी भावोच्छवास के दौर से आगे बढ़ते हुए अकविता के सर्वनिषेधी, अराजकतावाद के दौर में भी यह अविकल प्रवहमान रही। सत्तर के दशक में नई जनवादी कविता की धारा के साथ इन तीन कवियों की सर्जनात्मक भी जुड़ी पर उसके यांत्रिक अतिआवेशित क्रान्तिधर्मिता से ये तीनों ही अछूते रहे और

एक हद तक उपेक्षित भी। 1980 के बाद जनवादी और प्रगतिशील काव्यधारा ने आत्मसंघर्ष और आत्मालोचना करते हुए परिपक्वता अर्जित करने के क्रम में जब अपनी परम्परा की फिर से खोज शुरू की तो मुक्तिबोध और शमशेर के साथ नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन के आधी सदी के विस्तार में फैले काव्य प्रदेश में नई-नई खोजपूर्ण यात्राओं का पुनराम्भ हुआ। कहा जा सकता है कि निराला के बाद जनसंग ऊष्मा से आप्लावित हिन्दी की प्रगतिशील कविता के शिखर पुरुष मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन ही हैं।

मुक्तिबोध और शमशेर बहादुर सिंह प्रयोगवादी कविता या नई कविता की प्रयोगवादी कविता या नई कविता की प्रारम्भिक धारा से जुड़े रहे थे। आगे चलकर उनकी नई कविता के आत्मसंघर्ष में सामाजिक द्वन्द्व प्रतिफलित होने लगता है जबकि अज्ञेय की "नई कविता की बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलंदाजी" होने लगती है। मुक्तिबोध और शमशेर का जुड़ाव प्रगतिशील लेखक संघ से हुआ जबकि अज्ञेय 'कांग्रेस फॉर कल्चर फ्रीडम' बनाने के काम में जुट गये।

उस दौर की प्रगतिवादी कविताओं के इकहरेपन और अद्वन्द्वात्मक रूप के विपरीत मुक्तिबोध की कविता में द्वन्द्व के दो पक्षों का विकट संघात है। मुक्तिबोध की कविता प्रायः आत्मगत है, आत्मचेतस है, पर आत्मग्रस्त या आत्मकेन्द्रित नहीं है। अज्ञेय के आधुनिकतावाद के समान्तर मुक्तिबोध की कविता द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी तर्क प्रणाली से लैसे आधुनिकताबोध काव्यसत्य का संधान का संधान करती खड़ी होती है। वस्तुगत यथार्थ के संघात मध्यवर्गीय मानस के मनोजगत में जो तरंगें उत्पन्न करते हैं, उन्हीं की अभिव्यक्ति के जरिये मुक्तिबोध सामाजिक जीवन के द्वन्द्वों को और उसमें अपनी पक्षधरता की ईमानदार आकुल चिन्तओं को प्रकट करते हैं। निराला से विरासत में आधुनिक गद्यात्मक शैली की विरासत को अपनाकर मुक्तिबोध ने उसे अपना नया मुहावरा दिया और हिन्दी की पक्षधर कविता को विचार, तर्क और बहस करती दीर्घरूपा कविताओं का एक सर्वथा नया रूप विकसित किया, जो निराला की दीर्घ प्रगीतात्मक कविताओं से सर्वथा भिन्न था। फंतासी, स्वप्नबिम्बों और रूपकों की सघन बुनावट और कहीं-कहीं कथात्मक ताना-बाना लिये हुए, तथा कहीं पाठक से तो कहीं खुद से संवाद करती, सवाल उठाती मुक्तिबोध की कविताओं ने अपने बाद के कवियों की हर पीढ़ी को वैचारिक-खुराक और उत्प्रेरण तो दिया पर अपनी संरचना में वे इतनी संश्लिष्ट और विशिष्ट हैं कि आज तक अनन्य है और मुक्तिबोध हिन्दी में अपने ढंग के अकेले कवि हैं। दार्शनिकता और वैचारिक द्वन्द्वों से आप्लवित मुक्तिबोध की कविता में बौद्धिक वैयक्तिकता है, इनमें आधुनिक मध्यवर्ग के परिवर्तनकामी जनपक्षीय हिस्से के मानस में घुमड़ते-टकराते द्वन्द्व है और उनके माध्यम से युगीन समाज के वस्तुगत जीवन के द्वन्द्व भी है। इसी नाते मुक्तिबोध की प्रारम्भिक कविताओं को छोड़कर अधिकांश कविताओं में कई परतें या संस्तर हैं तथा

ठोस वस्तुगत यथार्थ का काव्यात्मक अमूर्तन है। मुक्तिबोध घोषित मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के कवि थे। उनकी कविताओं में निरुपित आत्मसंघर्ष में वर्गान्तरण की चिन्ता है - जिसकी पृष्ठभूमि के तौर पर वर्ग संघर्ष - उनके देशकाल का युगीन यथार्थ सर्वत्र मौजूद है। गहरे अन्तर्द्वन्द्व और विशिष्ट मानवीय अभिप्राय के साथ ही मुक्तिबोध भयानक खबरों के कवि हैं। उन्हें अपने वर्तमान की दिशा और गति पता है, इसलिए भविष्य के विकट संघर्षों और उसकी सुखद परिणतियों का भी अहसास है। उनकी कविताओं में उपेक्षित काल पीड़ित सत्य है तो उसके घर में ज़िन्दगी की कोख से जन्मा नया इस्पात भी है, दिमागी गुहान्धकार में कैद औराँग-उटाँग और ब्रह्मराक्षस की ट्रेजडी के रूप में बुद्धिजीवी की अकर्मण्य, आत्मग्रस्त, अहंवादी तर्कणा की नियति है, तो अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का निश्चय भी है और छापामार लोकयुद्ध के स्वप्नदृश्य भी है; सिर पर साँवले पँख फैलाये, मँडराते वृहदाकार पक्षी, अँधेरे में टूटी सीढ़ियाँ और खाकी खतरे हैं, बरगद, पीपल, खण्डहर, बावली और वियाबान हैं, तो दूसरी और मालव निर्झर की झरझर कंचन रेखा, दीप्ति वलयित विचार रत्न, व्यक्त्विांतरित तरुणाई और आत्मसम्भवा परमअभिव्यक्ति भी है। मुक्तिबोध ने संक्रमणकालीन भारतीय समाज के कृष्ण और शुक्ल पक्षों को ज्ञानात्मक संवेदन के रूप में अनुभव किया है, फिर उसे आभ्यंतरित करके संवेदनात्मक ज्ञान में बदला है और फिर कविता के रूप में उसकी पुनर्रचना की है। मुक्तिबोध की कविता समाज के उजले-गंदले प्रवाह में धँसकर खुद से संवाद करती है और अपने युग की सभ्यता-समीक्षा करती है। जीवन के भयानक अंधकार को चीरने वाली चिंगारी मुक्तिबोध के लिए मार्क्सवाद है और साथ ही उनके लिए कविता के रचनात्मक संयोजन का औजार भी है।

भारतीय जीवन कठिन युगीन संक्रमण से आज फिर गुजर रहा है जब पूँजीवादी व्यवस्था की हृदयहीनता आततायीपन, अलगाव, उपभोक्तावाद, मध्यवर्गीय दुरंगापन और उजरती गुलामों की त्रासदी मुक्तिबोध के समय से कई गुना अधिक भयावह है लेकिन इसके पार 'मालव निर्झर की कंचन रेखा' भी है। एक आग का दरिया पार कर भारतीय जीवन को और भारतीय कविता को अन्ततः वहाँ तक पहुँचना ही है। और तभी जाकर शायद मुक्तिबोध की महानता का और उस असम्भवप्राय काव्यात्मक उद्यम का सही मूल्याँकन हो सकेगा जिसके द्वारा उन्होंने अपनी कविता में विचारों के गुरुत्व और भावनाओं के आवेग का इतना उच्चस्तरीय द्वन्द्वात्मक संश्लेषण प्रस्तुत किया है। तब तक, और शायद उसके बाद भी, मुक्तिबोध अपने आप में हिन्दी कविता के एक विश्वविद्यालय बने रहेंगे और उनसे एकदम अलग शैली और शिल्प वाले कवियों की पीढ़ियाँ-दर-पीढ़ियाँ उनसे अनुप्राणित होती रहेंगी।

शमशेर बहादुर सिंह प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि से ऊपर उठकर प्रयोगनिष्ठ लोकधर्मी सम्वेदना के कवि के रूप में सामने आये। हालाँकि उन्होंने "वाम-वाम-वाम

दिशा/समय साम्यवादी", 'लेकर सीधा नारा' और 'अमन राग' जैसी प्रगतिवादी सरोकारोंवाली राजनीतिक कविताएँ भी लिखीं, पर ये कविताएँ प्रगतिवादी रीतिबद्धता में कैद होकर रह गईं। जहाँ उन्होंने युद्ध या शान्ति या साम्प्रदायिक फासीवाद को कविता की विषय-वस्तु बनाया, वहाँ मार्क्सवाद से विचलन दीखता है और मानवतावादी शान्तिवादी स्वर मुखर हो जाते हैं। शमशेर वस्तुतः निजी अनुभूतियों की संश्लिष्ट बारीक बुनावट के और रोमानी भावभूमि के कवि हैं। पर सामाजिक उद्वेलनों से वे अप्रभावित नहीं रहते। गहरे मानवीय सरोकारों से युक्त और प्यार की अतृप्त प्यास एवं तरल पारभासी अभिव्यक्तियों वाली कविता उनके जीवन में व्याप्त कुरूपताओं और अजनबियत...के प्रति हमारे भीतर जागरुकता और वितृष्णा पैदा करती है। इसीलिए अपने दुरुह अमूर्तन और वैयक्तिकता के बावजूद शमशेर जनपक्ष के कवि ही ठहरते हैं। शमशेर त्रिलोचन की तरह सब कुछ प्रकट नहीं करते। वे शब्दों और बिम्बों को कविता कैनवास पर रेखाओं और रंगों की तरह बिखेर देते हैं तथा विराम चिह्नों, डैश, डॉट आदि के द्वारा - शब्दों के बीच के अन्तराल में छुपे, अनकही रह गयी बातों को भी कहने की कोशिश करते हैं। **मार्क्स** ने सघन ऐन्द्रिकता और स्वस्थ मानवीय वासना के जिस गुण के लिए प्रारम्भिक सर्वहारा कविता के पुरोधा **वेयेर्त** की तारीफ की थी, वह हमें शमशेर की कविता में भी दिखाई देता है। शमशेर प्रेम, प्रकृति और स्त्री के सौन्दर्य के जितने अनूठे आयाम उद्घटित करते हैं, वे अद्भुत और अनन्य है। अक्सर जब वे अपने अन्तश्चेतनात्मक बिम्बों को सामाजिक वस्तुगत जगत पर प्रक्षेपित करते हैं तो उनके बिम्ब खण्डित और अबूझ-से प्रतीत होते हैं। हिन्दी कविता को शमशेर ने अछूते बिम्बों, रंगों-प्रतीकों, बारीक तराश वाली कुशल शिल्पकारिता और मित-कथन की विशिष्ट भंगिमा से समृद्ध कर नई ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया।

हिन्दी की प्रगतिशील काव्य धारा में यदि सच्चे अर्थों में किसी को जनकवि कहा जा सकता है, तो निस्सन्देह वे **नागार्जुन** हैं। अपने आस-पास के जीवन की आम घटनाओं, आम चरित्रों और छोटी से छोटी चीज़ों के प्रति सघन सम्पृक्तता, राजनीतिक घटनाओं पर त्वरित प्रतिक्रिया, प्रकृति से बाल-सुलभ लगाव, इतिहास और परम्परा से गहरा जुड़ाव, औघड़ और बिन्दास किस्म की ज़िन्दादिली, बीहड़ युयुत्सा और उद्दाम जिजीविषा नागार्जुन की कविताई की विशिष्ट अभिलाक्षणिकताएँ हैं। लू शुन, ब्रेख्त, गाँधी और रविन्द्र से लेकर दुनिया की महान क्रान्तियों तक को वे कविता का विषय बनाते हैं तो सम्पूर्ण क्रान्ति से जुड़ाव और फिर "खिचड़ी विप्लव" कहते हुए उससे मोहभंग की कविताएँ भी लिखते हैं, बिहार में दलित उत्पीड़न पर हरिजन-दहन की काव्यात्मक गाथा भी लिखते हैं, आपातकाल के काले अँधेरे पर निर्भीक टिप्पणी भी करते हैं तथा नक्सलबाड़ी और भोजपुर के संघर्षों में शामिल युवाओं का क्रान्तिकारी अभिनन्दन भी करते हैं। नागार्जुन की कविता में उनके आत्मीय जन, पत्नी, शिशु,

जेल के साथियों के साथ लालू साहू, नेवला और कटहल भी हैं, मिथिला की ज़मीन और विद्यापति की परम्परा भी है, कालिदास का उत्तराधिकार भी है और अपने समय के सामाजिक दायित्वों का सजग अहसास भी। "प्रतिबद्ध हूँ/सम्बद्ध हूँ/आबद्ध हूँ" - यह कवि की स्पष्ट घोषणा है। मादा सुअर को मादरे-हिन्द की बेटी बताते हुए, "ओम शान्ति" जैसी व्यंग्यात्मक... कविता लिखते हुए या सागर तट पर नँगा होकर नाचने की घोषणा करते हुए - प्रायः नागार्जुन जड़ीभूत अभिजात सौन्दर्याभिरुचि पर चोट करते हुए सहज बेलौस अभिव्यक्ति का नया सौन्दर्यशास्त्र रचते हैं। एक ओर "बादल को घिरते देखा है" जैसी कविताओं में क्लासिकी रूपबन्ध है तो दूसरी ओर लोकरूपों का संस्पर्श भी है। ऋतुचक्र, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी आदि नागार्जुन की कविता की धमनियों में रक्त के समान हैं। उनके भाषिक मुहावरे ठेठ गाँव के हैं जिनका खुरदुरापन उर्वरता और ऊर्जा से आप्लावित है। यद्यपि त्वरित प्रतिक्रिया के रूप में लिखी नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं में कई जगह अनुभववाद का दृष्टिकोण दीखता है, पर दूसरी और 'प्रेत का बयान' और 'मास्टर' जैसी कविताओं में सामाजिक-राजनीतिक विडम्बनाओं की सन्तुलित अभिव्यक्ति दिखाई देती है। कहीं-कहीं उनका विद्रोह अराजकतावाद के सीमान्तों तक भी जा पहुँचता है, पर जीवन पर सजग दृष्टि के नाते वे हमेशा अपने को सन्तुलन की स्थिति में वापस लाते हैं।

केदारनाथ अग्रवाल चालीस के दशक से लेकर आज तक लगातार रचनाशील रहे हैं। केदार की राजनीतिक कविताएँ उन्हीं के शब्दों में "खरी-खरी कहने वाली" राजनीतिक कविताएँ हैं। यद्यपि कहीं-कहीं उनकी राजनीतिक कविताओं में नारेबाजी का तत्व आ जाता है, लेकिन प्रायः वे उस जन के "मारे नहीं मरने" का ओजपूर्ण उद्घोष करते हैं "जो जीवन की धूल चाटकर बड़ा हुआ है।" ओजस्विता के मामले में केदार निराला के निकट उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। प्रकृति को लेकर केदार का बोध सहज, आत्मीय और किसानी है और इस मायने में भी उनका जनवादी कवित्व निराला के स्वच्छन्दतावादी स्वर को विस्तार देता प्रतीत होता है। केदार की कविता मूलतः अनास्था पर आस्था का ओजस्वी शिलालेख है। उसके बीहड़पन में गत्यामकता और उल्लास है और उसके सतह के नीचे प्यार और सम्पृक्तता का तरल प्रवाह है। लेकिन उसकी कविता में द्वन्द्वों का सातत्य, संघात और तनाव नहीं है। सहजता का आग्रह कहीं-कहीं इकहरापन पैदा करता है।

त्रिलोचन के प्रथम संकलन 'धरती' के पद्य के बोर में शमशेर ने कहा था कि "सहजता इसका प्राण है।" यह सहजता इतिहास परम्परा सामाजिक जन-जीवन और प्रकृति के गहन और व्यापक पर्यवेक्षण और बोध से पैदा हुई है और इसी सहजता के द्वारा त्रिलोचन पूँजीवादी समाज में चतुर्दिक व्याप्त अलगाव (एलियनेशन) का निषेध या प्रतिकार करते प्रतीत होते हैं जिसे 'चित्रा जाम्बोरकर' 'चम्पा काले-काले अक्षर नहीं चीन्हती' और 'नगई मेहरा' जैसी कविताओं में प्रायः देखा जा सकता है।

अपने आत्म विवरणात्मक सॉनेटों में त्रिलोचन प्रायः आत्म विश्लेषण के कवि के रूप में सामने आते हैं। किसानी जीवन और परिवेश की रीति-नीति, आस्था-अनास्था, आशा-निराशा के अनगिनत सजीव चित्रों से भरी त्रिलोचन की कविता में भारतीय ग्रामीण सम्वेदना और मार्क्सवादी सामाजिक दृष्टि का सहज संश्लेषण है। दूसरी ओर संस्कृत की क्लासिकी परम्परा, इक़बाल और ग़ालिब के उर्दू ग़ज़लों और स्वच्छन्दतावादी अंग्रेजी सॉनेटों की आत्मा से भी ऋण लेकर त्रिलोचन ने कविता की दुनिया में पूँजी-निवेश किया है।

चालीस के दशक में कविता में आधुनिकतावाद, व्यक्तिवाद और कलावाद के स्वर अज्ञेय की कविता में फूटते हैं। हालाँकि उनके दो संकलन 'भग्नदूत' 1933 में और 'चिन्ता' 1942 में प्रकाशित हो चुके थे, पर उनकी प्रयोगवादी नयी कविता का वास्तविक रूप 1946 में प्रकाशित 'इत्यलम्' में सामने आता है जो 'हरी घास पर क्षण भर' की कविताओं में परिपक्व होता है और 'आँगन के पार द्वार' तक आते-आते शिखर तक जा पहुँचता है।

छायावादी प्रभाव से मुक्त होती अज्ञेय की कविताएँ अस्तित्ववादी गुहा में शरण लेती हैं। वे जीवन से विमुख 'कला कला के लिए' का नारा देते हैं और समाज-विमुख, स्वायत्त आत्मकेन्द्रण को, नितान्त वैयक्तिक एकाकीपन को व्यक्ति स्वातंत्र्य के रूप में निरूपित करते हैं। अज्ञेय की कविताएँ आत्मग्रस्त कविताएँ हैं, शब्द की सत्ता वहाँ जन-जीवन के अजस्र प्रवाह से असम्पृक्त है और मानवीय मूल्यों के प्रति उनकी चिन्ता प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से लेकर, पचास के पूरे दशक में और साठ के दशक के मध्य तक नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार, शमशेर की धारा नेपथ्य में चली गई प्रतीत होती है। एक और अकेले मुक्तिबोध की कविता व्यक्तित्वान्तरण और जनसंगऊष्मा से जुड़ने की चिन्ताओं से जूझती हुई संक्रमणशील भारतीय जीवन के जटिल यथार्थ को स्वर देती है, दूसरी ओर समाज-विमुख व्यक्ति-स्वातंत्र्य, ऐकान्तिक वैयक्तिकता, छिछली रूमानियत, मानव के लघुता-बोध, इतिहास विकास के नियमों के प्रति अनास्था और जन समुदाय के भौतिक जीवन के क्रिया-व्यापारों की उपेक्षा के स्वर धर्मवीर भारती और 'परिमल' ग्रुप के अन्य कवियों के कृतित्व में फूटते हैं। यह समाज-विमुख व्यक्तिवाद सम्भवतः स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद पैदा हुई मध्यवर्गीय निश्चिन्तता की उपज थी और साथ ही "नई कविता के बुर्ज से हुई शीतयुद्ध की गोलन्दाजी" का उत्तरवर्ती-प्रभाव भी।

नवगीत आन्दोलन में भी सामाजिक क्रिया-व्यापार से यही विमुखता लक्षित होती है, जहाँ मन पर प्रकृति और निजी सुख-दुःख के प्रभावों का तो बेहद सुन्दर चित्रण है, पर आम ज़िन्दगी की आहटें तक अनुपस्थित हैं।

इस दौर के कवियों में **कुँवर नारायण** चिन्तक कवि हैं पर उनका ज़ोर भी

आत्मान्वेषण पर ही अधिक रहता है। राजनीतिक प्रतिबद्धता को वे कविता की सर्जना में बाधक मानते हैं। 'चक्रव्यूह' में रहने को वे आदमी की नियति मानते हैं और उसे तोड़ना उसका धर्म।

इस दौर के कवियों में **सर्वेश्वर** और **रघुवीर सहाय** ऐसे कवि हैं जो सच्चे अर्थों में गहरे सामाजिक सरोकारों और जनवादी चेतना के कवि के रूप में अपने कृतित्व को लगातार विस्तार देते हैं। रघुवीर सहाय लोहिया की विपक्ष की राजनीति से प्रभावित होकर एकान्तिक व्यक्तिनिष्ठता और रूमानियत से मुक्त होते हैं और अपनी भाषा, कला-सजगता और अभिव्यंजना-प्रणाली को ज़्यादा से ज़्यादा विशिष्ट बनाते हुए राजनीतिक-सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं, लोकतंत्र के पाखण्डों, निरकुंश स्वेच्छाचारी तंत्र के खतरों और मध्यवर्गीय जीवन के दबावों को प्रस्तुत करते हैं। रघुवीर सहाय की कविता लगातार विकसित होकर सत्तर और अस्सी के दशक की काव्य सरणियों के साथ खड़ी होती हैं। 'हँसो-हँसो जल्दी हँसों' की कविताओं में वे आपातकाल के आतंक पर टिप्पणी करते हैं और 'लोग भूल गये हैं' (1982) तक आते-आते यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।"

सर्वेश्वर में रघुवीर सहाय जैसी भाषिक सजगता, कुशल तराश और मित-कथन का तो अभाव है, पर उनकी कविता भी सतत् विकासमान कविता है। उनकी सहज आकर्षक प्रेम कविताओं में लोक-जीवन के रंग और ध्वनियाँ हैं। उनकी कविता व्यवस्था के दबावों का प्रतिकार करती है, पूँजीवादी लोकतंत्र के पाखण्डों की खिल्ली उड़ाती है और मज़दूरों-किसानों के जीवन में व्याप्त अनाहत जिजीविषा के बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करती है। सर्वेश्वर का मध्यवर्गीय 'यूटोपिया' और अराजकतावादी निषेध ा से युक्त विद्रोही स्वर सत्तर के दशक में नक्सलबाड़ी आन्दोलन के प्रभाव में क्रान्तिकारी वामपंथ की ओर आकृष्ट हुआ। इस दौर में सर्वेश्वर की कविताओं में चीज़ों को सीधे-सीधे कह देने का एक अतिरिक्त आग्रह दीखता है। नये कवियों की पीढ़ी पर मुक्तिबोध, शमशेर, त्रिलोचन, नागार्जुन के बाद जिनका सर्वाधिक प्रभाव है, वे रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और केदारनाथ सिंह ही हैं।

केदारनाथ सिंह विशिष्ट शब्दार्थों, अनूठे बिम्ब-विधानों वाले कवि हैं जिन्होंने नवगीत की रुमानी एकान्तिकता से गहन सामाजिक सरोकारों-चिन्ताओं और मानवीय सत्ता में एकात्म आस्था तक की यात्रा की है। 1960 में प्रकाशित प्रथम संग्रह 'अभी बिल्कुल अभी' में उनके सरोकार मितकथनों से ढँके हैं जो 1980 में प्रकाशित 'ज़मीन पक रही है' और फिर 'यहाँ से देखो' तक आते-आते मुखर और परिपक्व हो जाते हैं लेकिन इसके आगे 'अकाल में सारस' की कविताओं और दीर्घ कविता 'बाघ' तक आते-आते केदारनाथ सिंह की सामाजिक चिन्ताएँ अबूझ रूपकों के संजाल में खोने लगती हैं, सजीव चीज़ें ओर ज़िन्दगी की क्रूर विडम्बनाएँ निर्जीव चीज़ों के भीड़ में गुम होने लगती है और उनकी काव्यभाषा एक जड़ीभूत सौन्दर्यशास्त्रीय गुंजलक

में फँसकर नये ढंग के रूपवाद की बानगी पेश करने लगती है। यह अनायास नहीं कि आज प्रगतिशील धारा जब जीवन और साहित्य दोनों ही स्तरों पर विपर्यय और पराजय-बोध से गुजर रही है तो कला के प्रति अतिरिक्त आग्रही हो उठे, वामपन्थी धारा के कुछ युवा कवियों में केदारनाथ सिंह के प्रति अत्याधिक रुझान दिखाई देता है। फिर भी केदारनाथ सिंह में जो चीज़ सीखने लायक है वह है उनकी भाषिक सजगता और शिल्पकारिता।

साठ का दशक भारतीय जीवन में व्यापक मोहभंग, अनास्था और निराशा लेकर आया। राष्ट्रीय आन्दोलन का रहा-सहा संवेग भी निश्शेष हो चुका था। नेहरूवादी "समाजवादी" यूटोपिया का गुलाबी रंग झड़ने लगा था और सामाजिक विकास की नेहरूवादी नीतियों की परिणतियाँ सामने आने के साथ ही मोहभंग और मूल्यहीनता का घटाटोप छाने लगा था। इसी गतिरोध की एक राजनीतिक परिणति राज्यों में ग़ैर कांग्रेसी संविद सरकार बनने के रूप में सामने आया तो दूसरी परिणति नक्सलबाड़ी किसान-उभार के रूप में। साठ के दशक में चतुर्दिक व्याप्त निराशा और अनास्था की अभिव्यक्ति बंगला, तेलगू आदि की ही तरह हिन्दी कविता में भी अकविता आन्दोलन तथा नंगी पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, शमशानी पीढ़ी आदि-आदि के रूप में सामने आये। कविता के प्रदेश में इस अराजक, सर्वनिषेधवादी विस्फोट के दो पहलू थे। इसका एक पहलू तो यह था कि सामाजिक रूढ़ियों, सामन्ती नैतिकता, मध्यवर्गीय दब्बूपन पर इसने ज़ोरदार चोट की और इस अर्थ में यह परस्पर विरोधी विद्रोह का अराजकतावादी मध्यवर्गीय स्वर था। इसका नकारात्मक पहलू यह था कि इसकी अराजकता सर्वनिषेधी थी, उसका अपना कोई मूल्य नहीं था, पुराने अस्तित्ववाद की जगह यह आधुनिकतावाद की अमेरिकी लहर से प्रभावित था। इन अराजतावादियों में राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी और सैमित्र मोहन अग्रणी थे।

इस दौर में दो आधुनिकतावादी कवियों श्रीकांत वर्मा और धूमिल की चर्चा अलग से की जानी चाहिये, क्योंकि वे अलग-अलग ढंग से उपरोक्त अराजकतावादी, अकवितावादियों से अलग हैं।

श्रीकांत वर्मा की कविताओं में विध्वंसक निषेध की जगह संयमपूर्ण भाषा है पर उनकी कविताओं का मूल स्वर आत्मरति, आत्मश्लाघा, भीड़ से घृणा, ऊब, अनिर्णय और यौन विकृतियों का है। इन अर्थों में श्रीकांत अकवितावादियों की अपेक्षा ज़्यादा प्रौढ़ और ठण्डे आधुनिकतावादी हैं। 'दिनारंभ', 'मायादर्पण' और 'जलसाघर' से 'मगध' तक आते-आते श्रीकांत वर्मा का स्वर अधिक दार्शनिक हो गया है, पर उनकी मूल चिन्ताएँ वही हैं। ऐतिहासिक अतीत को वर्तमान की असंगति के साथ जोड़ते हुए वे रास्ते की खोज करते हैं और यहाँ भी अस्तित्ववादी अवसाद है, मृत्युबोध है, महाकाल की छाया है।

धूमिल हिन्दी कविता के अपने ढंग के अकेले कवि हैं - एक धूमकेतू की तरह।

धूमिल की ऊर्जा, विक्षोभ, आक्रामकता और भाषिक नवोन्मेष हमें निराला की याद दिलाता है। लेकिन दूसरी ओर सर्वनिषेधी, विध्वंसात्मक अराजकता से सबकुछ को खारिज करते हुए 'कुछ नहीं' को स्थापित करते हए वे आधुनिकतावाद के बाजू में जा खड़े होते हैं। धूमिल के अकवितावादी विचलन और स्त्री के प्रति उनके नज़रिये में पश्चिमी रंग नहीं बल्कि किसानी ठेठपन है जो उनके मुहावरों और बिम्बों से स्पष्ट है। अपने विकास क्रम में धूमिल धीरे-धीरे राजकमल चौधरी से दूर आते हैं, उनकी राजनीतिक कविताएँ उनका मूल स्वर बन जाती हैं और एक क्रमिक प्रक्रिया में उग्र अराजक विध्वंस के स्वर का स्थान आलोचनात्मक विवेक युक्त धारदार तेवर ले लेता है। भारतीय बुर्जुआ लोकतंत्र की असलियत जानने के बाद दूसरे प्रजातंत्र की तलाश करते हुए धूमिल के किसान मन को कृषि क्रान्ति का नारा आकृष्ट करता है और 'मोचीराम' और 'पटकथा' के कवि की कविताओं में श्री काकुलम और नक्सलबाड़ी की अनुगूँजे सुनायी पड़ने लगती है। इस विकास प्रक्रिया को धूमिल की असमय मृत्यु ने बाधित कर दिया।

इस पीढ़ी के अन्य तीन कवि जो उल्लेखनीय हैं, वे हैं लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले और विनोद कुमार शुक्ल। लीलाधर जगूड़ी की प्रारम्भिक कविताओं में भी धूमिल जैसी मुहावरेबाजी और भाषिक खिलंदड़ापन है तथा अकवितावाद का प्रभाव भी है, पर वे धीरे-धीरे अपनी एक अलग राह बनाते हैं और वामपन्थी तेवर के साथ यथास्थिति की आलोचना प्रस्तुत करने लगते हैं। पर साथ ही वे अपनी गढ़ी काव्यरूढ़ियों के व्यूह में भी उलझ जाते हैं और शताब्दी के अन्तिम दशक तक आते-आते चुकते हुए प्रतीत होते हैं। चन्द्रकान्त देवताले के मानवीय सरोकार मूलतः पीड़ा और निरुपायता की अभिव्यक्ति के रूप में सामने आते हैं। धूमिल या जगूड़ी की काव्य रूढ़ियों से बचते हुए वे अपनी खुद की काव्य रूढ़ियाँ गढ़ लेते हैं।

विनोद कुमार शुक्ल मूलतः पूँजीवादी-समाज में व्याप्त अजनबियत, अकेलेपन और निरर्थकताबोध के चितेरे कवि हैं जो गत दिनों दशकों से लगभग अपने को दुहरा रहे हैं। निस्सन्देह उनकी कविता का अपना एक अलग रंग है, पर उसमें विस्तार और विकास की सम्भावनाएँ नहीं हैं। उनके सामाजिक सरोकार पाठक को सक्रिय चेष्टाओं से विमुख अवसादग्रस्त भर कर पाते हैं क्योंकि जनता की इतिहास निर्मात्री शक्ति में मूलतः उनकी कोई आस्था नहीं है।

नक्सलबाड़ी किसान उभार ने लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं के साहित्य पर एक युगान्तरकारी प्रभाव छोड़ा, यह एक स्थापित तथ्य है। आलोचक प्रवर नामवर सिंह भी स्वीकार करते हैं कि नक्सलबाड़ी के प्रभाव में वाम जनवादी साहित्य के नवोन्मेष की शुरुआत हुई। जो कवि लेखक नक्सलबाड़ी आन्दोलन की विचारधारा से असहमत थे, उन्हें भी इसने परोक्षतः प्रभावित किया। हिन्दी में लघु पत्रिका आन्दोलन साहित्य की प्रमुख धारा बन गया और उसपर वाम वर्चस्व स्थापित हो गया।

कहना न होगा कि इस प्रक्रिया के पीछे नक्सलबाड़ी परिघटना के अतिरिक्त वियतनामी क्रान्ति, फिलिस्तीनी मुक्ति युद्ध, अमेरिकी अश्वेतों के आन्दोलन, फ़्रांस के छात्र आन्दोलन, अफ्रीकी देशों में जारी मुक्ति संघर्षों और चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति की-भी अहम भूमिका थी।

नक्सलबाड़ी से शुरू हुए क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन के उभार ने हिन्दी कविता में अराजकतावाद, आधुनिकतावाद और व्यक्तिवादी अराजक मध्यवर्गीय विद्रोह को एक नई जनोन्मुख क्रान्तिधर्मी दिशा में युक्त काव्यधारा से विस्थापित कर दिया। कविता के प्रदेश में किसान क्रान्ति के स्वर सुनायी देने लगे। मध्यवर्गीय विद्रोही कवियों का एक हिस्सा भी नये युवा कवियों के साथ इधर उन्मुख हुआ। पर जिस तरह नक्सलवादी आन्दोलन सत्तर के दशक में मध्यवर्गीय अराजकतावाद और अतिवामपन्थी दुस्साहसवाद के गिरफ़्त में आकर ठहराव-बिखराव का शिकार हो गया, ठीक उसी के अनुरूप सत्तर के दशक की वाम जनवादी काव्य धारा में भी लगभग छः-सात वर्षों तक अतिवामपन्थी नारेबाजी, यांत्रिकता और बड़बोलेपन का घटाटोप-सा छाया रहा। सशस्त्र क्रान्ति की चर्चाओं के बीच जीवन, जिजीविषा, युयुत्सा आस्था के काव्यतत्व जैसे अनुपस्थित हो गये। फिर भी इस बीच जिन कवियों ने अपनी कविता की लगातार बढ़ती व्यापकता और गहराई से नयी पहचान बनाई उनमें कुमार विकल, वेणुगोपाल, आलोक धन्वा, शलभ श्रीराम सिंह, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, मंगलेश उबराल, गोरख पाण्डेय, मनमोहन, विजेन्द्र और ऋतुराज आदि के नाम अग्रगण्य हैं।

सत्तर के दशक का अन्त आते-आते वाम जनवादी के उग्र तेवर मन्द पड़ने लगे थे। यह दौर था जब अशोक वाजपेयी 'कविता की वापसी' के नाम पर एक बार फिर अस्तित्ववाद के प्रेत जगा रहे थे। कला के आग्रह वाम जनवादी शिविर में भी प्रबल हो उठे थे। पहाड़, नदी, फूल, आकाश, पक्षी और बच्चों की चर्चा कुछ ज़्यादा ही होने लगी थी। फिर एक दौर यह भी आया कि हिन्दी के कवि स्त्री के प्रति करुणा की नदी इस कदर बहाने लगे कि सबकुछ दिखावा और दुहराव बनकर रह गया। अस्सी के दशक के अन्त में जब समाजवादी स्वप्नों के स्खलन और 'इतिहास के अन्त' के शोर से पूरी दुनिया गूँज रही थी तो हिन्दी कविता में न सिर्फ़ रूपवाद और कलावाद के प्रेत एक बार फिर जाग उठे, वाम जनवादी काव्यधारा में भी 'ग्लासनोस्त-पेरेस्त्रोइका' होने लगा, कला के प्रति आग्रह-दुराग्रह बनने लगा और प्रगति और प्रतिगामिता के बीच की विभाजक रेखाओं को मिटाने की नई-नई कोशिशें की जाने लगीं। लेकिन यह समकालीन हिन्दी कविता की प्रौढ़ता-परिपक्वता का ही द्योतक है कि ये सारे उद्‌यम अल्पजीवी सिद्ध हुए और जल्दी ही परिधि पर ठेल दिये गये।

हिन्दी कविता की मुख्य धारा आज निर्विवाद रूप से वाम-जनवादी कविता की धारा है जो अपने देश काल की केन्द्रीय चिन्ताओं - सरोकारों को मुखर करने के लिए निराला से लेकर नागार्जुन - मुक्तिबोध - शमशेर - केदार - त्रिलोचन तक की अपनी

विरासत को नये सिरे से पहचान रही है, अन्य भारतीय भाषाओं की प्रतिबद्ध जनपक्षधर कविता से भी अधिक गहराई से जुड़ रही है और विश्व-कविता की क्रान्तिकारी जनवादी और समाजवादी सरणियों से भी ऊर्जस्वी हो रही है। यह अनायास नहीं है कि पिछले दिनों हिन्दी में **ब्रेख्त, नेरुदा, लोर्का, नाज़िम हिक़मत, वोले शोयिंका, अन्ना अख्मातोवा, एंसेसबर्गर** आदि-आदि की रचनाओं के अनुवाद बड़े पैमाने पर प्रकाशित हुए हैं। लगातार प्रौढ़ होती जनवादी काव्य धारा के साथ विगत लगभग एक दशक के दौरान नारी-मुक्ति और दलित विद्रोही कविता के सर्वथा नये स्वर आ जुड़े हैं, जिनकी अनदेखी साहित्येतिहास कदापि नहीं कर सकता।

नक्सलबाड़ी के प्रभाव में अपनी नयी पहचान बनाने वाले जिन कवियों की हमने ऊपर चर्चा की है, उनमें से कुमार विकल, कुमारेन्द्र और गोरख पाण्डेय का निधन हो चुका है, पर समकालीन हिन्दी कविता पर वे दोनों ही अपनी अमिट छाप छोड़ चुके हैं।

शास्त्रीय शब्दावली में कुमार विकल की कविताएँ "अभिधा उत्तम काव्य" कही जा सकती है, उनमें कविता की लय जीवन की लय से मिली हुयी है जिसमें कहीं पहाड़ी नदी का वेग तो कहीं मैदानी नदी की मंथरता है, कहीं चंबा के चौगान हैं तो कहीं रावी-व्यास-सतलुज की आदिम गन्ध। कहीं सत्ता की निरंकुशता से सीधी मुठभेड़ है तो कहीं ज़िन्दगी की छोटी-छोटी लड़ाइयाँ, आसक्ति और राग-विराग।

अरुण कमल की कविता का सौन्दर्य कर्म का और श्रम का सौन्दर्य है। बाँकपन उनकी कविताओं का आन्तरिक गुण है। पर दुहराव के मध्यवर्गीय दौर से उबरने की कोशिश में इधर की उनकी कविताओं में कलावादी अमूर्तन और आधुनिकतावादी तकनीकों का इस्तेमाल भी दिखाई दे रहा है।

मंगलेश डबराल मूलतः स्मृति बिम्बों के कवि हैं जो पहाड़ी धुँधलके उदार रंगों से महानगरीय निर्वासन झेलते व्यक्ति की पीड़ा व स्मृतियों को चित्रित करते हैं। 'वापसी' और 'बचाना' मानो उनकी कविता के बीज शब्द हैं, जिनके लिए उद्दाम जिजीविषा के साथ संघर्ष करते हुए वे अपनी कविता का सौन्दर्य-शास्त्र रचते हैं।

हाल के वर्षों में अपने उत्तर आधुनिकतावादी विचलन उदासी की गुफा में एकान्त निवास की अभिव्यक्तियों के बावजूद उदय प्रकाश समकालीन हिन्दी कविता के सर्वप्रमुख हस्ताक्षरों में से एक हैं। राज्यसत्ता के आंतक से लेकर वैचारिक परिवेश और सुख-दुख तक की उनकी कविताओं में नयापन है और सहज सम्प्रेषणीयता है।

असद ज़ैदी भी मंगलेश की तरह स्मृति बिम्बों के कवि हैं। पर उनकी कविताओं के आत्मसंघर्ष में मैदानी धुँधलका है, करुणा है, क्षोभ मिश्रित व्यंग्य है और उदास आत्मलाप है।

हाल ही प्रकाशित संग्रह 'दुनिया रोज़ बनती है' आलोक धन्वा की कविताई का एक नवक्लासिकी विस्तार की सूचना देता है। 'जनता का आदमी' और 'गोली दागो

पोस्टर' से आगे बढ़कर वे साम्राज्यवादी आतंक और साम्प्रदायिक फासीवाद के पुनरोदय से लेकर सूक्ष्म मानवीय सरोकारों के साथ स्त्री की नियति और महानगरीय जीवन के त्रास तक को आज कविता की विषय बना रहे हैं पर कला का अतिरिक्त आग्रह आज उन्हें केदारनाथ सिंह के अधिक निकट ले जाकर खड़ा कर रहा है।

राजेश जोशी आज की प्रतिबद्ध हिन्दी कविता के एक अनन्य हस्ताक्षर हैं। उनकी कविता में चीज़ें और शब्द चमत्कार की तरह प्रवेश करते हैं। वे अपनी बात कहने के लिए एक कथात्मक ताना-बाना बुनते हैं, फिर उसे परीकथा में बदल देते हैं। लेकिन जहाँ कहीं भी यह परीकथा मिथ में न बदलकर अन्योक्ति बन जाती है वहाँ कविता कमज़ोर हो जाती है। कहीं-कहीं वे लोककथा-शैली का भी प्रयोग करते हैं, जो आज आधुनिकता की सर्वमान्य तकनीक हो चुकी है।

समकालीन हिन्दी कविता के अन्य प्रमुख कवियों में विष्णु खरे, ऋतुराज, विजेन्द्र, मलय, ज्ञानेन्द्रपति, सोमदत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके बाद की पीढ़ी में कुमार अम्बुज, विनोद दास, एकान्त श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, मदन मश्यप, अनामिका, प्रगति सक्सेना, देवी प्रसाद, विमल कुमार, बोधिसत्व आदि हमें हिन्दी कविता के भविष्य के प्रति आश्वस्त करते हैं।

अपने तमाम विचलनों के बावजूद हिन्दी की प्रतिबद्ध जनवादी कविता आज मुख्यधारा के रूप में स्थापित हो चुकी है। प्रयोग होंगे तो कुछ विचलन तो होंगे ही। पर मुख्य बात यह है कि आज हिन्दी के नये कवि अपनी परम्परा से नये सिरे से जुड़ते हुए वर्तमान की चुनौतियों से जूझ रहे हैं और भविष्य की क्षितिज की ओर देख रहे हैं।

(1998)

(किसी संगोष्ठी के लिए तैयार किया गया, लेकिन पढ़ा नहीं गया)

स्त्री-रचनाकारों को 'एक्टिविस्ट' होने का जोखिम उठाना होगा!

साहित्य को जनवादी अधिकारों पर विमर्श के एक मुद्दा और एक क्षेत्र के रूप में देखना और स्त्री अधिकारों या स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को इससे जोड़ना - विशेष रूप से एक सराहनीय कदम है और **पी.यू.डी.आर.** इसके लिए बधाई का पात्र है। शायद **साथी सुब्बाराव** को याद करने का इससे बेहतर कोई ढंग हो ही नहीं सकता था जो जितने विचारवान साहित्यिक आलोचक थे, उतने ही कर्मठ जनवादी अधिकारकर्मी भी।

मुझे इजाज़त दें कि गम्भीर अकादमिक-सैद्धान्तिक विवेचना की गहराइयों में पैठकर ज्ञान के मोती ढूँढने का काम राजधानी के दुर्दान्त संगोष्ठीबाज-शिरोमणियों के लिए छोड़कर, स्पष्ट और व्यावहारिक ढंग से आज के हिन्दी स्त्री-लेखन की कुछ उपलब्धियों की चर्चा संक्षेप में करूँ और कतिपय समस्याओं-कमियों की चर्चा कुछ विस्तार के साथ करूँ - महज एक लेखिका की तरह नहीं, बल्कि सांस्कृतिक मोर्चे, जनवादी अधिकार मोर्चे और नारी मोर्चे की एक 'ऐक्टिविस्ट' की तरह भी। यहाँ यह चर्चा शायद ज़्यादा प्रसंगान्तर नहीं होगी कि आज के चालू फ़ैशन के हिसाब से लेखक का 'ऐक्टिविस्ट' होना ठीक नहीं है। प्रगतिशील सुधीजनों का भी प्रत्यक्ष-परोक्ष आग्रह रहा करता है कि लेखक को सिर्फ़ 'लेखन का होलटाइमर' होना चाहिए, लेखक की सामाजिक सक्रियता आज 'आउटडेटेड' चीज़ मानी जाती है और ऐसे लोगों की रचनाओं पर "कला की कमी और राजनीति की अधिकता" का लेबल चस्पाँ करना, और वह भी बिना किसी तर्क के, आज की सबसे आम प्रवृत्ति है। मुझे स्वयं हिन्दी की प्रगतिशील धारा के कई शीर्षस्थ-मूर्द्धन्य कवियों ने मौके-बेमौके यह राय दी है कि मुझे सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों से अपने को कुछ काटकर रचना-कर्म पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

यह चर्चा यहाँ मैं अनायास नहीं कर रही हूँ। मेरा मानना है कि जिस तरह यह

सभी जनपक्षधर रचनाकर्मियों के लिए ज़रूरी है, उसी तरह, और उससे भी अधिक, स्त्री-रचनाकारों के लिए भी, ज़रूरी है कि वे यदि वास्तव में स्त्री-प्रश्न पर स्त्री-पक्ष को सही ढंग से समझना और सटीक ढंग से अभिव्यक्त करना चाहती हैं तो उन्हें रसोई से सिर्फ़ अध्ययन-कक्ष तक और घर से सिर्फ़ दफ़्तर या क्लासरूम तक की यात्रा को पूरा मान लेने के बजाय समस्त राजनीतिक-सामाजिक घटना-प्रवाहों के बीच उपस्थित होना होगा और हमारे इर्द-गिर्द के दारुणतम-वीभत्सतम और आतंककारी सच्चाइयों का निकट-साक्षी बनना होगा और भोक्ता बनने का ख़तरा भी उठाना होगा। एक आम लेखक भी जब ऐसा करता है तो आज कमोबेश जाति-बहिष्कृत होता है। पर यदि ऐसा एक स्त्री करे, तब तो पुरुष-सत्तात्मक समाज की तमाम जड़ीभूत प्रस्तरीकृत धारणाओं-रूढ़ियों-संस्कारों पर जैसे सीधी चोट पड़ने लगती है और सत्ताधारियों के अन्तःपुरों में भी खतरे की घण्टियाँ बजने लगती हैं। बात थोड़ी और साफ़ करें। एक स्त्री है, वह अपनी कहानियों-कविताओं-लेखों में पुरुषसत्तात्मक समाज के मूल्यों-मान्यताओं पर प्रचण्ड चोटें करती है, राजनीतिक रूप से व्यवस्था-विरोधी रचनाएँ लिखती है, उसकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपती हैं, पुस्तकें छपती हैं, वह गोष्ठियों में जाती है - प्रायः वहाँ तक उसकी अपनी दुनिया में सबकुछ लगभग ठीक-ठाक चलता रहता है, स्वजन-परिजन खुश और गौरवान्वित ही महसूस करते हैं, उनका अपना मान बढ़ता है। जैसे ही वह स्त्री अपनी ही विद्रोही पात्रों के जीवन के निकट जाने की कोशिश करती है, अध्ययन-कक्ष और गोष्ठी-कक्षों से बाहर सामाजिक-राजनीतिक सक्रियताओं में जाती है और रोज़मर्रे की ज़िन्दगी में स्त्री की अपनी पहचान व निर्णय लेने के अधिकार को मूल्यों-मान्यताओं-संस्कारों के स्तर पर लागू करने की कोशिश करती है, वैसे ही युद्ध का असली मोर्चा सामने आ जाता है। तूफ़ान उठ खड़ा होता है। हम जिन मुद्दों को अपनी रचनाओं में उठाते होते हैं, उनके वास्तविक खतरों और वास्तविक गम्भीरता का अहसास खुद भी तभी जाकर हो पाता है। अन्यथा हमें भूलना नहीं चाहिए कि यह वह देश है जहाँ विद्रोही महानायकों को भी अवतार बनाकर निरस्त्र कर दिया जाता है और फिर पचा लिया जाता है। प्रतिरोध के अनगढ़, चुभते कोनों वाले, तपते पत्थरों को रगड़-घिसकर चिकने-चमकदार कलात्मक वस्तु बना देना, विरोध की उग्रतम बातों को भी सुनकर और स्वीकार कर और ऐसी बातें करने का मौक़ा देकर अपने को उदार, सहिष्णु और प्रगतिशील साबित करना - यही समझदारी भरा सत्ता-धर्म है, जिसका सहारा राज्य-सत्ता भी लेती है और पुरुष-सत्ता भी।

इसलिए, मेरी यह पक्की धारणा है कि स्त्री-लेखन में भी स्त्री-जीवन की वास्तविक सच्चाइयाँ और चुनौतियाँ तभी आ सकती हैं जब हम अपने सामाजिक सरोकारों के हिसाब से किसी न किसी रूप में 'ऐक्टिविस्ट' हों और साथ ही, घर-गृहस्थी से लेकर सड़क-ऑफ़िस-दफ़्तर तक, अपने अधिकारों के प्रति जागरूक

और अपनी मान्यताओं के प्रति ईमानदार औरत के रूप में लगातार 'एसर्ट' करने का - अपनी उपस्थिति दर्ज कराने का, जोखिम उठाते रहते हों और उसका खामियाजा भुगतते रहते हों। यह हमारे जीवन के हर जाग्रत क्षण में जारी रहने वाला संघर्ष है, जो अविराम है, और जिससे एक स्त्री यदि थकती है तो मुक्ति के अपने स्वप्नों को, 'विजन' को और 'प्रोजेक्ट' को खो देती है।

"एक स्त्री जब महज देह नहीं होती तो पुरुषसत्तात्मक समाज के लिए चुड़ैल और प्रेतनी होती है। जब वह सोचती है तो नतीज़े तक पहुँचने के पहले ही ख़तरनाक़ घोषित कर दी जाती है। जब वह सवाल उठाती है तो उसे पाग़ल क़रार दे दिया जाता है। जब वह अपनी पीड़ा को स्वर या शब्द देती है तो उससे और अधिक रियाज़ करने और कलात्मक होने की नसीहत दी जाती है। जब वह चीज़ों को, उनके मर्म को जान जाती है तो डरावनी हो जाती है और जब वह स्मृतियों से स्वप्नों को और स्वप्नों से परियोजनाओं को बाहर निकालकर उन्हें शब्द और कर्म में ढालती है तो सहसा रुद्रवीणा पर कोई प्रचण्ड राग बजने लगता है और यथास्थिति के पक्ष में खड़ी समस्त शक्तियाँ जड़ता की अपनी पूरी ताक़त के साथ उसके ख़िलाफ़ उठ खड़ी होती हैं और लामबन्द हो जाती हैं। सोचा जाये तो इस महायुद्ध में खोने के लिए स्त्री के पास भी ज़्यादा कुछ नहीं है, कुछ विभ्रम हैं, कुछ आरोपित मिथक हैं और भौतिक आत्मिक बन्धनों की कुछ जंज़ीरें हैं। इसीलिए यह अनायास नहीं कि उसकी मुक्ति की यह लड़ाई ऐतिहासिक तौर पर आज उनकी मुक्ति की लड़ाई से जुड़ चुकी है, जिनके पास भी खोने के लिए जंज़ीरों के सिवा अैर कुछ भी नहीं है। अब यह एक दीगर प्रश्न है कि इस जुड़ाव की भी अपनी चुनौतियाँ और समस्याएँ हैं जो लम्बे व्यवहार में ही हल होंगी - सतत् सांस्कृतिक क्रान्तियों की प्रक्रिया में हल होंगी, क्योंकि जो उजरती गुलाम हैं, वे भी पुरुष-स्वामित्व की मानसिकता से मुक्त नहीं हैं और जो मध्यवर्ग की या किसान वर्गों की स्त्रियाँ हैं, वे भी मिल्की मानसिकता से मुक्त नहीं है।" (डायरी का एक पन्ना, मार्च, 1999)

इन प्रश्नों पर आज सोचा जाना है, इसीलिए इन्हें तरह-तरह से दरकिनार किया जा रहा है और स्त्री-प्रश्न को सामाजिक मुक्ति के प्रश्न से और सामाजिक-आर्थिक संरचना से, स्वतंत्र-स्वायत्त बनाकर पेश करने की कोशिशें आज फिर अनेकशः रूपों में ज़ोर-शोर से की जाने लगी हैं और इस उल्टी गंगा में कतिपय प्रगतिशील भी डुबकी मारने लगे हैं। यह अनायास नहीं है कि स्त्री-जीवन की तमाम त्रासदियाँ उत्तर-नारीवादियों के विमर्श में महज एक पाठ है, सच नहीं महज सच को देखने के नज़रिये हैं, महज भाषण हैं। यह अनायास नहीं कि हिन्दी की एक प्रतिष्ठित पत्रिका में स्त्री के जनवादी अधिकारों पर चलने वाली बहस महज यौन-मुक्ति के विभ्रमात्मक अधिकार पर ही सिमटकर रह जाती है और उसके यशस्वी सम्पादक तमाम तथाकथित वर्जित विषयों

पर चर्चा और तथाकथित वर्जित प्रदेशों में अतिक्रमण को ही परम कर्तव्य मानकर नारी मुक्ति के कर्मकाण्ड में लीन हो जाते हैं। यह भी अनायास नहीं कि अभी-अभी प्रकाशित स्त्री-प्रश्न विषयक पुस्तक में हिन्दी की एक प्रतिष्ठित युवा स्त्री कवि ने मार्क्सवाद की आलोचना के सुपरिचित पारम्परिक शब्दावली में, बिना किसी तर्क या विवेचना के **मार्क्स** की विचारधारा को **"मैस्कूलिनिस्ट फ्रेम ऑफ मीनिंग"** से संचालित घोषित कर दिया है।

मैं कतई यह नहीं मानती कि मार्क्स या लेनिन ने अपने लेखन में अपने समय की और भविष्य की स्त्री-प्रश्न विषयक सभी समस्याओं का बना-बनाया हल प्रस्तुत कर दिया था, पर यह ज़रूर मानती हूँ कि इस प्रश्न की विवेचना द्वन्द्वात्मक विश्लेषण-पद्धति से ही की जा सकती है और नारी मुक्ति की आम दिशा और यथार्थवादी परियोजना का कोई ढाँचा ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से ही खड़ा किया जा सकता है। यह अनायास नहीं कि नारी-मुक्ति विषयक अन्य जितनी भी विचार-सरणियाँ हैं वे या तो सामाजिक आन्दोलनों की धमन-भट्टी से नहीं बल्कि अकादमिक शीतगृहों से निकली हैं, या फिर किन्हीं स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों की सैद्धान्तिकी के रूप में बाद में गढ़ी गई हैं। **लेनिन** की दो आधारभूत बातों से मैं पूर्णतः सहमत हूँ। पहली यह कि **"स्त्रियों की व्यक्तिगत और सामाजिक हैसियत के साथ उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व के अटूट सम्बन्धों का ठोस विश्लेषण किया जाना चाहिए", और दूसरी यह कि "स्त्रियों के बिना कोई वास्तविक जन-आन्दोलन नहीं हो सकता।"**



स्त्री की दोयम दर्जे की सामाजिक स्थिति का प्रश्न जनवादी अधिकार का प्रश्न है, नागरिक अधिकार का प्रश्न है और मानवाधिकार का प्रश्न भी है। जहाँ उसे आमतौर पर एक इंसान का दर्जा नहीं दिया जाता, जहाँ उसे उपभोग और ख़रीद-फ़रोख़्त और नुमाइश के चीज़ के रूप में ही मान्यता, पहचान और प्रसिद्धि पाने की गुंजाइश है, जहाँ पुरुष साथी के चुनाव की स्वतंत्रता के बजाय, तमाम क़ानूनी रूप से प्राप्त अधिकारों के बावजूद आज भी 95 फीसदी मामलों में उपयुक्त पात्र चुनकर उसका "दान" किया जाता है और जहाँ महज एक फ्रिज या एक रंगीन टी.वी. के लिए उसे मिट्टी का तेल डाल फूँक दिया जाता है, वहाँ उसकी लड़ाई एकदम मानवाधिकार की - इंसान के रूप में जीने की बुनियादी लड़ाई है। जहाँ एक नागरिक समाज में आम नागरिक को दिये जाने वाले सीमित-संकुचित अधिकारों में से भी स्त्री को जो कुछ मिलता है वह काफ़ी काट-छाँटकर मिलता है, जहाँ सम्पत्ति और विरासत के अधिकार से लेकर तमाम भौतिक-आत्मिक अधिकारों के मामलों में क़ानून द्वारा और फिर सामाजिक मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं द्वारा उसे दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर रखा

जाता है, वहाँ उसकी लड़ाई नागरिक अधिकारों की लड़ाई है। हर पूँजीवादी जनवादी सत्ता जनवादी क्रान्ति के नारों-वायदों के साथ विश्वासघात करके उन्हें महज वैधिक विभ्रमों में तब्दील कर देती रही है और व्यापक जनता को सीमित जनवादी अधिकार ही प्राप्त होते रहे हैं। पिछड़े पूँजीवाद देशों में ये अधिकार और भी संकुचित रहे हैं।

इन अतिसीमित जनवादी अधिकारों को भी बरक़रार रखने और इनकी चौहद्दी को फैलाने का काम भी केवल व्यापक जनता की जागृति, लामबन्दी और संघर्षों के बूते पर ही हो पाता है। जनवादी अधिकारों के मामले में बुर्जुआ सत्ता जितनी वायदाख़िलाफ़ी आम तौर पर पूरी आम जनता के प्रति करती है, उससे दूना अधिक वह स्त्रियों के प्रति करती है। एक हज़ार एक छिद्रों वाले बरतन से क़ानून संविधान प्रदत्त स्त्री के जनवादी अधिकार रिस जाते हैं। साथ ही, प्राक् पूँजीवादी, मध्ययुगीन, पितृसत्तात्मक सांस्कृतिक-सामाजिक अधिरचना भी स्त्रियों के जनवादी अधिकारों के 'स्पेस' को अतिसंकुचित बना देती है और बुर्जुआ सत्ता इसका भरपूर इस्तेमाल करती है। इसके अनगिनत उदाहरण हैं। वोट देने के अधिकार और पंचायतों में आरक्षण के बावजूद राजनीतिक मामलों में, और यही नहीं सामाजिक और पारिवारिक मामलों में भी स्त्री के स्वतंत्र निर्णय या निर्णय के अधिकार का प्रायः कोई मतलब नहीं रह जाता। संगठन बनाने का अधिकार स्त्री-मज़दूरों के मामले में बहुत कम प्रभावी है। कारख़ानों से लेकर खेतों तक, सभी जगह उनकी श्रम-शक्ति का मोल सबसे कम है, सबसे उबाऊ और श्रमसाध्य काम उसके जिम्मे हैं और सर्वाधिक असुरक्षित स्थिति में उन्हें काम करना होता है। ये सारे सवाल स्त्रियों के जनवादी अधिकारों से जुड़े कुछ प्रतिनिधि उदाहरण हैं। स्त्रियों के अधिकारों के इन प्रश्नों पर जुझारू संघर्षों की पूर्वपीठिका तैयार करने में, और संघर्ष के एक मोर्चे के तौर पर, साहित्यिक-कलात्मक रचना-कर्म की हमेशा से एक अनिवार्य भूमिका रही है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों के दौर में स्त्री-अधिकार संघर्ष को आगे गति देने में **कोंदोर्से**, **जेम्स स्टुअर्ट मिल, ओलिम्प द गाउजेस** और **मेरी वोल्सटोन क्राफ़्ट** के सैद्धान्तिक लेखन से कम भूमिका **जी.सांद** के उपन्यासों की नहीं थी। यह भी कोई अनायास नहीं कि 19वीं सदी के रूसी क्रान्तिकारी जनवादी विचारकों ने नारी-मुक्ति विषयक जिन धारणाओं को प्रस्तुत किया, उन्हें आगे बढ़ाने और लोकप्रिय बनाने में **चेर्नीशेवस्की** के **'क्या करे'**, उपन्यास का महान योगदान था और **तोल्स्तोय** ने **'अन्ना कारेनिना'** के माध्यम से पुरुष-वर्चस्ववाद पर प्रश्न खड़ा करके एक सामाजिक उद्वेलन पैदा कर दिया था।

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर की हिन्दी पत्रिकाओं - 'प्रभा', 'माधुरी', 'सुधा', 'जागरण', 'प्रताप', 'हंस', 'मर्यादा', 'चाँद', 'अभ्युदय', 'कर्मवीर', 'स्वदेश' आदि की फाइलें पलटने पर हम पाते हैं कि इनके पन्नों पर नारी-प्रश्न के हर पहलू पर गहन विमर्श-विश्लेषण से लेकर लोकप्रिय प्रचार-मूलक लेखों की भरमार है जिनमें

से कुछ तो इतनी उग्र, संस्कारभंजक भाषा में हैं कि आज के धार्मिक कट्टरपंथी भी उन्हें पढ़ लें तो तबियत हरी हो जाये। इन पत्रिकाओं में और **'आज'** जैसे अखबारों में पूरी दुनिया के विभिन्न देशों के स्त्री आन्दोलनों, स्त्रियों की स्थिति, स्त्रियों के साहित्य, प्राचीन और मध्यकालीन भारत में स्त्रियों की स्थिति, स्त्री उत्पीड़क सामाजिक कुप्रथाओं, रीतियों, स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता से लेकर राजनीतिक संघर्ष व ट्रेड यूनियनों में उनकी भागीदारी की ज़रूरत और प्रेम करने व तलाक लेने के अधिकार तक पर लेख छपते थे। **रामेश्वरी नेहरू** के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका **'स्त्री-दर्पण'** तो स्त्री-प्रश्न पर ही केन्द्रित थी, जिसमें अपने समय की प्रखरतम और भारत की पहली नारीवादी लेखिका **उमा नेहरू** के लेख छपते थे जो गाँधी के स्त्री-विषयक पुरातनपंथी विचारों की मुखर आलोचना करने में भी रत्ती भर नहीं हिचकिचाती थीं। उसी समय कहानियों में **रुकैया-सखावत हुसैन** और **बंग महिला** जैसी लेखिकाएँ स्त्री-जीवन की स्थितियों को मुखरता से उद्घाटित कर रहीं थीं। आगे चलकर तीसरे-चौथे-पाँचवें दशक में उर्दू में मार्क्सवादी विचारों से पुरुष स्वामित्ववाद पर निर्भीकतम चोट करने वाली लेखिका के रूप में **डा. रशीद जहाँ** का कृतित्व था, जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रभाव में **इस्मत चुगताई, रजिया सज्जाद ज़हीर** आदि उर्दू लेखिकाओं की एक पूरी पीढ़ी विकसित हुई। उस समय की पत्रिकाओं में ढेरों ऐसी स्त्रियों के (और पुरुषों के भी) लेख स्त्री-प्रश्न पर छपे हैं, जो नाम अब विस्मृत हो चुके हैं। बीसवीं सदी के चौथे-पाँचवें दशक में भारतीय स्त्री के जीवन की समस्याओं और मुक्ति के प्रश्न पर सर्वाधिक मुखर, मौलिक और 'रैडिकल' जनवादी तेवर वाला विमर्श-विश्लेषण **महादेवी वर्मा** ने अपने कुछ लेखों के माध्यम से प्रस्तुत किया। महादेवी का यह चिन्तक रूप उनके छायावादी कवि-रूप से एकदम अलग प्रतीत होता है। महादेवी के ये लेख **'श्रृंखला की कड़ियाँ'** संकलन में प्रकाशित हुए हैं।

यहाँ यह ऐतिहासिक चर्चा मैं आज के नारी-लेखन के समक्ष कुछ प्रश्न उठाने के लिए कर रही हूँ। जिस समय देश का सामाजिक-राजनीतिक जीवन गतिमान था और उस गति में स्त्रियों की भी भागीदारी थी, उस दौर में स्त्री-लेखन और स्त्री-प्रश्न पर लेखन का फलक भी व्यापक था, जन-सामान्य तक पहुँच भी व्यापक थी और इस प्रश्न पर उत्कृष्ट, कालजयी सैद्धान्तिक रचनात्मक कृतियाँ भी सामने आईं। यहाँ उमा नेहरू, रशीद जहाँ, महादेवी वर्मा आदि लेखन के साथ ही **शरत** की विद्रोही स्त्रियों की, **रवीन्द्र** की **'स्त्रीरेर पत्र'** जैसी कृति की और **प्रेमचन्द** के **'निर्मला'** उपन्यास की चर्चा भी ज़रूरी है। साथ ही यह भी याद दिलाना ज़रूरी है कि आज कोई भी साहित्यिक पत्रिका हज़ार-डेढ़ हज़ार से ज़्यादा नहीं छपती है जबकि 'प्रताप', 'माधुरी', 'सुधा' आदि का सर्कुलेशन 6 हज़ार से चौदह हज़ार तक के बीच हुआ करता था और इनके पाठक कस्बे-देहातों तक के आम शिक्षित लोग हुआ करते थे। यह वह

दौर था, जब स्त्री की सामाजिक स्थिति के बारे में अपने कतिपय पुरातनपंथी विचारों और स्त्री-पुरुष समानता की आदर्शवादी सोच के बावजूद गाँधी ने भारी स्त्री-समुदाय को राजनीतिक आन्दोलन के प्रबल प्रवाह में खींच लिया था। कम्युनिस्टों ने भी मध्यवर्गीय शिक्षित स्त्रियों की अच्छी खासी संख्या को प्रभाव में लेकर स्त्री-प्रश्न पर एक सांस्कृतिक उन्मेष पैदा कर दिया था और शहरी कामगार औरतों से लेकर ग्रामीण स्त्रियों तक को वर्ग संगठनों में संगठित किया जाने लगा था - जिसका एक उत्कर्ष-बिन्दु तेलंगाना किसान संघर्ष में खेत-मज़दूर स्त्रियों की प्रबल भागीदारी थी। राष्ट्रीय जनवादी उभार से अनुप्राणित बहुतेरे रैडिकल सुधार आन्दोलन, दलित-मुक्ति आन्दोलन भी उन दिनों देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे थे।

इतिहास के उस कालखण्ड का यही निचोड़ है कि स्त्री मुक्ति-आन्दोलन सामाजिक-राजनीतिक उभारों-आन्दोलनों के साथ-साथ व्यापक उभार की श़क्ल लेता रहा है। यह अपने आप में साफ कर देता है कि स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को सामाजिक-राजनीतिक मुक्ति के अन्य पक्षों से और जनवादी तथा नागरिक अधिकार आन्दोलन से काटकर स्वतंत्र-स्वायत्त नहीं बनाया जा सकता। ऐसा करने पर यह सेमिनार-कक्षों तक केन्द्रित निठल्ला विमर्श का मुद्दा बनकर रह जायेगा और स्त्री-लेखन, या स्त्री प्रश्न पर पुरुषों द्वारा किये जाने वाला लेखन भी मुट्ठी भर सुधीजनों तक ही सिमट कर रह जायेगा।

आज स्त्रियों में शिक्षा बढ़ी है और आम चेतना का स्तर भी ऊँचा उठा है लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर की तुलना में स्त्री-लेखन, या स्त्री-प्रश्न पर केन्द्रित लेखन की पहुँच संकुचित हुई है। माना कि इसका एक कारण आज के गतिरोध और ठहराव की वे संकटपूर्ण ऐतिहासिक स्थितियाँ हैं, जहाँ प्रतिक्रिया और जनवाद-विरोध के प्रेत राष्ट्रीय मंच पर (और अन्तरराष्ट्रीय मंच पर भी) चढ़कर श्मशान नृत्य कर रहे हैं और संस्कृति के शिखरों पर गिद्ध बैठे डैने फड़फड़ा रहे हैं। पर इन वस्तुगत कारकों के अतिरिक्त आत्मगत कारकों ('सब्ज़ेक्टिव फैक्टर्स') के धरातल पर भी सोचने के लिए कुछ बातें हैं।

पिछले पचास वर्षों के पूँजीवादी विकास ने बहुसंख्यक आबादी की कीमत पर पढ़ी-लिखी, खाती-पीती मध्यवर्गीय स्त्रियों को जो थोड़ी-सी भौतिक सुविधाएँ और निज़ी तौर पर जो थोड़ा-सा ज़्यादा 'डेमोक्रेटिक स्पेस' मुहैया किया है, उसे खतरे में डालने का बिना कोई जोखिम मोल लिये, बिना व्यापक आम मध्यवर्गीय और कामगार स्त्री की दुःख-यंत्रणा से सक्रिय तादात्म्य स्थापित किये, वह आज के स्त्री-प्रश्न को, जो पहले से अधिक जटिल और बहुआयामी है, व्याख्यायित करने, रचना में प्रस्तुत करने या उसका हल ढूँढने या 'यूटोपियन' हल प्रस्तुत करने की कोशिश कर रही है। इसी सन्दर्भ में, अपने वक्तव्य के प्रारम्भ में ही मैंने 'ऐक्टिविस्ट' स्त्री-लेखक होने की बात की थी।

हिन्दी के और लगभग सभी भारतीय भाषाओं के स्त्री-लेखन ने राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद की आधी सदी में जो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ और अहम मुकाम हासिल किये हैं, मैं उन्हें नकारने या ख़ारिज करने की हिमाक़त कत्तई नहीं कर सकती। रुकैया सखावत हुसैन, बंग महिला, उमा नेहरू आदि से शुरू होकर डा. रशीद जहाँ, मैत्रेयी देवी, आशापूर्णा देवी, महादेवी वर्मा, धीरूबेन पटेल, इस्मत चुगताई आदि की पीढ़ी से होते हुए स्वातंत्र्योत्तर काल में मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, महाश्वेता देवी, उषा प्रियंवदा, सुधा अरोड़ा, ममता कालिया और फिर मंजुल भगत, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, सूर्यबाला, मृणाल पाण्डेय, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, अलका सरावगी तक आते-आते स्त्री-मुक्ति की कामना का फलक व्यापक हुआ है और नये-नये आयाम सामने आये हैं। स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता का प्रश्न, निर्णय की स्वतंत्रता की अकुलाहट और परिवार से लेकर अन्य सामाजिक संरचनाओं तक में अन्तर्व्याप्त 'एलियनेशन' का स्त्री-मानस पर प्रभाव - ये चीज़ें रचनाओं में इस दौरान सर्वाधिक रेखांकित हुए हैं और सामाजिक-नैतिक-वैधिक-सौन्दर्य शास्त्रीय विभ्रमों-मिथकों और जड़ीभूत मान्यताओं-संस्कारों के विरुद्ध साहसिक विद्रोह के स्वर भी फूटे हैं। लेकिन आज का समय इनसे आगे जाने की माँग कर रहा है।

भारतीय समाज जिस ठहराव का शिकार दीख रहा है, उस यथार्थ का दूसरा पहलू जो अब सतह पर आने लगा है वह यह है कि एक कठिन संक्रमण की दीर्घकालिक पीड़ा को तिल-तिलकर झेलने के बाद अब अपेक्षाकृत अधिक तेज़ी से बाज़ार-अर्थव्यवस्था या भूमण्डलीकृत माल-अर्थव्यवस्था का एक हिस्सा बन रहा है। संक्रमण के ऐसे दौर अक्सर महाकाव्यात्मक कृतियों की ज़मीन तैयार करते हैं। यह बात भारतीय स्त्री के सन्दर्भों में भी सही है, जो एक ओर आज भी मध्ययुगीन पितृ सत्तात्मक मूल्यों-संस्थाओं के उत्पीड़न और सामन्ती पार्थक्य (सेग्रिगेशन) की शिकार है, दूसरी ओर नई बाज़ार व्यवस्था की उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव, बुर्जुआ 'एलियनेशन' और आत्म-निर्वासन की पीड़ा और फासिस्ट बर्बरता के नये पुरुष-प्रभुत्ववाद के दबावों से भी उसका जीवन और मानस आक्रान्त है। इन स्थितियों का तकाज़ा है कि पुरुष-सत्ता के तथाकथित रहस्यों के और अधिक साहसिक विगोपन (एक्सपोज़र) के लिए पहल करे, स्त्री-जीवन के संश्लिष्ट प्रत्ययों की निर्मम चीरफाड़ करे और विवाह या परिवार की संरचना और राजनीतिक-सामाजिक तंत्र के शोषक चरित्र से जुड़े हुए और इतिहास प्रसूत पुरुष-वर्चस्व के साँड़ के सींगों को एकदम सामने खड़ा होकर पकड़े। नये क्रान्तिकारी स्त्री-लेखन की नई अन्तर्वस्तु और नया स्थापत्य इसी ज़मीन पर संघटित होंगे, यह तय है। भूलना नहीं होगा कि आज की भारतीय वेरा के स्वप्नों की कथा अभी कही जानी है। आज की भारतीय अन्ना की यंत्रणा बड़ी अकथ है। उसे अभिव्यक्त करने के खतरे उठाने के लिए और खामियाजा भुगतने के लिए शायद स्त्री-रचनाकारों को ही पहल करनी होगी। ज़िम्मेदारी उन्हीं की ज़्यादा है, वैसे यह चुनौती तो सभी

प्रगतिशील, जनपक्षधर, क्रान्तिकारी पुरुष लेखकों के सामने भी है जो मानते हैं कि स्त्री-प्रश्न स्त्रियों का आरक्षित क्षेत्र नहीं है।

और समस्या केवल समकालीन स्त्री-प्रश्न की बहुआयामी संश्लिष्टता को रचना की ज़मीन पर लाने की ही नहीं है। प्रश्न सभी वर्गों-तबकों की स्त्रियों के जीवन और समस्याओं को प्रामाणिक रूप से सामने लाने का भी है। यानी सवाल फलक की व्यापकता का भी है। ज़्यादातर स्त्री-विषयक लेखन का दायरा पढ़ी-लिखी प्रबुद्ध स्त्रियों के इर्द-गिर्द या आम मध्यमवर्गीय स्त्रियों के इर्द-गिर्द घूमता है। उनके आस-पास की आम कामकाजू औरतें भी कभी-कभार अपनी सरोकारों-समस्याओं के साथ उपस्थिति दर्ज कराती रहती हैं। लेकिन यह एक कड़वा सच है कि एक्सपोर्ट क्वालिटी गारमेंट्स, रसायनों और इलेक्ट्रॉनिक्स सामानों आदि के कारखानों में तीस-तीस रुपये की दिहाड़ी पर, अत्यंत कठिन स्थितियों में बारह-बारह घण्टे काम करने वाली ये स्त्री मज़दूर जो लगातार बढ़ती जा रही हैं और जो सिर्फ दिल्ली और उनके आस-पास ही दस लाख से ऊपर हैं, उनके जीवन और सोच की इन्दराज़ी साहित्य के दस्तावेज में अभी कम ही हुई है। बाँधों और बड़े-बड़े प्रोजेक्टों में काम करने वाली और अपने परिवार के साथ यहाँ-वहाँ उजड़ती-बसती रहने वाली स्त्री-सर्वहाराओं की उपस्थिति भी रचना-जगत में अभी नगण्य है। गाँवों में खेती से ग़रीब आबादी के उजड़ने की प्रक्रिया तेज होने के बाद खेती-बाड़ी के काम में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी हैं, उनके रूप बदले हैं और उनसे जुड़ी नई सामाजिक समस्याएँ भी पैदा हुई हैं। 'गोदान' की धनिया, झुनिया और सिलिया की तीसरी-चौथी पीढ़ियों की कथा अभी भी कही जानी है, जबकि देश की कुल स्त्री-कामगारों की अस्सी फीसदी से भी अधिक और कुल स्त्री आबादी की आधी से भी अधिक अभी भी खेती-बाड़ी में ही काम करती हैं। गाँवों की जो स्त्रियाँ इधर की कुछ चर्चित स्त्री रचनाकारों के चर्चित उपन्यासों में आई हैं वे अतीत की, प्रायः बचपन की, स्मृतियों और ताजा गाँव-यात्राओं के आधार पर, सशक्त कल्पना के सहारे अभिजन समाज के महानगरीय अध्ययन कक्षों में रची गई हैं, और कतई प्रामाणिक नहीं हैं।

इसके लिए, एक बार फिर मैं ज़ोर देकर कहना चाहूँगी कि स्त्री-लेखन के 'ऐक्टिविस्ट' होने की दरकार है, तभी वह बदलते उत्पादन-सम्बन्धों सामाजिक सम्बन्धों और आत्मिक जगत का साक्षात्कार कर सकेगी, वर्तमान की कोख में छिपे भविष्य की भी पहचान कर सकेगी और ऊपरी सच्चाई की परतों को भेदकर सारभूत यथार्थ तक पहुँच सकेगी।

समय हमसे बीहड़ जीवन की माँग कर रहा है, जोखिम भरी बाहरी यात्राओं की और कष्ट साध्य अन्तर्यात्राओं की - विचार-यात्राओं की माँग कर रहा है। समकालीन स्त्री जीवन की नई परिवर्तनशील सच्चाइयों से परिचित होने के साथ ही हमें इतिहास से, परम्पराओं से परिचित होना होगा। इतिहास-ग्रस्तता से बचकर, सही ढंग से सबक

निकालने के लिए भी यह ज़रूरी है। प्रायः इतिहासग्रस्त वे ही होते हैं जो इतिहास नहीं जानते या जिनका इतिहास बोध भ्रष्ट होता है। हमें राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर के स्त्री-मुक्ति लेखन की विभिन्न धाराओं से भी नये सिरे से परिचित होने की ज़रूरत है। साथ ही, नारी-मुक्ति के नये-नये शोधक जन इतिहास का मनमाना समाहार करते हुए नारी-मुक्ति के क्षेत्र में भी सामाजिक विकास के नियमों की किसी भी किस्म की सार्वभौमिकता और सचेतन हस्तक्षेप की भूमिका को खारिज करते हुए जो नये-नये सिद्धान्तहीन सिद्धान्त पेश कर रहे हैं, उन्हें समझने के लिए प्रबोधन काल और पूँजीवादी क्रान्तियों से लेकर अभी-अभी बीती हुई सदी तक के मार्क्सवादी और नारीवादी चिन्तन-सरणियों का अध्ययन भी ज़रूरी है।

नई सदी के पहले वर्ष में, हम जिस निर्विकल्प स्थिति के रूबरू खड़े हैं, उसमें ज़रूरत इस बात की है कि इन कार्यभारों को अंजाम देने के बारे में हम आशावादी ढंग से सोचें और इसके लिए भी आज पर्याप्त कारण है कि आशावादी ढंग से सोचा जाये।

(23 जनवरी 2000 को 'साहित्य और जनवादी अधिकार' विषय
पर पी.यू.डी.आर. द्वारा आयोजित कन्वेंशन में प्रस्तुत।
पहल-67, जनवरी, 2001 में प्रकाशित)

समकालीन मीडिया में स्त्री

शब्दों, बिम्बों, छवियों और नये मिथकों से खेला जाने वाला ताकत का नया नारी-विरोधी खेल

औद्योगिक क्रान्ति के उत्कर्ष के काल में स्त्री को पूँजीवाद ने सामाजिक जीवन के सामान्य परिदृश्य से जैसे ओझल कर दिया था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ का एक लोकगीत इसे यूँ प्रस्तुत करता है :

> कहाँ गई लड़कियाँ? क्या बताऊँ भाई?
> भाप मशीन चलाकर कर रही बुनाई
> देखना हो उनको अगर अलस्सुबह उठना होगा
> पौ फटने तक फैक्टरी तक पैदल चलना होगा

बीसवीं सदी के अन्त में वृद्ध पूँजीवाद ने अपने तिलस्म से स्त्री को चारों ओर उपस्थित कर दिया है। यही तिलस्म है जो आज मीडिया रच रहा है। और विकसित विश्व के 'नन्दन कानन' से लेकर पिछड़े देशों के उत्तर-औपनिवेशिक समाज के अँधेरे तक में - भूमण्डलीय स्तर पर रच रहा है। स्त्री चारों ओर उपस्थित है - आदमकद पोस्टरों से लेकर फैशन शोज़ और सौन्दर्य प्रतियोगिताओं से लेकर दूरदर्शन के पर्दे तक पर - कहीं चीज़ों का विज्ञापन करती हुई या कि खुद ही एक ब्राण्ड में तब्दील होती हुई, कहीं समाचार-समीक्षा या किसी विशिष्ट कार्यक्रम को प्रस्तुत करती हुई या कि खुद को ही एक खास साँचे या फ्रेम में ढालकर प्रस्तुत करती हुई, कहीं एम.टी.वी. या स्टार के कार्यक्रमों में रुग्ण मर्द-फन्तासियों को उड़ान की नई ऊँचाइयाँ देती हुई, कहीं मर्द के अत्याचार का बदला लेने वाली मर्दनुमा औरत चरित्र में ढलकर पुरुष दर्प को ही और पुख़्ता बनाती हुई, कहीं अखबारों के साप्ताहिक और दैनिक परिशिष्टों को अपनी तरह-तरह की मुद्राओं से, किस्म-किस्म की व्यस्तताओं से व तथाकथित 'स्त्री-सुलभ' चिन्ताओं-समस्याओं-सरोकारों से आच्छादित करती हुई। और यही नहीं, वाम नामधारी कवियों की दुनिया में भी वह छा-सी गई है। सारी सहानुभूति और

करुणा उस पर न्यौछावर की जा रही है। निजी जीवन और चिन्तन में स्त्री को लेकर रुग्ण अति फ्रायडियन और उत्तर-फ्रायडियन सोच से आक्रान्त कवि-लेखकगण भी स्त्री को लेकर रो-रोकर बेहाल हुए जा रहे हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं ने नारी लेखन विशेषांकों-महाविशेषांकों और औरत की तथाकथित उत्तर-कथाओं की ठेलमठेल मचा रखी है।

ग़ौर से देखने पर पता चलता है, यह जो चारो ओर छा गयी है, यह वास्तविक स्त्री नहीं है, यह उसकी छवि है, तिलस्मी दर्पणों से झाँकती उसकी हज़ार-हज़ार अलग-अलग छायाएँ हैं। ये अलग-अलग ब्रांड हैं या फिर यदि कहीं यह स्त्री सदेह उपस्थित है तो यह महज स्त्री-देह है, स्त्री-छवि के समान ही एक उपभोक्ता-सामग्री के रूप में एक कमोडिटी के रूप में। स्त्री के रिक्त स्थान को उसकी छवियों-प्रतिच्छवियों, छायाओं-प्रतिच्छायाओं से भर दिया गया है। एक मिथ्याभास, बाजार तंत्र द्वारा रचित एक मिथ्या चेतना, एक विभ्रमात्मक बोध! वास्तविक सीता तो अग्नि में समा गई थीं। उनका स्थान उनकी छाया ने ले लिया था और बाद के सारे क्रिया-व्यापार में उसी की भागीदारी रही। भूमण्डलीकरण के दौर में बाजारतंत्र का जो भी प्रतीतिगत यथार्थ है, उसे रचने में मीडिया ने पूँजी के दास चमत्कारी जिन्न के रूप में भूमिका निभाई है और वास्तविक स्त्री को स्त्री-छवि से, छाया से, एक ब्राण्ड से प्रतिस्थापित कर दिया है। यथार्थ को एक विभ्रम ने विस्थापित कर दिया है।

देखा जाये तो यह परिघटना विश्व पूँजीवाद के वर्तमान दौर की प्रकृति के अनुरूप है। आज पूँजी के लगातार बढ़ते अम्बार का जो भूमण्डलीय संकट है, पूँजी का जो अभूतपूर्व विश्वव्यापी प्रसार है, जिसे हम भूमण्डलीकरण की संज्ञा दे रहे हैं, उसका कारण वास्तविक भौतिक सम्पदा का उत्पादन नहीं है, मैन्यूफैक्चरिंग या कच्चे माल के दोहन जैसी वास्तविक उत्पादक कार्रवाइयाँ नहीं हैं, बल्कि विश्व के प्रमुख मुद्रा-बाजारों में ऋण-सर्जन में सतत्-वृद्धि, मुद्रा-पूँजी के अन्तरराष्ट्रीय आवागमन और सट्टेबाजी के रूप में है। निवेश मुख्यतः मैन्यूफैक्चरिंग, उत्खनन-शोधन उद्योग या कृषि में नहीं बल्कि शेयर बाज़ार, बीमा आदि अन्य वित्तीय क्षेत्रों, विज्ञापन, मीडिया आदि में हो रहा है। पूँजी का वर्तमान वायुपूरित फैलाव सामाजिक सम्पदा में वास्तविक अभिवृद्धि का सूचक नहीं, बल्कि सम्पदा-वृद्धि का एक विभ्रम है। यही समकालीन पूँजीवाद की उस विभ्रममूलक संस्कृति की बुनियाद है, जो छायाओं और छवियों का व्यापार करता है। यह 'सुपर हीरो' और 'सुपर मॉडल' की छवियाँ गढ़ता है, यह 'मुक्त स्त्री' की एक नयी छवि गढ़ता है और पुरुष स्वामित्ववादी मानसिकता की पुरानी ज़मीन की निश्शेष होती उर्वरता को बढ़ाने के लिए नये-नये किस्म के सांस्कृतिक-वैचारिक उर्वरकों का इस्तेमाल करता है।

अब यह एक अलग से गंभीर चर्चा का विषय है कि इलेक्ट्रॉनिकी, साइबरनेटिक्स और कम्प्यूटरतंत्र के नये तकनोलॉजिकल विकासों ने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और प्रिण्ट

मीडिया को रहस्यमय शक्तियों और पहुँच से किस प्रकार सम्पन्न किया है और इसे उत्पादक शक्तियों के विकास के नये रूप में कैसे देखा जाये? जिसे पॉल स्वीजी "वित्तीय पूँजी की अन्तिम विजय" का दौर कहते हैं, माइकल चास्सुदोवस्की जिसे 'बाजार उपनिवेशवाद' का दौर कहते हैं, हैरी मैक्डॉफ और अन्य अधिकांश अर्थशास्त्री-समाजशास्त्री-मीडिया विशेषज्ञ जिसे भूमण्डलीकरण का दौर कहते हैं या कुछ लोग जिसे आर्थिक नव उपनिवेशवाद का दौर कहते हैं, उस दौर ने शासक वर्ग के उत्पीड़क सांस्कृतिक तंत्र को एक नया सांस्कृतिक-वैचारिक आधार दिया है और मीडिया को नई शक्ति-सम्पन्नता देकर इसका प्रमुख उपकरण बना दिया है।

जाहिरा तौर पर, समाज के शोषित-दलित-उत्पीड़ित वर्ग, तबके और हिस्से ही इसकी नई प्रहारक शक्ति के मुख्य शिकार होंगे। जिनके सस्ते श्रम को निचोड़ा जाना है, जिन पर हुकूमत की जानी है, उन्हीं को दिमाग़ी गुलामी का शिकार बनाया जायेगा, उन्हीं में गहरा पराजय बोध और पराधीनता-बोध भरा जायेगा, भाँति-भाँति के उत्तर आधुनिकतावादी तिकड़मों से 'मुक्ति' शब्द का वास्तविक बोध और वास्तविक धारणा उन्हीं से छीनी जायेगी, उन्हीं में मुक्ति की एक मिथ्या चेतना भरी जायेगी, उन्हीं के लिए एक नया इन्द्रजाल रचा जायेगा। स्त्री के शोषण-उत्पीड़न के नये रूपों के निर्माण में सहायक नई संस्कृति और मूल्य तंत्र रचने में आज मुख्य धारा के मीडिया की इजारेदार घरानों से लेकर नये वित्तीय महाप्रभुओं, व्यापारियों, चिटफण्ड कम्पनियों आदि के अखबारों-पत्रिकाओं, टी.वी. चैनलों की जो अभूतपूर्व प्रभावकारी भूमिका बन रही है, उसे इसी परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया जा सकता है।

यूँ कहें कि विश्व बाज़ार और देशी बाज़ार की वर्तमान मुक्तावस्था साम्राज्यवाद की वह सिद्धावस्था है, जब पूँजी सामाजिक रूप से कमज़ोर वर्गों समुदायों और स्त्री समुदाय के सस्ते श्रम को निचोड़ने के साथ ही स्त्री की मुक्त देह का आखेट कर रहा है, उसकी मुक्ति का नया मिथक रच रहा है, ताकि उसकी वास्तविकता मुक्ति के प्रश्न को एजेण्डे पर आने ही न दिया जाये।

यह जो स्त्री रंगीन पत्रिकाओं, अखबारों के परिशिष्टों और विराट होर्डिंगों से लेकर बड़े और छोटे पर्दे तक पर छा-सी गई है, यह अव्वलन तो एक छाया है, एक छवि है, एक ब्राण्ड है, एक छलना है। दूसरे, छाया भी यह भारत की या पूरी दुनिया की आम स्त्री की, औसत स्त्री की, प्रतिनिधि स्त्री की नहीं, बल्कि विशिष्ट स्त्री की है, अभिजन समाज की स्त्री की है या फिर आम मध्यवर्गीय स्त्री की अधूरी कामनाओं और हीन ग्रन्थि की उपज है। यदि कहीं आम स्त्री की प्रस्तुति है तो वह विशेष दर्पण में प्रतिबिम्बित उसकी एक विकृत-विरूपित प्रतिच्छाया है।

वास्तविक स्त्री जिसे स्वतंत्र प्रतियोगिता के दौर में पूँजीवाद ने सामाजिक जीवन के पटल से गायब करके "निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलाम" में तब्दील कर दिया था, वह वास्तविक स्त्री, वह बहुसंख्यक आम स्त्री आबादी की प्रतिनिधि स्त्री तो आज

भी गायब है, उसके समस्त सामाजिक-सांस्कृतिक-आत्मिक क्रिया-व्यापारों को आज उसकी एक विकृत, कामुक, कामोत्तेजक, रुग्ण मानसिकता वाली छाया सम्पन्न कर रही है। सीता की पुराण कथा का यह नया संस्करण है, जो बीसवीं सदी के अन्त में रचा जा रहा है। वास्तविक स्त्री आज भी उजरती गुलामी, सामाजिक उत्पीड़न और घरेलू बन्दीगृह के उसी अग्निकुड में जल रही है, कोयला और राख हो रही है। उन्नीसवीं सदी के शुरू के ब्रिटेन में वह नीम अँधेरे वर्कशापों में भाप मशीनों पर बुनाई कर रही थी। आज भी वह ऐसी ही अँधेरी कोठरियों में तथाकथित 'एक्सपोर्ट क्वालिटी गारमेण्ट्स' फैक्टरियों के लिए ठेके पर या दिहाड़ी मज़दूरी पर कपड़े काट या सिल रही हैं, बड़ी-बड़ी एजेंसियों और सप्लायरों के लिए चिकन और जरदोज़ी का काम कर रही है, कालीन बुन रही है, सिलिकॉन चिप्स पर सोने के तार लगाने का कष्ट साध्य महीन काम कर रही है, रईसों के बर्तन-बासन कर रही हैं, खेतों में खटकर पूरी दुनिया के कुल खाद्यान का आधे से भी अधिक पैदा करती हुई अपना श्रम कौड़ियों के मोल बेंच रही हैं। आज भी वह धुएँ से कड़ुवाती आँखों से आँसू बहाती रोटियाँ सेंक रही है और देर रात गये ऊँघती हुई पति की प्रतीक्षा कर रही है, पिट रही हैं, घुट-घुटकर मर रही है और जलाकर मारी जा रही है। सड़कों पर छेड़छाड़ बलात्कार तक का शिकार हो रही है, दफ़्तरों में अपने पुरुष सहयोगियों के प्रत्यक्ष-परोक्ष यौन-उत्पीड़न झेल रही है, डेढ़-दो सौ रुपयों में बच्चों के स्कूलों में आठ-आठ घण्टे खट रही है। वह दण्डकारण्य के जंगलों में तेंदूपत्ते भी इकट्ठे कर रही है और 'एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन' में भी काम कर रही है। वह तथाकथित कला की मण्डियों में भी एक उपभोक्ता सामग्री है और जी.बी.रोड और सोनागाछी में भी बिक रही है। वह चूल्हे-चौकठ की गुलामी से भी बँधी है और सुदूर-पूर्वी एशिया से लातिन अमेरिका और प्रशान्त क्षेत्र के देशों तक फैले 'ग्लोबल असेम्बली लाइन' पर भी खट रही है।

इलेक्ट्रानिक मीडिया ने तथा कम्प्यूटर नेटवर्किंग के विराट तंत्र पर आधारित प्रिण्ट मीडिया के नये अवतार ने - पूरे के पूरे नये मीडिया संजाल ने इस वास्तविक स्त्री को, इसके जीवन और इसके संघर्षों को समाज की नज़रों से, खुद स्त्री समुदाय की नज़रों तक से ओझल कर दिया है। यहाँ तक कि इसने आम मध्यवर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्री और गृहिणी से लेकर आम कामकाजी औरतों तक से उसकी अपनी स्वाभाविक उम्मीदों, स्वप्नों, कल्पनाओं, फन्तासियों और बिम्बों को छीन लिया है और उसे नशे की खुराक की तरह नई कल्पनाओं और फन्तासियों और स्वप्नों की उड़ान दे दी है। मीडिया आज नये धर्मशास्त्र की भूमिका में है। जीवन के वास्तविक दुखों से फौरी तौर पर राहत और आराम देने वाली अफीम की पुरानी खुराक के साथ-साथ नये प्रकार का सांस्कृतिक नशा भी आज दूरदर्शन के चैनलों से लेकर प्रिण्ट मीडिया द्वारा मुहैया कराया जा रहा है, मुक्ति का, मुक्त स्त्री का एक नया मिथक रचा जा रहा है, एक नया धर्मशास्त्र रचा जा रहा है। रुपर्ट मर्डक से लेकर ए.बी.सी.एल. वाले

अमिताभ बच्चन तक - ये आज के नये पोप, आर्कबिशप, इमाम और शंकराचार्य हैं। साथ ही पुराने धर्माचार्य भी अप्रासंगिक नहीं हुए हैं। तथा उनके नये सिंथेटिक संस्करण भी निर्मित हो गये हैं। डी.सी.एम. टोयोटा की गाड़ी पर प्लाई और कार्डबोर्ड से रथ बनाकर मीडिया द्वारा बहुप्रचारित, धर्मध्वजा फहराती रथयात्राएँ निकाली जा रही हैं। साध्वियाँ क्रुद्ध हैं और दुर्गावाहिनियाँ मार्च कर रही हैं। यह भी नई, मुक्त, जागृत स्त्री की एक नई मिथकीय छवि है, जिसे मुख्य धारा का मीडिया प्रचारित कर रहा है और उदारीकरण निजीकरण के नये दौर में स्त्री समुदाय की आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक गुलामी के नाना रूपों को सामने से हटाकर मुक्ति और जागृति की एक नई मिथ्या चेतना का निर्माण कर रहा है। सोचिए जरा, कल्पना वसु, दुर्गा भाभी, लक्ष्मी सहगल और मातंगिनी हाजरा के स्थान पर साध्वी ऋतम्भरा और उमा भारती। सावित्री बाई फुले की जगह फूलन देवी। प्रथम भारतीय नारीवादी उमा नेहरू की जगह अमेरिका प्रवासिनी उत्तर आधुनिकतावादी नारीवादी गायत्री देवी चक्रवर्ती स्पिवाक। आशापूर्णा देवी की जगह शोभा डे। इन नये मानकों-प्रतिमानों को रचने में मीडिया की अहम भूमिका है। दलित-उत्पीड़न व स्त्री-उत्पीड़न के ऐतिहासिक-सामाजिक प्रश्न का प्रतिनिधित्व करने वाली वास्तविक फूलन की जगह उसकी एक मिथ्याभासी छाया है - संसद सदस्य, एक चुनावी पार्टी की सदस्य, और 'बैण्डिट क्वीन विवाद' की चर्चित फूलन जो आज मीडिया के लिए एक मसाला भर है, दिलचस्पी का एक सबब मात्र है। मूल प्रश्न अनुपस्थित है, निमित्त ही नायक हो गया है।

स्त्री के ख़िलाफ़ ताकत का जो खेल सदियों से खेला जाता रहा है, जो गार्गी के ख़िलाफ़ याज्ञवल्क्य ने खेला था, जो द्रौपदी के ख़िलाफ़ चौपड़ की बिसात पर खेला गया था, वही आज भी जारी है। मीडिया की नयी तकनीकी शक्तिमत्ता और पहुँच के नाते आज समाज में और सांस्कृतिक पटल पर यह खेल ज़रा बारीक रूप में खेला जा रहा है। स्त्री उत्पीड़न के पुराने मौजूद रूपों और नये पैदा हुए रूपों को आँखों से ओझल करते हुए उसकी पीड़ा का नये सांस्कृतिक दर्द निवारकों द्वारा शमन करते हुए। ताकत का यह खेल आज शीर्ष पर बैठे हुए लोग मीडिया के जरिए खेल रहे हैं।

मीडिया का सामाजिक यथार्थ के साथ दोहरा रिश्ता होता है। वह इसे प्रतिबिम्बित करता है और दूसरी ओर प्रभावित भी। पर जो मुख्य धारा का मीडिया या पापुलर मीडिया है, वह इसे हमेशा शासक वर्ग के दृष्टिकोण से करता रहा है। वह विकृत प्रतिबिम्बन करता है और सामाजिक यथार्थ के विकासमान पहलू को विकसित करने के रूप में नहीं, बल्कि यथास्थिति को बरकरार रखने के पक्ष में जनमानस को प्रभावित करता रहा है। आज यह और अधिक प्रभावी रूप में हो रहा है। कुछ उदाहरण लें।

जिसे 'एजुकेशनल मीडिया' कहा जाता है, उसके दायरे में भारत के किसान-मज़दूर और निम्न मध्य वर्गीय परिवारों की बहुसंख्यक स्त्री आबादी की शिक्षा की वास्तविक समस्याएँ और चुनौतियाँ या तो अनुपस्थित हैं, या फिर उन्हें एक अभिजातवर्गीय और पुरुष स्वामित्ववादी नजरिए से प्रस्तुत किया जाता है। जिसे 'डेवलपमेण्ट कम्युनिकेशन मीडिया' कहा जाता है, जो विकास के मुद्दों पर केन्द्रित होता है, उसमें महिला विकास के बुनियादी अवरोधों की चर्चा तक नहीं होती। एक माँ, एक गृहिणी के रूप में स्त्री वहाँ उपस्थित है, पर सामाजिक सम्पदा के उत्पादक के रूप में प्रायः नहीं। आँकड़े बताते हैं कि पूरी दुनिया का आधा खाद्यान और भारत का आधा से अधिक खाद्यान औरतें पैदा करती हैं। पर हमेशा सिर्फ "किसान भाइयों को ही राम-राम" करके शुरू होने वाले आकाशवाणी-दूरदर्शन के कार्यक्रमों में खेती के कामकाज में लगी औरतों की ज़िन्दगी और समस्याएँ अनुपस्थित होती हैं। उनका स्थान केवल कुछ परम्परागत उत्सवों-अनुष्ठानों-नाच गान की प्रस्तुति आदि के लिए ही सुरक्षित होता है। यह ठीक वैसा ही है, जैसे खेती-बाड़ी और गाँव से सम्बन्धित इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के सभी कार्यक्रम और प्रिण्ट मीडिया के प्रायः सभी गम्भीर लेख-रिपोर्ट आदि आधुनिक खेती करने वाले मालिक किसानों की और प्रायः बाजार के लिए उत्पादन करने वाले बड़े किसानों की समस्याओं पर केन्द्रित होते हैं, खेतिहर मज़दूरों, ग्रामीण असंगठित मेहनतकशों और छोटे किसानों की समस्याओं से उनका प्रायः कुछ भी लेना-देना नहीं होता। इधर स्त्रियों और दलित-शोषित सामाजिक समुदायों की समस्याओं पर भी मीडिया ने कुछ सामग्री दी है, पर इससे प्रायः वही दृष्टिकोण होता है जो साम्राज्यवादी देशों की 'फण्डिंग एजेंसियों' से पोषित स्वयंसेवी संस्थाओं, अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों, सरकारी समाज-कल्याण कार्यक्रमों और उलझे दिमाग वाले सुधारवादियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसका विश्लेषण एक पृथक, स्वतंत्र चर्चा का विषय है।

परिवार नियोजन से सम्बन्धित जितने भी कार्यक्रम या लेख-रिपोर्ट-प्रचार दूरदर्शन से लेकर अखबारों तक में आते हैं वे स्त्री को गिनी पिग या 'यौन-वस्तु' के रूप में प्रस्तुत करते हैं और 'सेक्स-स्टीरियोटाइप्स' को यानी कि (यौन-रूढियों) को स्थायित्व और नया आधार प्रदान करते हैं।

सूचना और समाचार से जुड़ा हुआ मीडिया (न्यूज ऐण्ड इन्फार्मेशन मीडिया) की प्रस्तुतियों की पड़ताल भी की जाये तो नारी विरोधी यौन-रुढ़ियों, स्त्री के वस्तुकरण, पण्यकरण और पुरुष स्वामित्ववादी मूल्यों-मान्यताओं का ही वहाँ बाहुल्य मिलेगा, चाहे वह दूरदर्शन के या बी.बी.सी. स्टार आदि विदेशी चैनलों के कार्यक्रम हो, या फिर स्त्रियों को सड़कों पर निर्वस्त्र किये जाने से लेकर बलात्कार की घटनाओं की रिर्पोटिंग और "प्रेमी के साथ फरार" मार्का शीर्षकों वाली तथाकथित खबरें हों। स्त्री-विरोधी पूर्वाग्रहों, रूढ़ियों को प्रकारान्तर से मज़बूत बनाने में ही इन तथाकथित दिलचस्प खबरों की भूमिका होती है, न कि उसके साथ कोई सहानुभूति पैदा करने में।

मीडिया के जिस हिस्से को 'एंटरटेनमेण्ट मीडिया' कहा जाता है, उसके बारे में न तो यहाँ ज़्यादा कहा जाना सम्भव है और न ही कहने की कोई आवश्यकता है। नारी पत्रिकाओं, पत्रिकाओं के नारी स्तम्भों और दैनिक पत्रों के परिशिष्टों से लेकर दूरदर्शन के सीरियल और बड़े पर्दे तक कहीं एक सुखी-सन्तुष्ट स्त्री, उसका बिन्दासपन और उसकी क्रीड़ाएँ और उसके शौक व शगल हैं, कहीं उसकी नकली लड़ाइयाँ और व्यक्तिवादी विद्रोह है, कहीं उसका अभिजात नारीवाद है, तो कहीं उसकी मुक्त देह का आखेट है। अपने सम्पूर्ण अर्थों में उसकी देह-छाया, उसकी यौन-छवि एक माल में, कमोडिटी में रूपांतरित कर दी गई है। और पूँजीवादी उत्पादन एवं विनिमय तंत्र की पूरी रीति-नीति के ही अनुरूप, यहाँ भी यह क्रिया एक रहस्यावरण में लिपटी हुई है, यहाँ भी बाज़ार का रहस्यवाद है, यहाँ भी माल की जड़-पूजा यानी "कामेडिटी-फेटिशिज़्म" है।

विडम्बना यह है कि इस माल के उपभोक्ता केवल पुरुष ही नहीं, बल्कि उसी हद तक और कुछ मायनों में तो उनसे बढ़कर स्त्री समुदाय है - आम गृहिणियाँ और लड़कियाँ हैं। यह स्त्री-मानस का एक तरह का सांस्कृतिक औपनिवेशीकरण है। पुरुष-स्वामित्ववाद के उपनिवेश के रूप में एक नये स्त्री-मानस के निर्माण में मीडिया आज अपने नये रूप में बुनियादी और सर्वोपरि भूमिका निभा रहा है।

इन प्रश्नों के रूबरू खड़े होकर ही, इनसे जूझकर ही आज स्त्री-मुक्ति के प्रश्न के सांस्कृतिक-वैचारिक पहलू को बहस के एजेण्डे पर सही ढंग से लाया जा सकता है। विचारधारा और 'पब्लिक ओपीनियन' के निर्माण और पुनःसंस्कार में नयी तकनोलॉजिकल प्रगति से लैस आज के इलेक्ट्रॉनिक्स और प्रिण्ट मीडिया की पहले हमेशा से अधिक प्रभावशाली भूमिका की पहचान करनी होगी और फिर सांस्कृतिक वैचारिक संघर्ष के नये उपकरण गढ़ने होंगे और पुराने उपकरणों का पुनः संस्कार करना होगा।

वैसे तो यह एक अलग चर्चा का विषय होगा; पर मेरे विचार से मीडिया-जगत में स्त्री-मुक्ति-विमर्श के मुद्दों को मुख्यतः दो धुरियों पर अवस्थित करना होगा। एक तो वैकल्पिक जन मीडिया के समान्तर तंत्र के निर्माण पर सोचते हुए स्त्री-प्रश्न के आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-वैचारिक पहलुओं की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। दूसरे, मुख्य धारा की जिस मीडिया का स्वामित्व कारपोरेट जगत के महाप्रभुओं और उदारीकरण के दौर में पैदा हुए नवधनिक वित्तीय साहूकारों के हाथों में; राष्ट्रीय से लेकर क्षेत्रीय स्तर तक पर संकेन्द्रित है, उस बुर्जुआ मीडिया के भीतर काम करने वाले जनोन्मुखी पत्रकारों को और स्त्री-पत्रकारों को अपनी भूमिका की पहचान अखबारी उत्पादन तंत्र के **बौद्धिक उजरती मज़दूर** (मेण्टल वेज लेबर) के रूप में करनी होगी और उसी रूप में अपने आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ अपने जनतांत्रिक अधिकारों के लिए भी लड़ना होगा। वेतन और बोनस आदि के लिए लड़ने के साथ-साथ सम्पादकीय

और रिपोर्टिंग कक्षों पर मैनेजमेण्ट के बढ़ते दबावों के ख़िलाफ़ भी लड़ना होगा और इसमें स्त्री पत्रकारों को भी अपनी भूमिका तय करनी होगी। हमें यह भ्रम नहीं है कि इससे हम बुर्जुआ मीडिया के जनविरोधी, नारी-विरोधी स्वरूप को बदल सकते हैं, पर अपने लिए कुछ अधिक 'स्पेस' तो हासिल कर ही सकते हैं। ठीक उसी प्रकार, जैसे मज़दूर जब आर्थिक संघर्ष के साथ-साथ राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ते हैं तो वे पूँजीवाद के आर्थिक-सामाजिक ढाँचे को तो नहीं बदल देते, पर कुछ अधिकार, कुछ जनवाद तो हासिल कर ही लेते हैं और आगे की लड़ाई के लिए एक नया आधार भी।

मुख्य धारा के राष्ट्रीय और क्षेत्रीय अखबारों से जुड़ी-स्त्री-पत्रकारों को भी संघर्ष का अपना क्षेत्र और मुद्दा इसी तरह चुनना होगा, तभी वह वहाँ भी अपनी दोयम दर्जे की स्थिति के विरुद्ध लड़ सकती हैं और स्त्री प्रश्न पर पूरे मीडिया के रुख और पहुँच के ख़िलाफ़ संघर्ष में भी एक भूमिका निभा सकती हैं।

कारखाने और खेत में और घरेलू उत्पादन में एक स्त्री अपना सामाजिक दृष्टि से उपयोगी शारीरिक श्रम 'निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलाम, के रूप में बेंच रही है। एक स्त्री की स्थिति अखबारों के और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के महाकाव्य औद्योगिक तंत्र के भीतर भी 'निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलाम' की ही है, फर्क सिर्फ़ यह है कि वह मुख्यतः यहाँ अपना बौद्धिक श्रम बेंचती है, पर अधिशेष यहाँ भी उसी तरह निचोड़ा जाता है। अब यहाँ भी उसे इसी रूप में लड़ना है - अपने सस्ते श्रम के दोहन के ख़िलाफ़ भी और पुरुष स्वामित्ववादी परिवेश में अपनी दोयम दर्जे की स्थिति के ख़िलाफ़ भी। यहाँ से जब एक नई शुरुआत होगी तो फिर शब्दों और बिम्बों से, छवियों और मिथकों द्वारा ताकत का नया नारी-विरोधी खेल निर्बाध-निर्विध्न रूप से खेला नहीं जा सकेगा, जैसा कि मेरी इस कविता का कथन है -

न जाने क्या सूझा
एक दिन
स्त्री को
खेल-खेल में भागती हुई
भाषा में समा गयी।
छिपकर बैठ गयी।
उस दिन
तानाशाहों को
नींद नहीं आयी रात-भर।
उस दिन
खेल न सके कविगण
अग्निपिण्ड के मानिन्द तपते शब्दों से।
भाषा चुप रही सारी रात।

रुद्रवीणा पर
कोई प्रचण्ड राग बजता रहा।
केवल बच्चे
निर्भीक
गलियों में खेलते रहे!

('विकल्प' अंक-4, मार्च, 1999 में प्रकाशित)

स्त्रियों का जीवन स्त्रियों के लेखन में

अलग से स्त्रियों के लेखन की बात करते समय सबसे पहले तो यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि यहाँ यौन-आधार पर स्त्री-पुरुष लेखन के बीच 'चीन की दीवार' खड़ी करना हमारा मन्तव्य नहीं। उत्तर आधुनिकतावादी संशयात्माएँ और 'सब आर्ल्टन' इतिहास-दृष्टि के पुरोधा जिन अर्थों में विमर्श के वैकल्पिक-केन्द्रों (यथा, स्त्री-केन्द्र और दलित-केन्द्र) और नये पाठों की आवश्यकता पर या उपाश्रयी जमातों की आनुभविक दृष्टि, स्मृति और चेतना को सम्पूर्ण विश्व-दृष्टिकोण बनाकर प्रस्तुत करने पर बल दे रहे हैं, वैसा कुछ करना भी हमारा उद्देश्य नहीं। साथ ही, 'नारीवाद लेखन' शब्द का इस्तेमाल भी हमने जान बूझकर नहीं किया है, क्योंकि नारीवाद स्त्री-मुक्ति चिन्तन की महज एक विचार-सरणि है, और कुछ नहीं।

यौन-आधार पर स्त्रियों और पुरुषों के लेखन के निरपेक्ष अर्थों में अलग मानदण्ड नहीं हो सकते, न ही उनका कोई तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। फिर भी स्त्रियों की पृथक सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक स्थिति की विशिष्ट वस्तुगत ज़मीन और उस आधार पर निर्मित उनकी पृथक, विशिष्ट स्त्री-संवेदना, स्त्री-दृष्टि और स्त्री-चेतना के नाते स्त्रियों के लेखन की कुछ ऐसी विशिष्टिताएँ अवश्य हैं जिन पर अलग से चर्चा की आवश्यकता है। स्त्रियों के बाह्यजगत एवं अन्तर्जगत और समस्त सामाजिक परिवेश की विसंगतियों-त्रासदियों के प्रति स्त्री रचनाकारों के बोध एवं धारणा में एक कोणान्तर मौजूद है जो मुख्यतः उनके सेक्स के कारण नहीं, बल्कि उनकी सामाजिक स्थिति के कारण है यूँ कहें कि उनकी दोयम दर्जे की नागरिकता के कारण है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अर्द्धशताब्दी में जो दुनिया निर्मित हुई है उसमें भारत सहित तमाम उत्तर औपनिवेशिक समाजों में स्त्रियों के जीवन और चेतना में महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, पूरा साहित्य इसका साक्षी रहा है, पर स्वयं स्त्री समाज ने युगीन परिवर्तनों और स्त्री के जीवन एवं संवेदना पर उनके संघातों को जो रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है, उसके अध्ययन के माध्यम से अपने समय की विसंगतियों-विडम्बनाओं की समझ को नया विस्तार दिया जा सकता है और नारी-मुक्ति तथा सामाजिक मुक्ति की दिशा की बेहतर समझ हासिल की जा सकती है।

सद्यः स्वाधीन समाज की ऊर्जस्विता से भूमण्डलीकरण-प्रपंच की छलनामयी

मृगमरीचका तक की आधी सदी की यात्रा के दौरान भारतीय स्त्रियों ने भौतिक-आत्मिक स्तर पर जो कुछ भी खोया-पाया है, उसकी इन्दराजी उसकी अपनी कलम से अपनी बही में भी हुई है, क्योंकि औपनिवेशिक दौर की अपेक्षा आज की स्त्री अधिक अभिव्यक्ति-क्षम हुई है और अभिव्यक्ति के खतरे उठाने के लिए भी पहलेसे अधिक तैयार हुई है। कुछ अर्थों में उसकी चेतना का फैलाव हुआ है तो कुछ दूसरे अर्थों में सत्ता तंत्र, बाज़ार-संस्कृति और उनके द्वारा पोषित पुरुष स्वामित्व की अधिक धूर्त मानसिकता और अधिक सूक्ष्म हथकण्डों ने उसके अन्तर्जगत और बाह्यजगत में मुक्ति चेतना के सीमान्तों को सिकोड़ने और उन पर नये-नये सूक्ष्म दबाव पैदा करने का तथा विकृतियाँ-विरुपताएँ आरोपित करने का भी काम किया है। समाज, संस्कृति और आर्थिक-राजनीतिक क्रिया-व्यापार के धरातलों पर स्त्री-मुक्ति की चिन्ताएँ-चुनौतियाँ सूक्ष्म, व्यापक और गम्भीर हो गई हैं कि पूरे मानव-मुक्ति की तरह। यह भूमण्डलीकरण के दौर का युग-सत्य है। जो शक्तियाँ विश्व-स्तर पर और देश-स्तर पर गुलामों के रूप में स्त्रियों के श्रम को निचोड़ने की हक़दार हैं, उन्हीं की इजारेदारी स्त्रियों की बौद्धिक-सांस्कृतिक सम्पदा पर भी मज़बूत हुई है। इस सच्चाई का प्रतिलोमी पहलू यह है कि उत्तर औपनिवेशिक समाजों में स्त्रियों की प्रतिरोधी चेतना भी उत्तरोत्तर मजबूत और मुखर हुई है और अपनी स्थिति की एक बेहतर और बेबाक समझदारी भी पैदा हुई है।

इन्हीं परिवर्तनशील स्थितियों, इनके चढ़ावों-उतारों, इनके आन्तरिक अन्तरर्विरोधों और तद्जनित दबावों-संघातों के बीच उत्तर-औपनिवेशिक भारत की स्त्री-रचनाकारों की तीन-चार पीढ़ियों का रचना-संसार निर्मित हुआ है और इनके प्रतिनिधि पात्रों के रूप में आज की स्त्री अपनी सम्पूर्ण समस्याओं-चिन्ताओं के साथ, अपने पूरे परिवेश के साथ, अपने गोपनों-विगोपनों के साथ तथा अपनी विद्रोही चेतना एवं निरुपायता-बोध के साथ सामने आई है ताकि युगों बाद भी जब आज का साहित्य पढ़ा जाए तो इस ऐतिहासिक युग में मानवीय त्रासदी के एक महत्वपूर्ण पहलू को, स्त्री-समुदाय की अवशता-परवशता की दारुण यंत्रणा को समझा और जाना जा सके।

यहाँ इस आलेख के सीमान्तों के भीतर हम सिर्फ हिन्दी लेखिकाओं के कुछ प्रतिनिधि उपन्यासों एवं कहानियों की चर्चा करेंगे और देखेंगे कि हमारे समय की विसंगतियों एवं दबावों के बीच स्त्रियों का जीवन स्त्रियों के लेखन में किस तरह प्रकट हुआ है।

भारत में स्त्रियों द्वारा अधिकार आन्दोलन की जो पहल राष्ट्रीय चेतना के प्रस्फुटन के साथ-साथ उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में **पण्डिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनन्दी बाई जोशी, फ्राननना सारोबजी, एनी जगन्नाथ, रूक्मा बाई, स्वर्ण कुमारी देवी** आदि उच्च मध्य वर्ग की स्त्रियों के द्वारा की गई, उसका प्रभाव-विस्तार हिन्दी क्षेत्र में कुछ देर से और कुछ मध्यम गति से हुआ। हालाँकि

स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए आवाज़ उठाने वाली पहली हिन्दी पत्रिका **'बाला बोधिनी'** का प्रकाशन **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** द्वारा 1874 में शुरू हो चुका था, पर साहित्य और सामाजिक जीवन-दोनों ही क्षेत्रों में अपनी मुक्ति और राष्ट्रीय मुक्ति के पक्ष में हिन्दी क्षेत्र की स्त्री की आवाज़ मुखर होकर शायद पहली बार प्रकट हुई। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षों में **बंग महिला (राजेन्द्र बाला घोष)** की कहानियों और लेखों-टिप्पणियों में, जो उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जनपद की निवासिनी थीं और जिनकी 'दुलाई वाली' कहानी हिन्दी की सबसे प्रारम्भिक मौलिक कहानियों में से एक मानी जाती है।

जिस समय बंगाल की महिला लेखिका **रुकैया सखावत हुसैन** ने अपनी कहानी **'सुलताना का सपना'** (अंग्रेजी, 1905) में रुढ़ियों में कैद भारतीय नारी, वह भी मुस्लिम समाज की नारी की मुक्ति का सपना देखने का साहस किया था ('हंस', फरवरी 1993 में पुनर्प्रकाशित), ठीक उसी समय हिन्दी की आदि स्त्री कथाकार बंग महिला ने साहस के साथ अपनी कहानियों और लेखों में पुरुष-वर्चस्व के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई और एक विधवा स्त्री के रूप में अनेक लांछनों और पुरुष-दर्प के प्रहारों को झेलते हुए स्त्री-जीवन की उन विडम्बनाओं-त्रासदियों की चर्चा की जिनसे आज भी भारतीय स्त्री, मुक्त नहीं हो सकी हैं बंग महिला ने पुराणपंथी साहित्य-पण्डितों और सम्पादकों के कोप का ही नहीं, बल्कि कई बार तो **महावीर प्रसाद द्विवेदी** और **रामचन्द्र शुक्ल** की तीव्र असहमतियों और विरोध का भी सामना करते हुए स्त्रियों पर लादे जाने वाले नैतिक नियमों के बन्धनों, विधवाओं की स्थिति, स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी वर्जनाओं और पुरुष प्रधान पारिवारिक-सामाजिक ढाँचे में स्त्री की गुलामी पर सवाल उठाये। यही नहीं, उनकी रचनाओं में औपनिवेशिक गुलामी के प्रति पीड़ा और क्षोभ के भाव के साथ ही समाज के उपेक्षित तबकों के पात्रों के प्रति भी गहरा सामाजिक सरोकार दिखाई पड़ता है (विस्तार के लिए, देखें, नारी मुक्ति की पहली छापामार लेखिका बंग महिलाः भवदेव पाण्डेय, 'हंस', जून 1996)।

विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान हिन्दी प्रदेश में स्त्री-स्वातंत्र्य की नई चेतना की जो एक लहर-सी दिखाई देती है, वह बंग महिला की स्त्री-मुक्ति चेतना और सामाजिक सरोकारों का ही विस्तार थी। इस आन्दोलनात्मक सांस्कृतिक-सामाजिक लहर पर राष्ट्रीय आन्दोलन की विविध धाराओं-उपधाराओं का स्पष्ट प्रभाव मौजूद था जो सामाजिक जीवन के पोर-पोर में नई ऊर्जस्विता का संचार कर रहा था।

1909 में प्रयाग से हिन्दी प्रदेश से स्त्री आन्दोलन की पहली और सबसे महत्वपूर्ण पत्रिका **'स्त्री-दर्पण'** का प्रकाशन **रामेश्वरी नेहरू** के सम्पादन में शुरू हुआ, जिसमें तत्कालीन वामपन्थी विचारक **सत्यभक्त, राधामोहन गोकुल जी, रमाशंकर अवस्थी** आदि के साथ हिन्दी की पहली प्रखर नारीवादी विचारक **उमा नेहरू** और **हृदय मोहिनी, हुक्मा देवी, सत्यवती** और **सौभाग्यवती** आदि लेखिकाओं

की रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। 'स्त्री-दर्पण' की नियमित लेखिकाओं ने अपने लेखों और कहानियों में परदा प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, मृत स्त्री का विवाह आदि के साथ ही स्त्रियों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों को भी मुद्दा बनाया। इन लेखिकाओं में एक सुधारवादी-उदारवादी धारा थी जो **आर्य समाज** के सामाजिक आन्दोलन, **गाँधीजी** के विचारों और गाँधीजी के राजनीतिक आन्दोलनों से प्रभावित थी। दूसरी धारा उमा नेहरू जैसी प्रखर नारीवादियों की थी जो मध्यवर्गीय उग्रपरिवर्तनवाद और यूरोपीय नारी आन्दोलन, विशेषकर 1905 से चल रहे नारी मताधिकार आन्दोलन आदि से प्रभावित थे (विस्तार के लिए देखें, हिन्दी प्रदेशः प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में स्त्री चेतनाः वीर भारत तलवार, 'साक्षात्कार', जुलाई-सितम्बर 1987)।

नई स्त्री-चेतना के स्वर 'स्त्री-दर्पण' के अतिरिक्त **'गृहलक्ष्मी', 'महिला सर्वस्व' 'आर्य महिला'** जैसी महिला पत्रिकाओं के माध्यम से भी प्रकट हो रहे थे। 1922 से **'चाँद'** का प्रकाशन स्त्री-चेतना के साथ ही उसके राजनीतिक-सामाजिक सरोकारों के विस्तार का भी प्रमाण था। वस्तुतः नारी जागरण और प्रबोधन के स्वरों में दूसरे-तीसरे दशक की कोई भी हिन्दी पत्रिका अछूती नहीं थी। **'सरस्वती', 'प्रभा', 'प्रताप', 'अभ्युदय', 'मयार्दा', 'सुधा'** और **'माधुरी'** आदि पत्रिकाओं में नारी जीवन विषयक सामाजिक समस्याओं और सैद्धान्तिक मुद्दों पर चलने वाली बहसों में बहुतेरी लेखिकाएँ भी हिस्सा लेती थीं और उनकी नारी जीवन की समस्याओं-विडम्बनाओं पर केन्द्रित बहुतेरी साहसपूर्ण कहानियाँ भी प्रायः प्रकाशित हुआ करती थीं (विस्तार के लिए, देखें 'प्रभा और राष्ट्रीय जागरण' (पुस्तक) : सुजाता राय) 'माधुरी और हिन्दी नवजागरण' (अप्रकाशित लघु शोध प्रबन्ध) : कात्यायनी। यह अफ़सोस की बात है कि स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को साहसपूर्ण तरीके से उठाने के साथ ही, राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में उसके सामाजिक-राजनीतिक सरोकारों को भी प्रकट करने वाली बहुतेरी लेखिकाएँ आज हिन्दी पाठकों के लिए अपरिचित हैं और उनकी स्मृतियाँ मात्र हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों में क़ैद हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर की हिन्दी की जिन स्त्री रचनाकारों को आज हम पढ़ते-जानते हैं, उनमें से एक **सुभद्रा कुमारी चौहान** में, राष्ट्रीय मुक्ति चेतना की प्रखरता और उसमें शामिल स्त्री का ओज तो है, साथ ही घर की चारदीवारी के बाहर की सामाजिक सक्रियता से पैदा हुई मुक्ति का अहसास एवं संवेदना भी है पर पुरुष सत्तात्मक समाज के दंशों की अनुभूति या स्त्री की अपनी स्वतंत्र अस्मिता का प्रश्न उनके यहाँ प्रायः अनुपस्थित है। यही नहीं, उनमें स्त्री के लिए निर्धारित नैतिक सामाजिक नियमों की वह स्वीकार्यता भी मौजूद है, जिसकी वकालत गाँधीजी स्त्रियों की सामाजिक सक्रियता का पक्षधर होने के बावजूद किया करते थे।

दूसरा प्रमुख और ज़्यादा बड़ा नाम है **महादेवी वर्मा** का, जिनका छायावादी नारी-बोध कविताओं में स्त्रियों के एकात्म प्रेम, उनकी पीड़ा असहायता और अवसाद

की अभिव्यक्ति से आगे नहीं बढ़ पाया। उनके संस्मरणों और रेखाचित्रों में प्रायः रूढ़ियों तले दबी हुई मध्य वर्ग या निम्न वर्ग की घरेलू नारी ही सामने आई है जिसके भीतर परम्परागत संस्कारों का दबाव कहीं गहरे तक मौजूद है। पर यह एक अजीब-सी बात लगती है कि **'श्रृंखला की कड़ियाँ'** के निबन्धों में उन्हीं महादेवी जी का एक प्रखर स्वतंत्र चेता रूप सामने आता है। इन निबन्धों में वे पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक-पारिवारिक गुलामी और उसके कारणों का सन्तुलित विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं, स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता और पहचान के प्रश्न को और उसके सामाजिक चेतना के विस्तार की आवश्यकता को रेखांकित करती हैं, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति के संघर्ष के जटिल पहलुओं को उघाड़ती है और स्त्री-मुक्ति की एक बुनियादी शर्त के तौर पर उसकी आर्थिक स्वावलम्बिता की अनिवार्यता पर बल देती है। निस्सन्देह **'श्रृंखला की कड़ियाँ'** के निबन्धों में महादेवी जी ने राष्ट्रीय जागरण काल की नारी-प्रबोधन की जनवादी मुक्ति-चेतना को स्वर दिया। पर रचना के धरातल पर वे न तो इस चेतना से आप्लावित कोई कृति दे पायीं न ही **आशापूर्णा देवी** की **सत्यवती या सुवर्णलता** जैसी किसी प्रतिनिधि पात्र की सर्जना कर सकीं। कहा जा सकता है कि अपने देशकाल में उमा नेहरू से लेकर स्वयं महादेवी तक जो चरित्र थे और राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी करने का तथा सामाजिक रूढ़ियों से जूझने वाली आम स्त्रियों को जो विशाल समुदाय उनका प्रतिनिधित्व करने वाले स्त्री चरित्र अपने परिवेश और जद्दोजहद के साथ तत्कालीन स्त्री लेखन के पटल पर सही ढंग से अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं करा सकी। बंगला और मराठी साहित्य में इससे कुछ भिन्न स्थिति थी और इसके कुछ सुनिश्चित सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहासजन्य कारण थे। प्रगतिशील लेखक संघ वामपन्थी-साहित्यान्दोलन के प्रभाव में उर्दू में **रशीद जहाँ** से लेकर **इस्मत चुगताई** तक ने जो रूढ़िभंजक निर्भीकता चौथे-पाँचवे दशक में ही अपनी कहानियों में दिखाई थी, उस तरह की कोई धारा हिन्दी की लेखिकाओं की प्रायः दिखाई नहीं देती।

फिर भी कुछ नामों का एक टूटता-बनता क्रम ज़रूर दिखाई देता है। हिन्दी में नारी स्वतंत्रता की पहली स्पष्ट पक्षधर कथा लेखिका सम्भवतः **कमला देवी चौधरी** थीं जिन्होंने 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लिया था। कहानी लेखन की प्रेरणा भी उन्होंने गाँधीजी से ही ली थी। उनकी पहली कहानी 1933 में **'विशाल भारत'** में प्रकाशित हुई थी। कमला देवी की कहानियों की मुख्य पात्र प्रायः स्त्रियाँ ही मिलती हैं जो लेखिका पर गाँधी की राजनीति के प्रभाव के बावजूद सुधारवाद के प्रचलित तर्कों से अलग हटकर रूढ़ियों एवं यथास्थिति के प्रतिकार का अपना रास्ता चुनती हैं और समाज की नज़रों में बेबस दीखती हुई भी मज़बूती से उस रास्ते पर चलती हैं तथा दुखों-यंत्रणाओं के रूप में उसकी कीमत चुकाती हैं।

1936 के बाद हिन्दी कहानी में प्रगतिवाद के प्रभाव में यथार्थवाद और परिवर्तन

की पक्षधरता के जो स्वर फूटे, उनका स्पष्ट असर **हेमवती देवी, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा** और **कंचनलता सब्बरवाल** जैसी लेखिकाओं पर दिखाई देता है। इन लेखिकाओं ने अपनी कहानियों में सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं, दलित वर्गों के जीवन और औपनिवेशिक समाज के द्वन्द्वों को उभारा और विकासमान नारी-चेतना के नये आयामों और सामाजिक सरोकारों-चिन्ताओं को उकेरा।

स्वातंत्र्योत्तर काल की कथा लेखिकाओं की पहली पीढ़ी के रूप में उभरने वालों में चार का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है - **शशि प्रभा शास्त्री, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी** और **उषा प्रियंवदा।**

शशि प्रभा शास्त्री के रचना काल के लगभग आधी सदी लम्बे विस्तार में विषय-वस्तु के धरातल पर यह परिवर्तन तो अवश्य घटित हुआ है कि स्त्री के अन्तर्जगत और बहिर्जगत पर विकासमान स्थितियों के नये-नये बनते दबावों की भी इन्दराजी होती गई है, लेकिन सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध या पुरुष सत्ता के विरुद्ध उनकी स्त्री पात्रों का विद्रोह हर जगह सुधारवादी मूल्यों के आग्रह से नियमित-अनुशासित होता रहा है तथा अन्ततोगत्वा परम्परा की निरन्तरता का पहलू भी स्थापित होता रहा है। दूसरी बात, राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद के स्वप्नों, उम्मीदों से लेकर व्यापक मोहभंग और फिर गतिरोध की साक्षी होने के बावजूद उनकी कहानियों और उपन्यासों में मुख्यतः पारिवारिक सम्बन्धों को ही कथा भूमि का आधार बनाया गया है। न केवल सामाजिक, राजनीतिक स्थितियाँ और उनके संघात वहाँ अनुपस्थित हैं, बल्कि स्त्री के जीवन और चिन्तन में घटित होने वाले संक्रमण की संश्लिष्ट पीड़ादायी प्रक्रिया भी वहाँ दिखाई नहीं देती।

आज पीछे मुड़कर देखा जाये तो इस पीढ़ी की लेखिकाओं में **कृष्णा सोबती** शायद पहली उग्र, रैडिकल बुर्जुआ नारीवादी के रूप में नज़र आती हैं जिनकी रचनाओं में स्त्री की अपनी अस्मिता की स्वीकृति की छटपटाहट, अपनी नैसर्गिक कामनाओं-वासनाओं की खुली स्वीकृति और बोल्ड अभिव्यक्ति और पुरुष स्वामित्ववादी मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर मुखर हुआ। ...... **'मित्रो मरजानी'** की मित्रो झूठी मर्यादाओं और ओढ़े हुये अभिजात्य के मोटे लबादे के भीतर युगों से दबी-छुपी सामन्ती मानसिकता वाली पारम्परिक नारी के मुँह पर थूकने वाली आज की एक ऐसी बोल्ड और खुद्दार नारी है जो नारी के प्रति पारम्परिक मिथ और उसके आस-पास फैलाये गये रहस्यमयता के प्रभावमण्डल को एक झटके के साथ तोड़कर आज के नारी यथार्थ का एक दूसरा ही रूप दिखाती है।

"कृष्णा सोबती ने अपनी मित्रों के रूप में पारम्परिक नैतिकता की रूढ़ घेराबन्दियों और आरोपित मर्यादाओं की धज्जियाँ उड़ा देने वाली जिस विद्रोही बेलौस, मुँहफट और हर तरह की मर्यादाओं से परे तथा हर सीमा को अतिक्रमित करने वाली नारी को उपस्थित किया है, उसमें मेरे जानते उनका उद्देश्य आधुनिक नारी के लिए

हर प्रकार की यौन मर्यादाओं और सामाजिक मूल्यों से परे हो जाने की वकालत करना नहीं है, वरन् नारी मर्यादा और यौन शुचिता के बहाने इस पुरुष प्रधान समाज द्वारा नारी को एक स्वतंत्र मानव इकाई न मानने और उसके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास को रोकने वाली साजिश के प्रति विद्रोह है।" ('महिला कथाकारों का आधुनिकता बोध': जवाहर सिंह, 'वर्तमान साहित्य', दिसम्बर 1988)।

पूरे हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक घटना है मित्रो के रूप में अपने स्त्रीत्व के गौरव, पहचान तथा देह व मन की सहज ज़रूरतों, कामनाओं की घोषणा करने वाली विद्रोहिणी का हिन्दी कथाजगत में प्रवेश। यह स्त्री स्वातंत्र्योत्तर भारत के मध्यवर्गीय भारतीय संयुक्त परिवार में पूँजीवादी विकास के संघातों से प्रभावित सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से निर्मित नई मानसिकता वाली प्रतिनिधि चरित्र है जो ऊपरी तौर पर अपवाद-सी नज़र आती है, पर ऐसा है नहीं।

कृष्णा सोबती ने अपने अगले बहुचर्चित उपन्यास **'सूरजमुखी अँधेरे के'** की मुख्य पात्र बलात्कार की शिकार स्त्री **रत्ती** को बनाया है जो पाखण्डी और भोगवादी 'सभ्य समाज' के कहर से जूझती हुई न तो अपना लड़ाकूपन खोती है और न ही मानवीय संवेदना। रत्ती बचपन के बलात्कार के बाद खो गई अपने भीतर की सहज नैसर्गिक स्त्री का एक लम्बी प्रक्रिया में पुनराविष्कार करती है और यह प्रक्रिया अरविन्द जैन के शब्दों में, 'वस्तु से व्यक्ति बनती स्त्री की संघर्ष-गाथा है' ('वस्तु से व्यक्ति बनती औरत': अरविन्द जैन, समय चेतना', अक्टूबर 95)

कृष्णा जी का अगला उपन्यास **'दिलो दानिश'** उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के दरम्यान एक खानदानी रईस और वकील कृपानारायण के हवेली के भीतर की दुनिया (उसकी माँ, पत्नी, बहन, बेटे आदि) और हवेली के बाहर की दुनिया ('दूसरी औरत': महक बानो, उसका बेटा और बेटी) के रिश्तों और टकरावों के माध्यम से तत्कालीन सामन्ती समाज में औरतों की सामाजिक स्थिति और चेतना को समझने की एक जोखिम भरी रचनात्मक कोशिश है। कानूनी स्त्री कुटुम्ब प्यारी हो या रखैल बनने को विवश महक बानो, दोनों ही पुरुष सत्ता की शिकार है। कथा की ज़मीन एक सदी पुरानी है, फिर भी इसने जो सवाल उठाये हैं (हाँ, सिर्फ सवाल ही उठाये हैं।) वे आज भी हमारे समाज की पारम्परिक पारिवारिक मध्यवर्गीय स्त्री के जीवन के प्रासंगिक प्रश्न हैं।

अपनी अब तक की रचना-यात्रा के आखिरी पड़ाव तक **- 'ऐ लड़की'** लघु उपन्यास तक आते-आते कृष्णा सोबती की दृष्टि अधिक सूक्ष्मग्राही हुई है। इस प्रयोगात्मक कृति में स्मृतियों में जीती हुई और कदम-ब-कदम मौत की ओर बढ़ती माँ और अभी जीवन में स्थिर-व्यवस्थित न हो पाई उसकी अन्तिम अविवाहित बेटी के संवाद के जरिए जीवन एवं सौन्दर्य की अदम्य चाहत, स्त्री-अस्मिता की तलाश, अभिव्यक्त हुई है। यहाँ भी कृष्णा जी का नारीवाद उग्र है, अनुभववादी है पर

सर्वनिषेधवादी नहीं। यहाँ परिवार और समाज में स्त्री के स्थान को लेकर चिन्ताएँ अधिक वैचारिक हो उठी हैं।

कृष्णा सोबती हिन्दी की पहली लेखिका हैं जिन्होंने नई उपभोक्ता संस्कृति और शिथिल समाज के पारम्परिक निरंकुश मूल्यों के संघातों के बीच जीने वाली भारतीय स्त्री की भौतिक-आत्मिक पीड़ाओं और आत्मनिर्वासन से मुक्ति की छटपटाहट को उग्र बुर्जुआ जनवाद के विचारों से अनुप्राणित नारीवादी दृष्टि से देखने के साथ ही व्यावहारिक तौर पर एक नयी नारीवादी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि भी प्रस्तुत की।

पचास और साठ के दशक में **मन्नू भण्डारी** का नाम नई कहानी के अग्रणी कथाकारों के साथ चर्चा में आया। उनकी शुरू की कहानियों में व्यर्थ भावोच्छवासों और रूढ़िबद्ध चौखटों से मुक्त नई स्त्री का जो चरित्र खड़ा होता है, उसका परिवेश और भौतिक-आत्मिक जीवन समस्याओं की ज़मीन मुख्यतः मध्यवर्गीय है। नई कहानी की मुख्य धारा के अनुरूप मन्नू भण्डारी ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में पैदा होने वाले अलगाव और स्त्री के जीवन एवं मानस पर उसके प्रभावों का चित्र प्रस्तुत करने के साथ ही स्त्री की अपनी स्वतंत्र पहचान के प्रश्न को भी उठाया और आधुनिक जीवन में मध्यवर्गीय नारी अस्तित्व के पारिवारिक और सामाजिक पक्षों से जुड़ी समस्याओं को भी उठाया, पर रुढ़िविरोधी कथानकों के बावजूद साठ के दशक के अन्त तक कमोवेश मध्यवर्गीय रूमानियत का स्वर ही उनकी रचनाओं में प्रमुख रहा।

उनका **'आपका बंटी'** उपन्यास हिन्दी में स्त्री लेखन की एक प्रतिनिधि कृति के रूप में सामने आया। कहानी हालाँकि एक कालेज की प्राचार्य, प्रबुद्ध महिला शकुन के 9-10 वर्ष के बेटे बंटी की स्थिति-मनःस्थिति पर केन्द्रित है, जो उसके माता-पिता के तनावपूर्ण सम्बन्धों और फिर अलगाव से प्रभावित होता है। शकुन इस हद तक पारम्परिक संस्कारों से मुक्त है कि वह केवल बेटे को सहारा बनाने की जगह और उसकी परवरिश को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाने की जगह अपने जीवन की भावात्मक रिक्तता को नये प्रेम और पुनर्विवाह से भरने की कोशिश करती है जो भारतीय समाज में सिर्फ पुरुष के लिए ही स्वीकृत माना जाता रहा है। शकुन परम्परागत रूढ़ियों का तिरस्कार करके एक सहज जीवन जीना चाहती है, पर उसकी यह चाहत पूरे सामाजिक परिवेश के दबावों से स्वतंत्र नहीं हो पाती। माँ-बाप के अलग-अलग पुनर्व्यवस्थित दाम्पत्य जीवन के बीच बंटी का व्यक्तित्व न चाहते हुए भी तिरस्कृत, अलगावग्रस्त और विभाजित होकर बिखरता चला जाता है और शकुन को इसका साक्षी होने की मर्मान्तक पीड़ा भुगतनी पड़ती है। शकुन की पूरी कथा एक स्वतंत्र, स्वावलम्बी जीवनदृष्टि वाली स्त्री के नये मूल्यों और परम्परागत संस्कारों के द्वन्द्व से, प्रस्तरीकृत सामाजिक ढाँचे और मान्यताओं तथा एक स्त्री की निजी मुक्ति के व्यक्तिगत उद्यमों के बीच के द्वन्द्व से गुजरती हुई आगे बढ़ती है और यह प्रश्न छोड़ जाती है कि क्या आर्थिक रूप से स्वावलम्बी और स्वतंत्र पहचान वाली एक स्त्री

भी मौजूदा पितृसत्तात्मक सामाजिक पारिवारिक ढाँचे के भीतर अपनी निजी मुक्ति अर्जित कर सकती है? उपन्यास सिर्फ यह प्रश्न ही उठाता है। कथा के सूत्र आज की स्त्री की मुक्ति को स्त्री समुदाय की सामाजिक मुक्ति के प्रश्न से जोड़ने की दिशा में आगे नहीं बढ़ते। यही इसकी सीमा है। फिर भी खुशहाल मध्यवर्गीय, शहरी स्त्री के जीवन को आधार बनाते हुए भी मन्नू भण्डारी ने जो सवाल उठाया है वह पूरे मध्यवर्गीय स्त्री समुदाय के जीवन का एक अहम प्रश्न है और यही कारण है कि आम मध्यवर्गीय घरेलू महिलाओं ने भी इसके साथ एक तादात्म्य की अनुभूति की। शकुन, मित्रो और रत्ती की तरह; पर उनसे अलग, स्वातंत्र्योत्तर भारत की मध्यवर्गीय स्त्री समुदाय की एक प्रतिनिधि चरित्र है।

साठ के दशक में ही **उषा प्रियंवदा** ने **'रुकोगी नहीं राधिका'** उपन्यास के जरिए नारी-मुक्ति-प्रश्न को एक नये कोण से देखने की कोशिश की। हिन्दी जगत में राधिका का चरित्र जब सामने आया तो आम पाठक के लिए कुछ असामान्य और अपरिचित-सा था। उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए अधिक प्रौढ़ और खुले दिमाग की ज़रूरत थी। उच्च अभिजात परिवार की सुशिक्षित सम्भ्रान्त युवती के इर्द-गिर्द केन्द्रित होते हुए भी इस उपन्यास ने भारतीय समाज के मूल्यगत संक्रमण की प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित किया। पुराने समाज के पारम्परिक मूल्यों आस्थाओं के नये समाज के मूल्यों के टकरावों के बीच राधिका अपने लिए उपयुक्त पुरुष की तलाश करती हुई स्थापित सामाजिक मान्यताओं के एकदम आमने-सामने आई होती है पहली बार शायद नारी का अस्मिता-संहार करने वाली भारतीय विचार पद्धति पर मुखर होकर इस उपन्यास ने प्रश्नचिह्न खड़ा किया।

यही प्रश्नचिह्न, दशकों बाद अगली पीढ़ी की **मृदुला गर्ग** और राजी जैसी स्त्री रचनाकारों के रचना जगत में और बड़ा होकर सामने आता है। साथ कुछ समाधानपरक कथा-सूत्र भी उभरते नज़र आते हैं उदाहरण के तौर पर, सेठ ने अपनी कहानी **'मैं तो जन्मा ही'** में नौकरी करने और अपना दूल्हा तलाश करने वाली लड़की चिक्की के उद्यमों प्रयत्नों को पूरी सजगता और सहानुभूति के साथ देखा है और यह सवाल उठाया है कि एक स्त्री भी यदि पुरुष की तरह प्यार में पहल करने और जीवन-साथी स्वयं चुनने का प्रयास करती है तो समाज उसे लांछित क्यों करता है? राजी सेठ की नायिका चिक्की उषा प्रियवंदा की राजी का ही विस्तार है। पर राजी सेठ की दृष्टि का भी अन्तरर्विरोध यह है कि उसकी नायिका को भी इन दो विकल्पों में से किसी एक को चुनने के लिए विवश किया जाता है कि वह या तो विवाह कर ले या फिर अपने माता-पिता का भरण-पोषण कर ले! यहाँ **वीरभारत तलवार** ने यह प्रश्न उचित ही उठाया है कि "क्यों समाज ऐसी व्यवस्था मंजूर नहीं कर पाता जिसमें जिस तरह एक विवाहित पुरुष खुद पर आर्थिक रूप से निर्भर करने वाले पारिवारिक सदस्यों की देखभाल करता है, उसी तरह कमाने वाली एक विवाहित स्त्री भी अपने ऊपर निर्भर

सदस्यों की देखभाल कर सके? इस मामले में हमें परम्परा से चले आ रहे नजरिए और संस्कृति को बदलने की सख्त ज़रूरत है। दुर्भाग्य से हमारी कहानी-लेखिका अपनी सजग स्त्री चेतना के बावजूद इस पारम्परिक नज़रिये और संस्कारों का शिकार लगती है ('समय चेतना' दिसम्बर 1995)।

उषा प्रियंवदा के अगले चर्चित उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की नायिका भी मूलतः राधिका की चेतना को ही अधिक परिपक्व और व्यावहारिक धरातल पर प्रकट करती है। साथ ही, यह पात्र राधिका से अधिक प्रतिनिधि भारतीय मध्यवर्गीय स्त्री चरित्र है।

कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा और **मन्नू भण्डारी** के बाद की पीढ़ी अधिकांश स्त्री रचनाकारों में स्त्री-मुक्ति की आवेशपूर्ण-आवेगपूर्ण भंगिमा से कुछ अलग, एक खोजती-तलाशती नारी प्रश्न के विविध पहलुओं की अधिक सजग और सूक्ष्मदर्शिता के साथ पड़ताल करती हुई दृष्टि उभरती-बनती दिखाई देती है। पर इसका दूसरा पहलू यह भी है कि कृष्णा सोबती के उग्र मुखर नारी पात्रों के आवेग इन लेखिकाओं के नये नारी पात्रों में कहीं न कहीं शिथिल पड़ता हुआ दिखाई देता है। ये नये स्त्री-चरित्र अपने अधिक स्वतंत्र, विचारशील और संवेदनशील व्यक्तित्व के बावजूद कहीं न कहीं यथास्थिति के साथ तालमेल भिड़ाते, समझौता करते, और एकांत के गुहावासी बनने या चुनौतियों से सीधे टकराने से कतराते नज़र आते हैं।

साथ ही, एक महत्वपूर्ण बात यह है कि मृणाल पाण्डे से लेकर कुसुम (दृष्टव्यः 'हीरामन हाईस्कूल' उपन्यास।) तक अनेक स्त्री रचनाकारों के रचना-संदर्भ...... में मध्यवर्गीय स्त्री की व्यथा और विद्रोह के साथ ही आज की जीवन-स्थिति, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं और उन तमाम प्रश्नों के प्रति गहरी सम्बद्धता दिखाई देती है जिनका किसी न किसी रूप में समकालीन जीवन से सरोकार है। स्त्री लेखन के चिन्तन-पक्ष के क्षितिज का यह विस्तार शकुन चरित्र खड़ा करने वाली मन्नू भण्डारी में भी दिखाई देता है जब वे **'महाभोज'** उपन्यास की रचना करती हैं। यही नहीं, **'चित्तकोबरा'** में निम्न पूँजीवादी उग्र नारीवाद की विचार भूमि निर्मित करने वाली **मृदुला गर्ग 'अनित्य'** उपन्यास में राजनीतिक-सामाजिक जीवन की असंगतियों, विडम्बनाओं पर भी ध्यान केन्द्रित करती है। इसी सन्दर्भ में **नमिता सिंह** का नाम अवश्य लिया जाना चाहिए जिनकी रचनाओं में निम्न और मध्यवर्ग की स्त्रियों के संघर्षों और विवशताओं के साथ ही पूरे सामाजिक-आर्थिक तंत्र और मौजूदा सत्ता-राजनीति के मानवद्रोही चरित्र और उसके विरुद्ध आम लोगों की विकासमान चेतना को भी स्वर दिया गया है।

आठवें दशक से लेकर अब तक कई नई लेखिकाओं ने पुरुष सत्तात्मक समाज के ढाँचे और मूल्यों तथा उनके दबाव के नीचे जीती-जूझती स्त्री की गाथा प्रस्तुत करने के साथ ही उस राजनीतिक-सामाजिक तंत्र की ओर भी गहरी सामाजिक चिन्ता और

चिन्तनशीलता के साथ इंगित करने का काम किया जो नारी-विरोधी यथास्थिति की निरन्तरता की मूल कारक शक्ति हैं। बावजूद इसके, उनकी वैचारिक दृष्टि में कतिपय अहम विसंगतियों और सीमाओं की मौजूदगी शायद विगत 25 वर्षों के दौरान भारतीय समाज में मौजूद गतिरोध, आन्दोलनों की असफल परिणतियों और मोहभंग की सी स्थिति के कारण हैं और इसमें उस विश्व ऐतिहासिक परिस्थिति का भी योगदान है जिसमें **'इतिहास के अन्त'** जैसी घोषणाओं का घटाटोप है, अनुभववाद और नियतिवाद का बोलबाला है तथा भूमण्डलीकरण और संचार क्रान्ति की चकाचौंध में स्त्री समुदाय की तमाम आकांक्षाएँ भटकती-घूमती सी प्रतीत होती हैं। सोचने की बात है कि **राजी सेठ** की अधिकांश स्त्रियाँ अपनी सान्द्र जिजीविषा, स्वतंत्र सोच और गझिन बौद्धिकता के बावजूद कहीं न कहीं परम्पराओं और यथास्थिति से तालमेल भिड़ाती क्यों नज़र आती हैं? एक समय खासा उम्मीद पैदा करने के बावजूद **राजी सेठ** की रचनात्मकता अपने उत्तरवर्ती दौर में प्राणहीन बौद्धिकता और जटिल भाषाई व्यूह-रचना में दबी कराहती क्यों नज़र आती है? कुछ हद तक यह आरोप **मृदुला गर्ग** की औपन्यासिक कृतियों पर भी लागू होता है, पर उसकी रचनात्मकता का धरातल विषम है। **'शहर के नाम'** संकलन की उनकी कहानियों में उनकी नारी-मुक्ति दृष्टि बहुआयामी तथा एक ही साथ सूक्ष्मदर्शी और व्यापक रूप में प्रकट होती है और उत्कृष्ट कहानी की शर्तों पर खरी उतरती हुई नारी प्रश्न को उभारती-उकेरती है।

पर जब समस्याओं, सीमाओं और चुनौतियों की बात हो रही हो तो यह सोचना ज़रूरी है कि **नासिरा शर्मा** जिसकी कहानी 'संगसार' की नायिका कृष्णा सोबती की मित्रो के ऐंद्रिक 'पैशन' की याद दिलाती है, उनकी नायिकाएँ भी कहीं न कहीं यथास्थिति के साथ समन्वय सी स्थापित करती दिखाई देती हैं। इससे तो बेहतर यह होता कि वे प्रश्न उठाकर छोड़ देतीं पाठक को बेचैन होने और सोचने देने के लिए। **'शाल्मली'** और **'ठीकरे की मँगनी'** - नासिरा शर्मा के इन दो उपन्यासों के सन्दर्भ में **मृदुला गर्ग** ने ठीक ही लिखा है कि नारी "नारी व्यथा के दलदल से निकलकर नारी चेतना से ओतप्रोत कद्दावर औरतों की कहानी कहकर नासिरा शर्मा ने औरत की शख्सियत को बहुआयामी पहचान दी है (हंस सितम्बर 1991)। पर यह सच है कि दोनों उपन्यासों की प्रबुद्ध, सुशिक्षित, विचारवान और व्यक्तित्व सत्पन्न नायिकाएँ (अन्ततः) परम्परागत बलिदान और त्याग के रास्ते का 'वरण' करती हैं" (बकौल राजेन्द्र यादव, हंस, सितम्बर 1991)। यहाँ मैं न तो प्रयोजनमुखता का यांत्रिक आग्रह कर रही हूँ, न ही नारी मुक्ति आन्दोलन की कसौटी पर भोंडे ढंग से कथानक की निष्पत्तियों-परिणतियों को कसने की बात कर रही हूँ। कहानी उपन्यास की संरचना और रचनात्मकता ऐसी हो सकती है कि कहानी के स्तर पर प्रत्यक्षतः घटित होने वाला समझौता या पराजय भी मूल प्रश्न वृहत्तर सन्दर्भों में प्रस्तुत कर जाये और

पराजय बोध की जगह आशा की एक दिशा लकीर के मानिन्द आँखों के सामने खींच देने का काम कर जाये। पर नासिरा शर्मा यहाँ इसमें काफ़ी हद तक सफल नहीं हो सकी हैं।

यह ज़रूर है कि **कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा** और **मन्नू भण्डारी** ने स्वातंत्र्योत्तर भारत की (मुख्यतः मध्यवर्गीय) प्रतिनिधि स्त्री पात्रों की जो छवि और दुनिया रची, वह जीवन के साथ ही रचना के धरातल पर भी **कुसुम अंसल** की **'एक और पंचवटी'** और **'रेखाकृति'** जैसे उपन्यासों, सूर्यबाला के **'यामिनी कथा'** जैसे उपन्यासों और कहानियों से लेकर **मृदुला गर्ग, मृणाल पाण्डे, नासिरा शर्मा** से लेकर **मैत्रेयी पुष्पा** के उपन्यासों (विशेषकर 'इदन्नमम') और कहानियों की स्त्रियों की दुनिया तक विविध दिशाओं में विस्तारित हुआ है। विस्तारित होने के दौरान यह दुनिया यदि कही-कहीं अधिक उद्घाटित और उद्भासित हुई है तो कहीं-कहीं इसका ताना-बाना बिखरा हुआ और उलझा हुआ भी नज़र आता है।

विवाह, प्रेम, मातृत्व, पारिवारिकता आदि के इर्द-गिर्द, उदारवादी से उदारवादी और सुधारवादी से सुधारवादी पुरुषों ने जो कुछ बिम्ब, रूपक, छवियाँ, मिथक और मुखौटे स्त्रियों के लिए रचे थे, उन पर प्रश्न उठाने, उन्हें हवा में उछालने, उनकी खिल्ली उड़ाने और उन्हें ध्वस्त करने का जो सिलसिला सत्तर के दशक में **ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, सूर्यबाला, निरूपमा सेवती** आदि की कहानियों में कहीं कमज़ोर और अनगढ़, तो कहीं वैचारिक परिपक्वता के साथ शुरू हुआ था, वह क्रम आज जया रावत की **'भगवंती कहाँ जाओगी', नासिरा शर्मा** की **'संगसागर', मैत्रेयी पुष्पा** की **'पगला गई है भागों'** और **'गोमा हँसती है', मृदुला गर्ग** की **'चकरघिन्नी', 'वह मैं ही थी'** और **'शहर के नाम'** संकलन की अन्य कहानियों में, **चित्रा मृद्गल** की **'प्रेत्योनि', राजी सेठ** की **'दूसरे देशकाल में'** तथा **मृणाल पाण्डे** की **'उमेश जी'** जैसी कहानियों के माध्यम से आगे बढ़ रहा है। अपने चारों ओर बुने हुए मर्दवादी तिलिस्म को तोड़कर आरोपित छवियों को विखण्डित करके तथा महज आनुभविक प्रेक्षण ('भोगे हुए यथार्थ') और क्रोध के आवेश से आगे बढ़कर आज नारी चेतना सामाजिक सम्बन्धों और उपभोक्ता संस्कृति के मिथक-संसार का इन्द्रजाल तोड़ती हुई खुद को प्रकट कर रही है। इसका चिन्तनशील विद्रोही रूप भी सामने आ रहा है और बिखरी हुई, उलझी हुई वैचारिकता भी, जो कहीं-कहीं यथास्थिति में भी पनाह ले रही है। ये दोनों पहलू आज हमारे समाज की जाग्रत नारी की चेतना के दो पहलुओं के ही रचनात्मक प्रक्षेपण या प्रतिफलन हैं।

पर बीच के विचलन भी हैं जो गौरतलब है। **मंजुल भगत** की **'अनारो'** निम्नवर्ग की मेहनतकश स्त्री है, जीवन्त, दमदार और खुद्दार चरित्र है पर मान-सम्मान, मूल्य-मान्यताओं के धरातल पर अन्ततोगत्वा उसकी मानसिकता मर्दवादी चौहद्दियों के भीतर और प्रस्तरीकृत सामाजिक रूढ़ियों के दायरे में ही क़ैद है तथा उसके सपने

और आकांक्षाएँ भी सारतः मध्यवर्गीय ही हैं। दूसरी ओर **प्रभा खेतान** की **'छिन्नमस्ता'** का नायिका प्रिया है जिसका पुरुष स्वामित्ववादी सामाजिक रूढ़ियों और विवाह जैसी संस्था के विरुद्ध विद्रोह खालिस बुर्जुआ नारीवादी-व्यक्तिवादी भावबोध से ग्रस्त है। प्रिया विद्रोह करना **'अफोर्ड'** कर सकती है और निजी स्तर पर वैकल्पिक राह भी बना सकती है, वह लोकाभिमत के दंश से ऊपर उठ सकती है और सिर्फ अपनी प्रज्ञा का साक्ष्य उसके लिए पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि वह आर्थिक रूप से स्वावलम्बी होती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना व्यापार फैला सकती है। यह भारतीय अभिजन समाज का सुरक्षित नारीवादी दृष्टिकोण है जिसे आज काफ़ी सराहा जा रहा है। पर 'छिन्नमस्ता' जैसे उपन्यासों में व्यक्तिगत धरातल पर नारी मुक्ति की जो पीड़ा, तलाश और समाधान दिखाई पड़ता है, वह सुरक्षित मार्ग एक 'युटोपिया' है आम भारतीय मध्यवर्गीय स्त्री के लिए।

कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि विगत आधी सदी के दौरान स्त्री-लेखन ने पुरुष प्रधान समाज की दृष्टि, बिम्ब, मिथक और मूल्यों-मान्यताओं के प्रस्तर-चौखटों को अनेकशः कोणों से लगातार तोड़ा है। स्त्रियों के रचना-संसार में उस स्त्री की उपस्थिति कई ढंग से दर्ज हुई है जो अपनी नियति के बारे में खुद, अपने ढंग से सोचती है, प्रश्न उठाती है, जूझती है और अपनी नियति के सामाजिक ढाँचे से जुड़े होने की समझ पैदा होने के साथ ही सामाजिक सरोकारों से लैस होने की दिशा में भी आगे कदम बढ़ाती है। कहीं-कहीं यह स्त्री विशिष्ट-सी लगती है, पर गुह्य कदापि नहीं। आज स्त्री रचनाकार समकालीन दबावों के बीच लिख रही है और हिन्दी में भी महिला लेखन की दुनिया में वह स्त्री पात्र, कम ही सही, पर दिखाई देने लगी है जो समकालीन दबावों के बीच जी रही है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान नारी-लेखन में स्त्री-मुक्ति की जनवादी चेतना के साथ ही सामाजिक सरोकारों से पैदा हुई जो ऊर्जस्विता मौजूद थी, वह स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद नारी की अस्मिता की इकहरी रूमानी खोज और व्यक्तिगत दुखदर्द के भावाकुलता में खो सी गयी थी। इस घटाटोप में बस कहीं-कहीं मित्रों और रत्ती के निर्भीक, उद्धत व्यक्तिगत विद्रोह के बेबाक स्वर थे। बीच के दो दशकों के संक्रमण के बाद नवें दशक तक परिदृश्य में कुछ अहम परिवर्तन आये। नारी मुक्ति चेतना का वैचारिक आधार इधर मज़बूत हुआ है और नारी लेखन की विभिन्न धाराओं-सरणियों के बीच ध्रुवीकरण भी तेज हुआ है। अभिजातवर्गीय सुरक्षित, व्यक्तिवादी नारी विद्रोह के स्वरों के साथ ही आम निम्नवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय स्त्री की मुक्ति की चिन्ताकुलता गहरे सामाजिक सरोकार के साथ प्रकट हुई है और व्यापक सन्दर्भों में नारी की सामाजिक स्थिति की विडम्बनाओं-त्रासदियों के नियामक कारकों को देखे जाने की भी शुरुआत हुई है।

फिर भी यदि आज की दुनिया के व्यापक सन्दर्भों में देखें तो असंतोष और

चिन्ता के भी बहुतेरे मुद्दे हैं। यूँ कहें कि ये सर्वाधिक अहम् और बुनियादी सवाल है। नारी की नियति आज महज पुरानी यथास्थितिवादी शक्तियों द्वारा पोषित पुरुष स्वामित्ववाद से ही नहीं, बल्कि विश्वस्तर पर प्रतिगामी शक्तियों के साम्राज्यवादी सत्ता केन्द्रों द्वारा भी, पहले हमेशा से अधिक खुले और सूक्ष्म रूप में निर्धारित हो रही है। यह भू-मण्डलीकरण-कुचक्र और बाज़ार संस्कृति एवं तथाकथित संचार क्रान्ति के दौर का सच है - आर्थिक-राजनीतिक दायरे का सच भी है और सामाजिक-सांस्कृतिक दायरे का भी।

समकालीन स्त्री-लेखन में इस नये साजिशाने सच की इन्दराजी अभी सही रूप में हो नहीं पा रही है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में हमारी अपनी जातीय अस्मिता की पहचान और जनवाद की माँग के साथ-साथ नारी मुक्ति चेतना निर्मित हुई थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की आधी सदी का कालखण्ड विश्व पूँजीवादी तंत्र की चौहद्दी के भीतर रुग्ण, विकलांग पूँजीवाद के मंथर विकास का यंत्रणावादी दौर रहा है जिसने भारतीय स्त्री की परम्परागत सामन्ती गुलामी के ऊपर मुद्रा संस्कृति के नये दोहरे दबाव लाद दिये हैं और पूँजीवादी 'एलियनेशन' की त्रासदी आरोपित कर दी है। पिछले डेढ़ दशक के बाज़ारीकरण के दौर ने पूँजी की नग्न-निरंकुश सत्ता और बाज़ार संस्कृति के उन विकृत रूपों से भारतीय नारी को परिचित कराया है जिसने लातिन अमेरिका की स्त्रियाँ और उत्पीड़ित वर्ग पहले से ही परिचित थे।

अब भारत में भी नारी आन्दोलन और नारी लेखन नई ऊर्जस्विता और संवेग सत्ता, संस्कृति और समाज के इस नये ढाँचे की समझ और इसके विरुद्ध सक्रियता से ही अर्जित कर सकता है। ठीक उसी प्रकार, जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में हुआ था।

जून, 1986 में **ओस्लों** में आयोजित द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय नारी मुक्ति मेले में **स्वीडन** में प्रवासी तंजानिया की कवि उपन्यासकार **एवरलीन** ने अपने आलेख में यह प्रश्न उठाया था कि 'तीसरी दुनिया के औरत के स्वामी कौन?' भारत की लगभग 50 करोड़ स्त्री आबादी की सांस्कृतिक, प्रतिनिधियों, प्रवक्ताओं के सामने भी आज यह प्रश्न एकदम खुले तौर पर है। स्त्री-रचनाकारों को इस प्रश्न का सामना करना है और इसका उत्तर देना है।

ईरान और **फिलीस्तीन** तथा **अफ्रीका** और **लातिन अमेरिका** की लेखिकाएँ और कवयित्रियाँ अपने देशों में सत्तातंत्र के विरुद्ध जनसंघर्षों का दायित्ववहन करती हुई जिस प्रकार स्त्री की सामाजिक पहचान, पृथक और मुक्ति के प्रश्न को व्यापक सन्दर्भों में उठाती रही हैं वह हमारे प्रेरणा का स्रोत हो सकता है, क्योंकि आज के समय का एक सकारात्मक पहलू कि भारतीय स्त्रियाँ भी घर की देहरी लाँघकर सामाजिक संघर्षों में सक्रिय भागीदारी के लिए पहले से अधिक मुक्त हो चुकी हैं।

फिलिस्तीन की स्त्री कहानीकार, उपन्यासकार, कवि **लायना बड** ने पहचान की

व्याख्या के सन्दर्भ में ओस्लो के उपरोक्त आयोजन के दौरान कि इसके लिए हम कभी-कभी बहुत भारी काम कन्धों पर उठा लेती हैं शताब्दी की अपने प्रति जागरूक औरतें हैं और इसी चेतना से हमने जूझने की शक्ति पाई हैं, लेकिन जब हम इस शक्ति के स्रोतों पर विचार किये बिना काम करती हैं तो कभी-कभी आत्म विनाश की हद तक जा पहुँचती हैं। तीसरी दुनिया की औरतों की यह त्रासदी है कि वे अनेक विषयों पर बातें तो कर सकती हैं अपने बारे में नहीं बोलतीं। अगर एक प्रेम कविता भी प्रकाशित हो जाती तो पूछने लगते हैं - क्या यह सच है? मूल रूप से रूढ़ समाजों में कोई महिला अपना निजत्व कायम नहीं रख पाती। जीवित रहने की यह परिस्थितियाँ, राजनीतिक, प्रतिबद्धता और साहित्यिक रचना कर्म ही हैं जहाँ औरतों को आत्माभिव्यक्ति की थोड़ी-बहुत गुंजाइश मिल पाती है।

ओस्लो अन्तर्राष्ट्रीय नारी-मुक्तिवादी पुस्तक मेले (1986) में भाग लेने तुर्की की लेखिका **एदोलेते एगाउगलू** का भी कहना था कि वे एक स्त्री दर्जे की सामाजिक स्थिति के ख़िलाफ़ रचनात्मक रूप से जितनी सक्रियता ही मानवाधिकारों के हनन, नस्लवाद और आर्थिक शोषण आदि के भी... हैं। सामाजिक सम्बन्धों के अन्वेषण द्वारा अपनी निजता की तलाश और उसमें निर्धारित भूमिका की सामाजिक बुनावट स्वयं को अलग करने की शक्ति ने ही एदोलेत को अपने पात्रों में 'वास्तविक व्यक्ति' को उकेरने के लिए... बोधक्षम बनाया है।

शायद यही वह बिन्दु है जिसे हिन्दी में नारी लेखन की समस्याओं की दिशाओं पर सोचने का केन्द्र बनाना होगा। हिन्दी में महिला-लेखन को लेकर गनन गिल का जो घोर असन्तोष है ('इण्डिया टुडे' साहित्य वार्षिकी) उससे पूरी तरह सहमत न होते हुए भी उनके द्वारा उठाये गये कुछ मुद्दों पर बात करना ज़रूरी है। यह सही है कि स्त्री-प्रश्न को विविध पहलुओं से उठाते हुए उनके लेख में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और परिवार आदि तक ही केन्द्रित है। लगभग ऐसे ही मानो, राजनीतिक तंत्र और आर्थिक-सामाजिक संरचना तथा राजनीति से स्त्रियों की स्थिति का कोई रिश्ता ही न हो।

हालाँकि इसके सुनिश्चित ऐतिहासिक सामाजिक कारण हैं, पर यह एक सच है कि हिन्दी में नारी लेखन में न तो कोई **आशापूर्णा देवी** जैसा नाम ही है, न ही **सत्यवती, सुवर्ण** और **बकुल** जैसी विद्रोहिणी नायिकाएँ और न ही उनके सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिवेश का वैसा चित्रण। यही नहीं, यहाँ **कुर्रतुल ऐन हैदर** का क्लासिकी संस्पर्श और आधुनिक 'ट्रीटमेण्ट' का मेल भी नदारद है। वर्तमान की बात करें तो कहा जा सकता है कि **महाश्वेता देवी** जैसी एक भी लेखिका नहीं जो **'रुदाल'** जैसी कहानियाँ लिखने के साथ ही अपने समय के राजनीतिक आन्दोलनों और आदिवासियों की ज़िन्दगी पर भी उतनी ही आधिकारिकता के साथ लिख सकती हो। यह महज संयोग नहीं है कि मध्यवर्ग की स्त्रियों की स्थिति के आधिकारिक चित्रण

के समानान्तर हिन्दी में स्त्री-लेखन के दायरे में मेहनतकश वर्गों को स्त्रियों की यहाँ-वहाँ महज उपस्थिति भर ही दिखाई देती है। होरी की पत्नी-धनिया, बहू झुनिया और अछूत स्त्री सिलिया आदि की बाद की पीढ़ियाँ लगभग अनुपस्थित हैं।

गगन गिल ने ठीक ही लिखा है कि "......जिस सख़्ती (और सफाई से) हमारे पारिवारिक तंत्र ने महिला लेखन को पिछले चालीस वर्षों में कुण्ठित किया, यह स्वतंत्रतापूर्ण की महिला रचनाकारों ने शायद सोचा भी न होगा।"

वे आगे लिखती हैं; "दुर्भाग्यपूर्ण यह भी है कि हमारे वहाँ 'महिला' लेखकों ने स्वयं भी कोई बड़े जोखिम नहीं उठाये, न बीहड़ यात्राएँ की, न अनजाने अनुभवों के समक्ष प्रस्तुत हुईं, न अपनी विशाल साहित्यिक सम्पदा का ही ठीक से अध्ययन किया। क्या कारण है कि आज़ादी के बाद हमारे यहाँ एक भी महिला या पुरुष महाश्वेता देवी जैसा नहीं हुआ जो आदिवासियों की कथा लिख सके? इरावती कर्वे जैसी विदुषी नहीं हुई जो एक नया पौराणिक-ऐतिहासिक चिन्तन दे सके? हमारी अधिकांश महिलाएँ 'काउच' लेखन करती रहीं।

न स्त्रियों की दुनिया, न ही उनका साहित्य अपने समय के दबावों से अछूता रह सकता है। समय का यह दबाव सचेतन तौर पर रचना में दर्ज हो और विश्लेषित हो इसके लिए अपने समाज की संरचना, राजनीति के स्वरूप, आर्थिक तंत्र, इतिहास और संस्कृति को समझने का उदयम करना होगा। साथ ही, स्पष्ट वर्गीय पक्षधरता के साथ, किसी न किसी रूप में युगीन संघर्षों में भी भागीदारी करनी होगी जैसा कि अपने समय में **कमला देवी चौधरानी** और **सुभद्रा कुमारी चौहान** जैसी लेखिकाओं ने किया था और जैसा आज भी अफ्रीका, लातिन अमेरिका के देशों तथा तुर्की और ईरान आदि देशों में कई लेखिकाएँ कर रही हैं।

मुक्तिबोध की ये पंक्तियाँ हिन्दी की स्त्री रचनाकारों के लिए भी आज नये सिरे से प्रासंगिक हो उठी हैं :

"अब अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब"।

*('उत्तर प्रदेश', साहित्य वार्षिकी, 1997 अंक-2,
वर्ष 26, जून, 1997 में प्रकाशित)*

हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री

परिचर्चा का जो विषय है, वह स्वयं इस सच्चाई की सामान्य स्वीकार्यता को दर्शाता है कि हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री आज उपस्थित है। कल तक, अभी कुछ ही दशकों पहले तक, हिन्दी पत्रकारिता की दुनिया में उसकी छायाएँ, प्रतिछवियाँ, अनुगूँज़े और प्रतिध्वनियाँ मौजूद थीं। उसकी छायाएँ जिस प्रकाश स्रोत से निर्मित हो रही थीं, उनका स्थान ओर कोण तय करना स्त्री का काम नहीं था। उसकी आवाज़ों की प्रतिध्वनियाँ पुरुष समाज की पथरीली घाटियों के पुरुष प्रघातों से उत्पन्न होती थीं और उसकी प्रतिछवियाँ पौरुष-परशु से काट-छाँटकर तैयार की जाती थीं। स्त्री प्रश्न पर जारी विमर्श में वह स्वयं लगभग अनुपस्थित थी। आज इस विमर्श में स्त्री स्वयं शामिल है। हिन्दी पत्रकारिता के परिदृश्य पर स्त्री आज स्वयं उपस्थित है - एक वस्तु और पण्य वस्तु के रूप में भी और इस पूरी स्थिति का प्रतिवाद करने वाली एक शक्ति के रूप में भी। वर्तमान हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री की उपस्थिति के इन दोनों पक्षों पर चर्चा ही इस सन्दर्भ में स्त्री - विमर्श की सार्थकता है।

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के दौरान भी, खासकर दूसरे दशक से पाँचवे दशक तक के कालखण्ड में, हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में स्त्री की उपस्थिति (आज की अपेक्षा अति सीमित रूप से ही सही) नज़र आई थी, पर सामाजिक आन्दोलन का संवेग मध्यम पड़ते जाने के साथ ही एक बार फिर वह पार्श्व में ढकेल दी गयी। आज पत्रकारिता में स्त्री - विमर्श की जो अन्तर्वस्तु और प्रकृति है, उसके मुद्‌दे और भाषा, इतिहास के उस दौर से काफ़ी हद तक भिन्न है जब राष्ट्रीय मुक्ति और बुर्जुआ जनवाद का संघर्ष जारी था, स्वातंत्र्योत्तर काल के उस दौर से भी भिन्न है जब रुग्ण विकलांग बाधित पूँजीवादी विकास का सिलसिला तो जारी था पर आर्थिक नव उपनिवेशवाद का दौर अभी नहीं आया था। आज इस चर्चा का दिक्‌काल संदर्भ भिन्न है। जो नये प्रश्नों - परिघटनाओं से साक्षात्कार के लिए अतीत और परम्परा के भी नये सिरे से आविष्कार की माँग करता है।

हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री की प्रेक्षक ओर विषय - इन दोनों रूपों में उपस्थिति पर आज चर्चा ज़रूरी है और यह चर्चा शुरू हो चुकी है, पर कुछ सावधानियाँ ज़रूरी हैं। जो सत्ता केन्द्र और जो प्रतिगामी शक्तियाँ किसी नये मुद्दे पर जारी नये विमर्श को अपने लिए ख़तरनाक मानते हुए भी उसे रोक नहीं पातीं, वे बड़ी सफाई और कुटिलता

से विमर्श का एजेण्डा और भाषा तय करने लगती हैं और इस तरह मुद्दे को ही 'हाइजैक' कर लेती हैं। स्त्री-प्रश्न पर जारी नये विमर्श का एजेण्डा भी आज पत्र पत्रिकाओं में समाज की वर्तमान पुरुषवर्चस्ववादी संरचना और बाजार की ज़रूरतों के हिसाब से तय किया जा रहा है और बदला जा रहा है। हिन्दी के अधिकांश क्षेत्रीय दैनिक अख़बारों तक में स्त्रियों के स्तम्भ नियमित हो गये हैं, जिनमें अब पाककला, प्रसाधनकला, गृहकार्य और शिशुपालन के अतिरिक्त दहेज, उत्पीड़न, बलात्कार, नारी भ्रूण हत्या, गर्भ-निरोध, नौकरीशुदा स्त्री की समस्याओं आदि पर भी कुछ न कुछ सामग्री ज़रूर रहती है, भले ही वह नितान्त सतही और रस्मी हो। बहुधा यह सामग्री आज नारी प्रश्न से चिन्तित होकर परोसी जा रही है जो व्यवस्था के नये दलालों से नारी समुदाय के बीच पैदा हुई चिन्ताओं से निर्मित हुआ है। यही कारण है कि स्त्रियों की कथित समस्याओं पर आज जहाँ एक ओर घनघोर अकादमिक वाक्छल रचा जा रहा है। वहीं दूसरी ओर अखबारों के नियमित स्तम्भों के अन्तर्गत रस्मी परिचर्चाओं, सतही विश्लेषणों ओर पिष्टपेषणों की भरमार है। क्षेत्रीय अख़बारों के पन्नों तक ऐसी-ऐसी अग्निमुखी 'युवा तुर्किन' स्तम्भकारों का आविर्भाव हुआ है जो पुरुष वर्चस्ववाद के ख़िलाफ़ 'जख़्मी औरत' और 'बैण्डिट क्वीन" की प्रतिशोधी आवेशपूर्ण भाषा में बोलती हैं, पर पूरी स्त्री जाति की सामाजिक आत्मिक मुक्ति के प्रश्न की न तो कोई वैज्ञानिक ऐतिहासिक समझ है और न ही जिनके पास कोई व्यावहारिक कार्यक्रम है। वस्तुतः अधिकांशतः, ये महिला स्तम्भकार महानगरीय अभिजन समाज की चौहद्दी के बाहर रहने वाली 70 फीसदी ग्रामीण और शहरी कामगार आबादी की स्त्रियों की ज़िन्दगी और यहाँ तक कि निम्नमध्यवर्ग की कामकाजी ओर घरेलू औरतों की ज़िन्दगी से भी उतनी ही दूर हैं जितना न्यूर्याक से नियामतचक गाँव।

कई हिन्दी अखबारों के रविवारीय परिशिष्टों के अतिरिक्त आजकल हफ्ते में एक दिन एक पूरा पन्ना स्त्रियों पर देने का चलन है, जिसके अन्तर्गत फैशन, पाककला, और सुखी दाम्पत्य के नुस्खों के साथ ही आज की औरत की ज़िन्दगी की कठिन समस्याओं पर भी कुछ सामग्री ज़रूर रहती है। ऐसे लेखों में विषय एक ठण्डे, तराशे हुए सजावटी समान की तरह पेश किये जाते हैं जो ज़िन्दगी में तपते हुए लौह पिण्ड और खौलते हुए लावे के समान मौजूद हैं। मैं पहले भी बार-बार ज़ोर देकर कहती रही हूँ कि ये सभी उद्यम नारी समस्या के "सौन्दर्यीकरण" की कुचेष्टाएँ हैं। **वाल्टर बेंजामिन** ने कहीं कहा था कि जर्मन नात्सीवाद के पीछे जो सबसे ख़तरनाक पक्ष था, वह था राजनीति का सौन्दर्यीकरण *'एस्थिटिसाइजेशन ऑफ पालिटिक्स'*।

ऐसा ही कुछ है नारी प्रश्न का सौन्दर्यीकरण भी, जो निठल्ली, कार्यक्रम विहीन बौद्धिक बहसों में भी हो रहा है और दैनिक साप्ताहिक पत्रों के पन्ने पर भी। यह एक ख़तरनाक प्रवृत्ति है जिसका हमें सीधे-सीधे विरोध करना होगा।

इस संक्षिप्त सैद्धान्तिक चर्चा के बाद कुछ ठोस व्यावहारिक और स्वानुभूत यथार्थ

की भी चर्चा करनी चाहूँगी।

एक सांस्कृतिककर्मी, एक सामाजिक राजनीतिक कर्मी, और एक नारी संगठनकर्मी के रूप में देश के एक सर्वाधिक पिछड़े इलाके पूर्वी उत्तर-प्रदेश के कस्बे-देहातों में काम करते रहने के अठारह वर्षों के दौरान, और स्वयं एक पत्रकार के रूप में भी अपने दस वर्षों के अनुभवों के दौरान हिन्दी अखबारों के चरित्र और व्यवहार के कुछ ऐसे पहलुओं से साक्षात्कार के मेरे भी ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव रहे हैं, जिनका, मैं समझती हूँ, पूरे हिन्दी पत्रकारिता जगत के स्तर पर सामान्यीकरण किया जा सकता है। यहाँ मैं चन्द एक प्रातिनिधिक घटनाओं की चर्चा ज़रूरी समझती हूँ

1981 में आजमगढ़ - गाजीपुर का दौरा कर रही थी एक सांस्कृतिक टोली में मैं भी शामिल थी। दो और महिला साथी भी थीं। एहतियात के तौर पर हम लोगों ने जिला प्रशासन से औपचारिक अनुमति भी ले रखी थी, पर एक दिन गाजीपुर जिले के एक गाँव में रात को नौ बजे नाटक शुरू होने के ठीक पहले सम्बन्धित थाने का दरोगा दल-बल सहित पहुँचकर गाली-गलौच करने लगा। उसने बताया कि यह संदिग्ध आतंकवादियों की टोली है, इसलिए प्रशासन ने अपनी अनुमति रद्द कर दी है और फौरन इलाका छोड़ देने को कहा है। हम लोगों के द्वारा यह सब कुछ लिखित माँगने पर वह पुरुष साथियों को एनकाउण्टर की और महिलाओं को थाने में बन्द करके सबक सिखाने की धमकी देने लगा। बहरहाल दौरा रद्द करके हम लोगों ने इसे जनतांत्रिक अधिकार का मुद्दा बनाकर आन्दोलन शुरू किया और पूर्वी उ. प्र. के लगभग सभी छोटे-बड़े अख़बारों से सम्पर्क किया लेकिन किसी ने भी इस घटना के बारे में कुछ नहीं छापा। फिर जब राजधानी दिल्ली और कुछ अन्य बड़े शहरों के सांस्कृतिककर्मियों - साहित्यकारों के बयान आये और उनके हस्ताक्षर अभियान की खबरें आईं, तब जाकर उक्त दरोगा के विरुद्ध कार्रवाई हुई।

प्रगतिशील सांस्कृतिककर्मियों के प्रति और विशेषकर महिला सामाजिक-सांस्कृतिक एक्टिविस्टों के प्रति सत्ता के पुलिसिया पहुरुओं के साथ ही क्षेत्रीय अखबारों के रुख और रवैया का यह पहला कटु अनुभव था। जहाँ तक मुझे याद है, इसके कुछ ही वर्षों बाद, बस्ती जिले में 'इप्टा' की कुछ महिला कर्मियों पर पुलिस प्रशासन की मिलीभगत से असमाजिक तत्वों ने हमले किये थे, जिस घटना के प्रति स्थानीय अखबारों ने या तो पूरी तरह चुप्पी साध ली या फिर ऐसी तथाकथित आज़ाद औरतों की भर्त्सना और चरित्र हनन का ही रुख अपनाया।

सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय स्त्रियों के प्रति क्षेत्रीय अखबारों का विशेष तौर पर पिछले दस वर्षों के दौरान बड़े पैमाने पर विभिन्न चिटफण्ड कम्पनियों और उदारीकरण के माहौल में कुकुरमुत्तों की तरह पनपे नवधनाढ्य व्यापारियों द्वारा शुरू किये गये क्षेत्रीय अखबारों का रवैया क्या है, उसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण हम लोगों के साथ अभी दो वर्षों पहले ही घटी वह घटना है, जिससे आप सभी शायद परिचित

हों।

राहुल सांकृत्यायन शताब्दी वर्ष के दौरान पूरी तैयारी के बाद सामाजिक सांस्कृतिक संगठनों की संयुक्त पहल पर प्रगतिशील साहित्य के प्रकाशन-मुद्रण प्रचार-प्रसार आदि के लिए एक संस्था स्थापित की गई। उद्यम में शामिल महिला सांस्कृतिक कर्मियों पर नितान्त घटिया, अश्लील आरोप लगाते हुए लखनऊ-गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले एक अख़बार ने एक पूरी लेखमाला लिखी जिसमें सभी ऐसी स्त्रियों को बदचलन और "प्रगतिशीलों की मादाओं" की संज्ञा दी गई थी। हम लोगों का विरोध किसी भी क्षेत्रीय पत्र ने नहीं छापा। फिर हम लोगों ने पूरे शहर में नुक्कड़ सभाएँ शुरू कर दी तो बौखलाकर उक्त अखबार गाली-गलौज पर उतर आया। अन्ततः मैं उक्त अख़बार के लखनऊ कार्यालय पर आमरण अनशन पर बैठ गई और मेरे साथ अन्य साथी भी धरने पर बैठे। पुलिस के सामने उक्त अखबार के 150 से भी अधिक गुण्डों की भीड़ ने हम लोगों के तम्बू पर आग लगा दी सभी सामान लूट लिया और लोहे के सरियों से हम लोगों पर हमले किये जिसमें ग्यारह महिलायें और अन्य सभी पुरुष साथी जख्मी हुए। फिर हम लोगों पर ही डकैती और बलवे के मुकदमें कायम करके पुलिस ने जेल में ले जाकर बन्द कर दिया। जब जेल में हम सभी ने आमरण अनशन शुरू कर दिया, लखनऊ के सभी सांस्कृतिककर्मियों, लेखकों ने विरोध प्रदर्शन किये, देशभर से लेखकों, पत्रकारों ने तत्कालीन मुख्यमंत्री को विरोध के टेलीग्राम भेजे, लखनऊ और दिल्ली के पत्रों में खबरें छपी और एडिटर्स गिल्ड का बयान आया तब जाकर तीन दिनों बाद सभी मुकदमें उठाये गये, हम लोग जेल से छूटे और एक जाँच कमेटी बैठाई गई जिसकी रिपोर्ट आज तक दबी पड़ी है। मैं इसे अपराध, सत्ता और मीडिया के एक सशक्त धड़े के गठजोड़ का प्रतिनिधि उदाहरण मानती हूँ। चिन्ता की बात यह है कि यह प्रवृत्ति बाजार-संस्कृति के इस दौर में दिन पर दिन मजबूत हो और ज़्यादा से ज़्यादा निरंकुश होती जा रही है।

मेहनतकश तबके की स्त्रियों के प्रति अधिकांश क्षेत्रीय अखबारों का क्या रवैया है, इसे आये दिन उत्तरप्रदेश में विशेषकर दलित स्त्रियों को निर्वस्त्र करके घुमाये जाने की घटनाओं और बलात्कार तथा अन्य नारी-विरोधी अपराधों की रिपोर्टिंग की भाषा को आसानी से जाना जा सकता है। ऐसी रिपोर्टों में, ऐसी घटनाओं के लिए सम्बन्धित स्त्रियों को ही दोषी ठहराने की, उन्हें चरित्रहीन साबित करने की तथा खबरों को चटपटा मसालेदार बनाने की आम प्रवृत्ति दिखाई देती है। ज़्यादातर पाया जाता है कि 'लड़की भगाई गई' तथा 'गलत स्थिति में रंगे हाथों पकड़े गये' टाइप खबरों की वास्तविकता ही कुछ और होती है ऐसी सभी माामलों में क्षेत्रीय अखबार या तो पुलिस थानों का बयान छापते हैं या प्रायः स्थानीय प्रशासन-पुलिस-नेताओं की चाकरी बजाने वाले कस्बाई संवाददाताओं की अपनी यौन रसभोगी कल्पना की उड़ान। नारी उत्पीड़न की ज़्यादातर ख़बरों की प्रस्तुति इस रूप में की जाती है मानो वह स्त्री

ही इसके लिए जिम्मेदार हो या कुछ ऐसी बात कि वह स्त्री ही बदचलन थी।

प्रेमियों के साथ, तथाकथित भागने की घटनाओं को पूरी तरह नारीद्रोही, पुरुषवर्चस्वादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाता है। दहेज-उत्पीड़न या हत्या की ज़्यादातर घटनाओं को तो छपने ही नहीं दिया जाता। आत्महत्या करने वाली स्त्रियों के बारे में कारणों के अनुमान के नाम पर हवाई, मसालेदार कल्पना की उड़ानें छापी जाती हैं और तरह-तरह के किस्से उछाले जाते हैं। क्षेत्रीय अखबारों के सिटी डेस्क पर बक़ायदा यह तक बताया जाता है कि बलात्कार की खबरों को किस तरह दिलचस्प बनाकर और महत्वपूर्ण स्थान देकर छापा जाये।

आज से कुछ वर्षों पहले गोरखपुर के एक निकटवर्ती गाँव में एक दलित स्त्री कमली को कुछ प्रभावशाली लोगों ने निर्वस्त्र करके दो घण्टे तक स्थानीय बाजार में घुमाया। एक स्थानीय माफिया नेता के आतंक के कारण स्थानीय अखबारों ने इस घटना का एकदम ब्लैक आउट कर दिया। मैंने वहाँ जाकर पूरी जानकारी लेकर इस घटना की लखनऊ के एक अखबार में विस्तृत रिपोर्टिंग की तो मुझे भी काफ़ी धमकियाँ दी गयी, और कुछ स्थानीय पत्रों ने उस स्त्री को चरित्रहीन बताया और कुछ अन्य ने इस घटना को मनगढ़न्त बताया।

एक ताजा घटना अभी एक महीना पहले की है। गोरखपुर के एक धनी व्यापारी परिवार के नर्सिंग होम में गाँव एक एक महिला के साथ, जिसका आपरेशन हुआ था, मरहम पट्टी के समय कम्पाउण्डर ने बलात्कार किया। नगर के प्रभावशाली लोगों की कोशिशों के बावजूद उस महिला के परिवारवालों का मुँह बन्द नहीं किया जा सका, और दो अख़बारों में यह खबर आने के बाद मुकदमा दर्ज हो गया। तब एक तीसरे अखबार ने यह खबर उछाली कि वह महिला चरित्रहीन थी, और उसके श्वसुर से उसके अवैध सम्बन्ध थे।

उस महिला के पूरे परिवार ने प्रेस को बुलाकर अपना पक्ष रखा। उस पत्रकार वार्ता में उक्त अखबार के संवाददाता ने सम्बन्धित महिला से ऐसे-ऐसे अश्लील बेहूदे प्रश्न पूछे जो किसी भी स्त्री का खून खौला देते। धीरे-धीरे पैसे के ज़ोर से सारा मामला दबा दिया गया। उस समय मैं अपनी सांस्कृतिक टोली के साथ एक पखवाड़ा के लिए एक प्रचार अभियान पर निकली थी। खबर मिलते ही बरेली से हम लोग वापस आ लौटे। तब स्थानीय अखबारों का रुख एकदम बदल चुका था। सभी चुप्पी साधे थे। बाध्य होकर हम लोगों ने मुहल्ले-मुहल्ले में सभाएँ करके, पर्चे बाँटकर आन्दोलन की तैयारी शुरू की और स्त्रियों द्वारा घेराव-धरने की नोटिस दीं तब जाकर प्रशासन ने कार्यवाही की। अभी दो सप्ताह पूर्व नर्सिंग होम के मालिक सहित सभी अपराधियों की गिरफ्तारी और जमानत हुई है तथा चार्जशीट दाखिल हुई है। ऐसी एक नहीं कई घटनाएँ हम लोगों के प्रत्यक्ष अनुभव की रही हैं, जब स्त्रियों से सम्बन्धित मुद्दों को उठाते हुए न सिर्फ़ स्थानीय प्रभावशाली लोगों का बल्कि क्षेत्रीय अखबारों का भी

कोपभोजन होना पड़ा है।

लेकिन इस पूरी तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है। जहाँ कहीं भी समाज में आन्दोलनात्मक सक्रियता का माहौल पैदा हुआ है और स्त्रियों में एक नई संघर्ष-चेतना का संचार हुआ है, उसकी एक वास्तविक तस्वीर भी आज बहुतेरे क्षेत्रीय अखबारों के माध्यम से ही सामने आ रही है। उत्तराखण्ड आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी की खबरें पिछले दिनों बड़े पैमाने पर बरेली और उत्तराखण्ड से प्रकाशित होने वाले छोटे-छोटे अखबारों में सकारात्मक रूप से आती रही हैं। पिथोरागढ़ जिले के खेतीखान और धूनाघाट नामक स्थानों पर स्त्रियाँ पिछले तीन महीनों से शराब की दुकानों के आगे लगातार धरना का कार्यक्रम चला रही हैं। जिसकी खबरें वहाँ के स्थानीय अखबारों में लगातार आ रही है। शराब माफिया के विरुद्ध यह आन्दोलन धीरे-धीरे पूरे उत्तराखण्ड में फैलता जा रहा है, जिससे आम घरों की स्त्रियों की अग्रणी भूमिका है। ये खबरें स्थानीय-क्षेत्रीय हिन्दी अखबारों में लगातार आ रही हैं, पर राष्ट्रीय अखबारों के लिए इनमे शायद उतनी न्यूज वैल्यू नज़र नहीं आती है। यह वास्तव में दृष्टिकोण का सवाल है।

हिन्दी पत्रकारिता की दुनिया में आज स्त्री की उपस्थिति पहले से अधिक मुखर और प्रकट है, पर उसकी उपस्थिति सामाजिक जीवन में स्त्री की बढ़ती उपस्थिति के जीवंत यथार्थ की अपेक्षा बहुत कम है। आइसबर्ग के ऊपर दिखाई देने वाले छोटे से हिस्से के समान। उपभोक्ता संस्कृति और बाज़ार उपनिवेशवाद के इस नये दौर में आम भारतीय स्त्री की जो सामाजिक भूमिका है, जो बन रही है और जो होनी चाहिये, उसकी इन्दराजी अभी सही रूप में हिन्दी पत्रकारिता में नहीं हो पा रही है। नारी-विरोध, पुरुष स्वामित्ववादी प्रवृत्तियों का, स्त्री के वस्तुकरण और पण्यकरण की प्रवृत्तियों के प्रभुत्व का पहलू ही प्रधान है। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दोनों स्तरों की हिन्दी पत्रकारिता में इसकी विरोधी प्रवृत्ति भी मौजूद हैं और विकासमान है, पर अभी वह काफ़ी कमज़ोर है और वर्तमान सामाजिक ढाँचे और ऐतिहासिक दौर को देखते हुए यह कोई अप्रत्याशित बात नहीं लगती।

राष्ट्रीय और क्षेत्रीय अखबारों के पूरे चरित्र को देखते हुए हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि हिन्दी पत्रकारिता की दुनिया में स्त्रियों की स्थिति के संदर्भ में कायम वर्तमान स्थिति के प्रतिरोध को एक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में संगठित करना ज़रूरी है, हालाँकि आज यह काफ़ी कठिन भी है। इसके लिए हिन्दी पत्रकारिता की मुख्य धारा में अपने हस्तक्षेप की ज़्यादा से ज़्यादा प्रभावी बनाने की कोशिशों के साथ ही, उससे अलग पूरी तरह से जन संसाधनों के आधार पर समान्तर मीडिया का ताना-बाना भी खड़ा करना बेहद ज़रूरी है। ये प्रयास हो भी रहे हैं एक हद तक हिन्दी से भी अधिक कुछ अन्य भाषाओं में हम लोग भी विगत पाँच वर्षो से इस दिशा में प्रयासरत हैं। बिना किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान या सरकारी वालण्टरी एजेंसी के

सहयोग के बिना विज्ञापन या पेपर कोटा आदि की मदद लिये हम लोग जन सहयोग से दो अखबार (छात्रों का एक पाक्षिक व मज़दूरों का एक मासिक, जो पाक्षिक और फिर साप्ताहिक बनाने की योजना है) छाप रहे हैं और स्वयं टोलियाँ बनाकर सड़कों - चौराहों पर, ट्रेनों, बसों में बेचते हैं। इन अखबारों में नारी प्रश्न पर हम लगातार सामग्री देते और रिपोर्ट छापते हैं। आगे चलकर स्त्रियों का एक ऐसा ही स्वतंत्र अखबार निकालने की भी योजना है। अब तक के अनुभवों से हम निराश कतई नहीं हैं। ऐसे प्रयोग भाविष्य में बड़े पैमाने पर होंगे, यह हमारा विश्वास है। केवल तभी हिन्दी पत्रकारिता की दुनिया में आम औरत की पीड़ा-व्यथा संघर्षों और सपनों की सही इन्दाराजी हो सकेगी।

('विकल्प', 2 जून , 1997 में प्रकाशित)

हिन्दी कविता में नारी-विमर्श

स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता, वैयक्तिकता और स्वतंत्र पहचान के प्रश्न और पुरुष वर्चस्वाद विरोध के साथ-साथ स्त्री-मुक्ति की विविध परियोजनाओं पर चर्चा आज नारी-विमर्श के केन्द्र में है।

गुजरी हुई शताब्दी पर यदि एक पश्चदृष्टि डाली जाये तो ऐसा लगता है कि नवें दशक में हिन्दी कविता के एक ऐसे नये दौर की शुरुआत हुई जब हिन्दी कविता के प्रदेश के एक अच्छे-खासे भूभाग पर नारी-विमर्श ने अपना अधिपत्य स्थापित किया। स्त्री आज अपने अन्तर्जगत और बहिर्जगत के विविध अहम और गौण प्रश्नों के साथ हिन्दी कविता में उपस्थित है - महज प्रेम या कृपा या सहानुभूति के पात्र के रूप में ही नहीं, बल्कि अपनी तेजस्क्रिय अस्मिता के साथ, जलते प्रश्न चिह्नों के साथ। यह नई भारतीय स्त्री का मुक्ति प्रसंग है जो समकालीन हिन्दी कविता की सभ्यता-समीक्षा को नये आयाम, सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य दे रहा है।

1874 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित प्रकाशित 'बाला बोधिनी' शायद वह पहली हिन्दी पत्रिका थी जिसने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए आवाज़ उठायी। 1909 में रामेश्वरी नेहरू के सम्पादन में प्रयाग से 'स्त्री-दपर्ण' पत्रिका प्रकाशन शुरू हुआ, जिसमें स्त्री-प्रश्न पर गाँधीवादी सुधारकों से लेकर सत्यभक्त, राधामोहन गोकुल जी और रमाशंकर अवस्थी आदि उग्र परिवर्तनवादी लेखकों के विचार नियमित प्रकाशित होते थे। अपने समय की सर्वाधिक उग्र और भारत की सम्भवतः पहली नारीवादी विचारक लेखिका उमा नेहरू 'स्त्री-दर्पण' की नियमित लेखिका थी। 'गृहलक्ष्मी,' 'आर्य महिला' और 'महिला सर्वस्व' ऐसी महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ थी जो स्त्रियों की आज़ादी और अधिकारों के प्रश्न को अहमियत दे रही थीं। दूसरे-तीसरे-चौथे दशक की कोई भी ऐसी हिन्दी साहित्यिक पत्रिका नहीं थी जो स्त्री जागरण और प्रबोधन की लहर से अप्रभावित हो। 'सरस्वती', 'प्रभा', 'प्रताप', 'अभ्युदय', 'मर्यादा', 'चाँद', 'सुधा', 'माधुरी', 'हंस', 'जागरण', 'स्वदेश', आदि में स्त्रियों के सामाजिक जीवन की समस्याओं और स्त्री-प्रश्न के सैद्धान्तिक पहलुओं पर नियमित लेख प्रकाशित होते थे और बहसें चलती थीं। इस पूरी सामग्री के अध्ययन के आधार पर स्वतंत्रता पूर्व काल के हिन्दी गद्य में नारी जागरण के प्रवाह को, सामान्यतः दो धाराओं

में बाँटा जा सकता है। एक धारा आर्यसमाज के सामाजिक आन्दोलन और गाँधीवादी विचार एवं गाँधी के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आन्दोलन से अनुप्राणित सुधारवादी धारा थी। दूसरी धारा उग्र परिवर्तनवादी थी जो यूरोपीय पूँजीवादी क्रान्तियों के स्वतंत्रता-समानता-भ्रातृत्व के नारे से, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से यूरोप में चल रहे नारी आन्दोलन और सोवियत क्रान्ति से, समाजवादी-साम्यवादी विचारों से तथा भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की क्रान्तिकारी एवं रैडिकल धारा से प्रभावित थी। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के एक प्रवर्तक नेता सत्यभक्त, साम्यवादी विचारों के प्रसिद्ध लेखक राधामोहन गोकुल जी, लेनिन के प्रथम जीवनीकार रमाशंकर अवस्थी, जात-पाँत तोड़क मण्डल के सन्तराम आदि के अतिरिक्त उमा नेहरू, हृदय मोहिनी, हुक्मा देवी, सत्यवती आदि प्रखर लेखिकाओं का स्त्री-प्रश्न विषयक लेखन उपरोक्त दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व करता था।

हिन्दी कथा-साहित्य में स्वतंत्रता-पूर्व-काल में नारी-विमर्श की नरमपन्थी सुधारवादी धारा ही हावी दीखती है। राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी के समर्थन के साथ-साथ परदा प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा आदि प्रश्नों पर सुधारवादी दृष्टिकोण वाली कहानियाँ और उपन्यास बड़े पैमाने पर लिखे गये, लेकिन स्त्री के स्वतंत्र अस्मिता और पुरुष वर्चस्ववादी सामाजिक संरचना एवं उससे जुड़े नैतिक-मूल्यगत, प्रश्नों की वैसी साहसिक प्रस्तुति का यहाँ सर्वथा अभाव था, जैसी, मिसाल के तौर पर, बाँगला साहित्य में शरत् के लेखन के रूप में सामने आया। फिर भी कहीं-कहीं स्वयं रचनाकार के विचारों का अतिक्रमण करते हुए स्त्री-प्रश्न का कोई-कोई ज्वलन्त पक्ष रचनाओं में प्रखर यथार्थवादी रूप में सामने आता रहा, जैसे कि प्रेमचन्द के उपन्यास निर्मला में। नारी-मुक्ति पर सर्वाधिक गम्भीर विमर्श प्रकारान्तर से प्रेमचन्द ने 'गोदान' में अभिजन समाज की पाश्चात्य नारीवादी विचारों से प्रभावित चरित्र मालती के बरक्स उत्पादक वर्गों से आने वाली, स्वावलम्बी, स्वतंत्र व्यक्तित्व और विद्रोही स्वभाव वाली धनिया, झुनिया और सिलिया जैसी पात्रों को खड़ा करके प्रस्तुत किया। प्रसंगान्तर से बचने के लिए हम इस चर्चा के विस्तार में नहीं जायेंगे। यूँ तो नैतिक-सामाजिक रूढ़ियों-संस्कारों का प्रतिषेध जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी जैसों के कथा-साहित्य में भी दीखता है लेकिन उसकी तार्किक परिणति फ्रायडीय मनोविश्लेषणवादी गुहा अन्तर्यात्रा के रूप में ही सामने आती है।

स्वतंत्रतापूर्व गद्य साहित्य में स्त्री-विमर्श की इस सामान्य चर्चा के बाद हम तत्कालीन हिन्दी कविता में स्त्री-विमर्श पर एक दृष्टि डालेंगे।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं में आदर्श भारतीय नारी की मध्ययुगीन रुढ़िबद्ध छवि, पवित्र, लोकोत्तर आध्यात्मिक प्रेम, आदर्श दाम्पत्य, समर्पित सेवामय पतिव्रत्य आदि के चित्र ही बहुलता में देखने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त विधवा स्त्री की दुरवस्था पर

आह-कराह के स्वर या स्त्री की जीवन-साथी या गृहस्वामिनी के रूप में सम्मान देने की सुधारवादी गुहार या वेश्या-उद्धार की अपीलें सुनायी देती है।। कुछ कविताओं में स्त्रियों की दुरवस्था का चित्रण यदि हुआ भी है तो समाधान के तौर पर अतीत के काल्पनिक भारतीय समाज के आदर्शों की पुनर्स्थापना का पुनरुत्थानवादी समाधान प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे दशक से हिन्दी कविता की छायावादी धारा ने स्त्री-विमर्श को एक नया आयाम और विस्तार दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा से प्रायः छायावाद का सादृश्य निरूपण किया जाता रहा है और यह एक हद सही भी है। यूरोप की, विशेषकर अंग्रेजी भाषा की स्वच्छन्दतावादी कविता बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बाद स्थापित पूँजीवादी समाज की विरूपताओं और मानवद्रोही मुद्रा-संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह की अभिव्यक्ति थी जिसकी दो धाराएँ थीं। एक धारा अतीत के "आदर्शों" में अपना शरण्य ढूँढ़ती थी जबकि दूसरी धारा भविष्योन्मुख थी। हिन्दी की छायावादी कविता भारत की मध्ययुगीन सामाजिक-आर्थिक संरचना को ध्वस्त करके आरोपित की गयी औपनिवेशिक संरचना और उसके सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के विविध स्वरों का एक बहुवर्णी समुच्चय थी। इसकी एक धारा वह थी जो वर्तमान का प्रतिषेध करते हुए अतीत को अपना शरण्य बनाती थी। कमोबेश प्रसाद को इसका प्रतिनिधि माना जा सकता है। दूसरी धारा वर्तमान की मार से विकल अन्तर्जगत और प्रकृति में पनाह ढूँढ़ने वाली थी, जिसके एक प्रतिनिधि कवि पन्त थे। हालाँकि पन्त की कविताई के अन्य रूप और रंग भी हैं जो कई जगह प्रगतिवाद के साथ घुले-मिले दीखते हैं। निराला की कविता वर्तमान से हठी ढंग से जूझते हुए विकसित होती है। उनके संघर्ष में कहीं-कहीं पराजय-बोध और अतीत में शरण्य ढूँढ़ने की प्रवृत्ति भी दीखती है, लेकिन उनकी कविता का मूल स्वर आम जन के जीवन और मानस से तादात्म्य स्थापित करते हुए भविष्य-संधान करने का है।

छायावाद के इन शिखर-कवियों का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण भी उनकी उपरोक्त प्रवृत्तियों के अनुरूप दीखता है। वैसे पूरी छायावादी काव्यधारा में प्रकृति के साथ स्त्री के प्रति प्रेम के जो रूप और अभिव्यक्तियाँ निरूपित हुई है; वे मध्ययुगीन समाज से आगे की विकासमान जनवादी चेतना को दर्शाती हैं। यह प्रेम रीतिकालीन शृंगार से सर्वथा विलग एक परिघटना है। स्त्री यहाँ महज भोग शृंगार का साधन नहीं है। सुकोमल-सुकुमार होते हुए भी उसका अपना एक व्यक्तित्व है।

मुक्तिबोध ने 'कामायनी' की व्याख्या प्रसाद जी द्वारा की गयी सम्यता-समीक्षा के रूप में की है, जहाँ मनु "प्रसाद जी की निगूढ़ अन्तर्वृत्रियों का प्रतिनिधि है", इड़ा "पूँजीवादी सम्यता की प्रतीक है" और श्रृद्धा उस "प्राक्तन प्राङ्मुख आदर्शवाद" की प्रतिनिधि है जिसका दृष्टिकोण रहस्यवादी है "जिसमें गहरी मध्ययुगीन सामन्ती छायाएँ पड़ी हुई हैं।" मुझे लगता है कि प्रसाद जी ने श्रद्धावादी दृष्टिकोण से अपने

समय, समाज और संस्कृति की जो समीक्षा प्रस्तुत की है, उसके साथ ही नारी-विमर्श की भी अतिव्याप्ति (ओवरलैपिंग) है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नारी-विमर्श भी प्रसाद जी ने अपनी जीवन-दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है।

इड़ा द्वारा प्रस्तुत जीवन-जगत की व्याख्या अपने अन्तिम निष्कर्षों में रहस्यवादी ही है और मुक्तिबोध की यह निष्पत्ति तर्कसंगत है कि वह पूँजीवादी समाज की मूल विचारधारा की प्रतीक है, लेकिन अपने तईं प्रसाद जी ने उसे बुद्धि या तर्कणा के प्रतीक-चरित्र के रूप में ही गढ़ा है, जबकि श्रद्धा का चरित्र-निर्माण उन्होंने श्रद्धा-तत्व के प्रतीक के रूप में किया है। श्रद्धावादी दृष्टिकोण से प्रसादजी ने जो सम्यता-समीक्षा प्रस्तुत की है उसका यदि नारी-विमर्श के परिक्षेत्र में विस्तार किया जाये तो कहा जा सकता है कि स्वतंत्र, तार्किक, बुद्धिवादी, महत्वकांक्षी चरित्र के बजाय घर गिरस्ती वाली त्यागी, सहिष्णु स्त्री की छवि ही प्रसाद जी के यूटोपिया से अंगांगिभाव से (ऑरगेनिक रूप से) सम्बद्ध है।

निराला का स्त्री-विमर्श इससे एक सर्वथा अलग जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करता है निर्णायक युद्ध से पूर्व राम द्वारा शक्ति की पूजा की इस स्थापना के रूप में भी तो देखा जा सकता है कि स्त्री-शक्ति को अपने पक्ष में सक्रिय किये बिना अन्याय पर या अन्यायी सत्ता पर विजय सुनिश्चित नहीं की जा सकती - ? 'वह तोड़ती पत्थर' कविता में श्रमिक स्त्री का चित्र उपस्थित करते हुए निराला ने न केवल एक नया जनवादी सौन्दर्यबोध विकसित किया बल्कि श्रमिक स्त्री-समुदाय की सुषुप्त विद्रोही शक्ति और सम्भावनाओं को भी लक्षित किया। इसी कविता की ये पँक्तियाँ ध्यान देने योग्य है :

'सामने अट्टालिका तरुमालिका प्राकार
गुरु हथौड़ा हाथ करती बार-बार प्रहार।'

छायावादी काव्य धारा की एक और प्रतिनिधि रचनाकार महादेवी की कविताओं में प्यार के सघन समर्पण भाव के साथ-साथ स्त्री-जीवन की पीड़ा और त्रासदियों को सघन अभिव्यक्ति मिली, लेकिन इस पीड़ा की भोक्ता स्त्री एकाकी, अन्तर्जगत में विचरण करती है। वह स्त्री जीवन की त्रासदियों के सामाजिक स्रोतों और पुरुष वर्चस्ववाद की सत्ता से अपरिचित प्राय प्रतीत होती है। बिना किसी शिकवा-शिकायत के उसने अपने दुखों को वरण किया है। यह अजीब सी बात है कि जिन महादेवी ने 'शृंखला की कड़ियाँ' के अपने निबन्धों में स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता, आर्थिक स्वावलम्बिता, सामाजिक हैसियत आदि स्त्री-मुक्ति प्रश्न के विविध पहलुओं पर भारतीय सन्दर्भों में शायद पहली बार इतने साँगोपाँग रूप में विचार किया, वही अपनी कविताओं में स्त्री जीवन की पीड़ाओं-त्रासदियों के मार्मिक चित्रण से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकी।

पहले यह चर्चा की जा चुकी है कि राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित अधिकांश हिन्दी कवियों के विचार स्त्री-प्रश्न पर प्रायः पुरातनपंथी थे। प्राचीन भारत की आदर्श नारी और परिवार के पितृसत्तात्मक ढाँचे को ही भावी आदर्श समाज के संघटक तत्वों के रूप में प्रायः प्रस्तुत किया जाता रहा। काफ़ी हद तक यह राष्ट्रीय काव्यधारा पर गाँधी के प्रभाव के भी कारण था जो सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों में स्त्रियों की हिस्सेदारी के समर्थक होते हुए भी इस बात के पक्षधर नहीं थे कि वे पढ़ लिखकर नौकरी या व्यवसाय करें। स्त्रियों के स्वतंत्र अस्मिता के प्रश्न का उनके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं था। सीता और सावित्री की वे आदर्श बताते थे और परिवार के पितृसत्तात्मक ढाँचे का आदर्शीकरण करते थे। राजनीति की ही तरह साहित्य के क्षेत्र में भी राष्ट्रीय जनवाद की विचारधारा की दुर्बलता ही इसके मूल में थी और इसका आधारभूत कारण यह था कि भारत में राष्ट्रवाद और जनवाद का जन्म औपनिवेशिक सामाजिक संरचना की कोख में हुआ था। यूरोप की तरह इसके पीछे धर्म-सुधार-पुनर्जागरण-प्रबोधन और पूँजीवादी-जनवादी क्रान्तियों की देदीप्यमान पूर्वपीठिका मौजूद नहीं थी

कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि मैथिली शरण गुप्त साकेत में उर्मिला के मौन, सहिष्णु त्याग को महिमा-मण्डित करते हैं। उनके एक अन्य खण्डकाव्य 'सिद्धराज' का केन्द्रीय चरित्र अपने पुरुष वर्चस्ववादी आततायी कार्यों के बाद, स्वयं मानो विधाता प्रदत्त दण्डस्वरूप पतन का शिकार होता है, लेकिन इसमें उसके अत्याचारों की शिकार नायिका की कोई सक्रिय भूमिका नहीं होती।

यह तथ्य अपने आप में काफ़ी विडम्बनापूर्ण प्रतीत होता है कि एक ओर जहाँ मार्क्सवादी विचारधारा अपने उद्‌भवकाल से ही स्त्री-उत्पीड़न और पुरुष आधिपत्यवादी सामाजिक मूल्यों-संस्थाओं के ऐतिहासिक विश्लेषण पर विशेष ज़ोर देती रही तथा इस बात पर ज़ोर देती रही कि मानव मुक्ति और स्त्री मुक्ति के प्रश्न अंगांगिभाव से परस्पर सम्बद्ध है, वहीं दूसरी ओर, चौथे-पाँचवे दशक की हिन्दी वाम प्रगतिशील काव्यधारा में स्त्री-विमर्श लगभग अनुपस्थित-सा दीखता है। कविता में श्रमिक स्त्रियों के जीवन-प्रसंगों की उपस्थिति और जनवादी सौन्दर्य-बोध के विकास के रूप में कुछ नयी प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती थीं लेकिन स्त्री-प्रश्न अपनी समग्रता में एजेण्डे पर नहीं आ सका - यह एक नंगी सच्चाई है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि प्रगतिशील साहित्यान्दोलन का वैचारिक आधार ही काफ़ी कमज़ोर था। दूसरा कारण उस समय कला-साहित्य के दायरे में हावी यान्त्रिक वर्ग अपचयनवाद (क्लास-रिडक्शनिज्म) की प्रवृत्ति भी मानी जा सकती है। मुझे लगता है कि एक तीसरा कारण भी था जो ऊपरी तौर पर महत्वपूर्ण न लगते हुए भी काफ़ी बुनियादी था। वह यह था कि मध्य वर्ग से आये जो कवि-साहित्यकार विचारों के धरातल पर श्रमिक मुक्ति और समाजवाद के लक्ष्यों के प्रतिबद्ध थे और सामाजिक जीवन में

ईमानदार से सक्रिय थे, उन्होंने भी अपने निजी जीवन में और पारिवारिक स्तर पर पुरुष अधिपत्यवादी परम्पराओं-रुढ़ियों से प्रायः विद्रोह नहीं किया था। परिवार संस्था के पुरुष स्वामित्ववादी ढाँचे, घरेलू कामों की कमरतोड़ गुलामी, विवाह के परम्परागत स्त्री उत्पीड़क स्वरूप के विरुद्ध न तो वैयक्तिक स्तर पर विद्रोह के प्रयास हुए, न ही कोई सामाजिक आन्दोलन। जिन आम मध्यवर्गीय परिवारों के पुरुष वामपन्थी विचारों को अपनाकर राजनीतिक या सांस्कृतिक आन्दोलन में सक्रिय हुए , उन्हीं परिवारों की स्त्रियाँ मध्ययुगीन घेरलू गुलामी की गिरफ्त में जकड़ी रहीं। उनकी पहलकदमी को जागृत करने की कोई महत्वपूर्ण कोशिश भी नहीं हुई। नतीजतन रशीद जहाँ, इस्मत चुगताई आदि कुछ उर्दू कहानीकारों के उदाहरणों को छोड़कर वामपन्थी स्त्री रचनाकारों की उपस्थिति चौथे-पाँचवें-छठे दशक में एकदम विरल ही दीखती है। कविता के क्षेत्र में तो एकदम ही नहीं दीखती।

प्रत्ययवादी दर्शन और फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद से ग्रस्त प्रयोगवादी कविता के लिए स्त्री प्रेम की पात्र और अलगावग्रस्त मन का अन्तिम शरण्य मात्र थी। प्रयोगवाद की समाजविमुख आत्मग्रस्तता और रूपवादी दृष्टि स्त्री की सामाजिक स्थिति से जुड़े प्रश्नों को भला देख भी कैसे सकती थी। प्रयोगवादी कविता भारत के जिस कुलीन मध्यवर्ग की वर्ग अवस्थिति को प्रस्तुत करती थी, वह वर्ग सामाजिक आचार व्यवहार में पाश्चात्य जीवन शैली और निजी जीवन में एक हद तक की तर्कपरकता को अपनाते हुए भी अन्दर से अतीतोन्मुख था और मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक रूढ़ियों परम्पराओं के प्रति मोहग्रस्त था। तर्कणा और जनवाद के मूल्यों की कसौटी पर वह स्त्री के अन्तर्जगत और बहिर्जगत की पड़ताल कर ही नहीं सकता था। इस कुलीन मध्यवर्ग की जो स्त्रियाँ थी, उनका जीवन उन्हें अपने मुक्त होने की एक मिथ्याभासी चेतना देता था, या फिर वे अपनी दोयम् दर्जे की सामाजिक पारिवारिक स्थिति से उपजी पीड़ाओं की आत्मग्रस्त अस्तित्ववादी व्याख्या कर लेती थीं। अपनी स्थिति और नियति को वे आम स्त्रियों से जोड़कर देख ही नहीं सकती थीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर सातवें दशक की शुरुआत तक का काल भारतीय इतिहास का एक ऐसा युगसन्धिकाल था, जब राज, समाज और संस्कृति की एक नयी पूँजीवादी व्यवस्था अत्यन्त पीड़ादायी मन्थर गति से अस्तित्व में आ रही थी। यह एक ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था थी जिसके शीर्ष पर आसीन प्रभुवर्ग ने जनाकांक्षाओं पर तुषारापात करते हुए साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद नहीं किया था। सामन्ती भूमि-व्यवस्था को यह धीरे-धीरे बदलते हुए गाँवों में एक नये पूँजीवादी भूस्वामी वर्ग के लिए आधार तैयार कर रहा था। स्वस्थ जनवादी मूल्यों के उन्मेष के बजाय यह मध्ययुगीन मूल्यों को ही अपनाये हुए था और पुरानी निरंकुशता के साथ पूँजी की नयी निरंकुशता और मानवद्रोही सर्वनिषेधवाद की खिचड़ी पका रहा था। एक ओर शिक्षा के प्रसार और पूँजीवादी विकास से स्त्री-समुदाय में नयी चेतना संचरित हो रही थी,

दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन के आवेग के शान्त पड़ने के बाद उसे सामाजिक सक्रियता के दायरे से फिर घरेलू गुलामी के बाड़े में धकेला जा रहा था। यह स्वाभाविक ही था कि राष्ट्रीय काव्यधारा अपनी ऊष्मा खोकर अब समाप्त हो रही थी या नग्न प्रतिक्रियावाद में स्वचलित हो रही थी। 'रश्मि रथी' का सर्जक इस नये परिवेश में 'उर्वशी' में स्त्री-विषयक एक नया पुरुष अहंवादी भोगवादी विमर्श प्रस्तुत कर रहा था। मुक्तिबोध के सटीक शब्दों में, "...'उर्वशी' में दुर्निवार कामुक अहंवाद का उग्र रूप उद्घाटित हुआ है, भले ही वह अहंवाद अध्यात्म का बाना धारण कर ले। ...'उर्वशी' अपने सामाजिक अर्थ में एक पश्चगामी काव्य है। सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग, यदि वह शासक वर्ग से सम्बन्धित है तो वह अपनी रचनाओं द्वारा ऐसी भावधाराओं और मनोवृत्तियों का प्रचार चाहता है, जिन से व्यक्तिमन अधिकाधिक निजबद्ध होता जाये, और विषमताग्रस्त समाज की बुनियाद की ओर उसका ध्यान न जा सके। काम-सम्वेदनाओं के घेरे में व्यक्ति-चेतना सीमित कर देने से उक्त उद्देश्य खूब पूरा होता है। अतएव सामाजिक उत्पीड़न के विविध युगों में, शृंगारतिरेक ने बार-बार अपना सिर उठाया है। 'उर्वशी' में यह बात तो प्रकट है ही। इसके अतिरिक्त यह भी है कि उसे अपनी प्रेरणा और परम्परा के लिए प्राचीन सिद्धों को अन्धविश्वासपूर्ण महासुखवाद के मनोविज्ञान का आश्रय लेना पड़ा। इससे यह साबित होता है कि आज के सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग के पास अब देने को कुछ भी नहीं रहा है।"

छठे दशक में, नवस्वाधीन देश के मध्यवर्ग की जीवन-दृष्टि अपने तमाम द्वन्द्वों-विसंगतियों सहित नयी कविता में अभिव्यक्त हो रही थी। मध्यवर्ग का जो हिस्सा रक्तपायी सत्ताधारी वर्ग से नाभिनालबद्ध था, वह नयी कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलन्दजी कर रहा था। नयी कविता की यह उपधारा जनसंग ऊष्मा से जुड़ने के अकाँक्षी मध्यवर्ग के स्तर को मुखर कर रही थी, वह युगीन तनावों-द्वन्द्वो-विसंगतियों की कविता थी। इस उपधारा से सम्बद्ध मुक्तिबोध, शमशेर, नेमिचन्द्र जैसे कवि मार्क्सवाद से प्रतिबद्ध थे। कुछ ऐसे भी थे जो मार्क्सवाद से प्रकटतः प्रतिबद्ध तो नहीं थे लेकिन उनका स्वर मध्यवर्गीय रैडिकलिज्म का स्वर था।

नयी कविता की जनपक्षधर उपधारा की भी यह एक विचित्र विडम्बना रही कि पुरुष वर्चस्ववादी सामाजिक संरचना और मूल्यों को तथा भारतीय स्त्री के घुटन भरे जीवन से उपजे प्रश्नों को उसने भी महत्व नहीं दिया, हालाँकि इसका एक वस्तुगत कारण यह भी था कि भारत में पूँजीवादी सभ्यता-संस्कृति अभी उस हद तक विकसित नहीं हुआ था कि स्त्री-प्रश्न एक महत्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न बन जाये, न ही वह समय जनान्दोलनों का ऐसा कोई दौर था जब संघर्षों में स्त्रियों की भागीदारी स्वतःस्फूर्त ढंग से घरेलू गुलामी और पुरुष वर्चस्वाद को चुनौती दे रही हो। जो भी हो, यह स्वीकार करना होगा कि छठे-सातवें दशक के भारतीय प्रगतिशील मध्यवर्ग

ने भी स्त्रियों की अस्मिता और मुक्ति के प्रश्न को वह अहमियत नहीं दी, जो अपेक्षित थी। वह भारतीय मध्यवर्ग के जनवादी मूल्यों की निर्बलता को भी दर्शाती थी और इस तथ्य को भी कि अपने पारिवारिक सामाजिक जीवन में वह स्वयं पुरुष सत्तात्मक मूल्यों-रुढ़ियों को किसी न किसी धरातल पर स्वीकारे हुए था। यही कारण है कि अपनी तमाम मौलिकता और कलात्मकता के बावजूद शमशेर की स्त्री-विषयक सौन्दर्याभिरुचि न तो रीतिबद्धता से मुक्त प्रतीत होती है और न ही श्रम-संस्कृति-प्रसूत। त्रिलोचन भी लोकजीवन की छवियाँ आँकते हुए आम जनता के बीच के स्त्री-चरित्रों को नितान्त आत्मीय ढंग से उपस्थित करने के बावजूद उनके जीवन-यथार्थ और शोषण-उत्पीड़न के घुटन-अन्धकार भरे पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर पाये। नागार्जुन की उग्र वाणी कहीं रुढ़ियों परम्पराओं के भंजन के लिए स्त्रियों को ललकारती नहीं सुनाई पड़ती। ऐसा नहीं कि ये हमारे अग्रज कविगण किसी भी रूप में स्त्री-जीवन की बर्बर यथास्थितियों के पक्ष में खड़े हों, लेकिन यह सच है कि स्त्री-मुक्ति प्रसंग इनकी कविता के एजेण्डे पर उपस्थित नहीं दिखाई देता। केदारनाथ अग्रवाल ने भी मेहनतकश स्त्रियों के जीवन, श्रम और संघर्ष से लेकर दाम्पत्य जीवन के प्यार के सुन्दर चित्र उपस्थित किये, लेकिन स्त्रियों के जीवन की घुटन और अँधेरे को, उनकी मुक्ति कामना को स्वर देने का काम उनकी रचनाधर्मिता ने भी बहुत कम ही किया है। यह ज़रूर कहा जा सकता है कि श्रम-संस्कृतिजन्य सौन्दर्य-बोध की आधिकारिक प्रस्तुति उनकी कविता में सम्भव हुई और यह नारी विमर्श का भी एक महत्वपूर्ण पहलू है।

छठे दशक में जो कुछ स्त्री-कवि लिख रही थी, उनका अनुभव संसार कुलीन मध्यवर्गीय स्त्रियों का ही था। उनकी प्रेमाभिव्यक्तियाँ प्रातः आत्मबद्ध थीं और उनके दुःख भी सार्वजनिन न होकर खाती-पीती स्त्रियों के दुःख थे। उनका आभ्यन्तर सामाजिक हलचलों से लगभग अछूता था।

सातवाँ दशक स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास में मोहभंग का दौर था। विकास के पूँजीवादी मार्ग के गतिरोध, सीमाएँ, समस्याएँ सामने थीं। नेहरुवादी समाजवाद कि विसंगतियाँ स्पष्ट हो चुकी थीं। मध्यवर्ग का असन्तोष तब साहित्य में अराजकतावादी विद्रोहों के रूप में फूट पड़ा। रुढ़िभंजन का जोश सर्वनिषेधवाद की सीमाओं को छू रहा था। यह अकविता-अकहानी-नंगी पीढ़ी-भूखी-पीढ़ी, श्मशानी-पीढ़ी आदि का दौर था। यह मध्यवर्गीय अराजकतावाद उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय और रूसी अराजकतावाद की तरह गम्भीर वैचारिक आधार वाला और आवेगमय नहीं था। परिवार और पुरुष स्वामित्ववादमूलक संस्थाओं-मूल्यों पर चोट करने के बजाय अकविता के दौर की मध्यवर्गीय अराजकतावादी कविता ने आडम्बरपूर्ण खोखली लफ्फ़ाजी अधिक की। इसमें जगदीश चतुर्वेदी, मोना गुलाटी जैसों की एक रुग्ण उपधारा भी थी जो परम्परा-भंजन के नाम पर पश्चिम से आयतित यौन-मुक्ति के नारे परोस रही थी।

यह अकवितावादियों का बुर्जुआ नारीवादी नारी-विमर्श था जो अन्तर्वस्तु में नारी-विरोधी और प्रतिक्रियावादी था। उस दौर में धूमिल, श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर आदि की कविताओं में अलग-अलग रूपों में राजनीतिक प्रतिरोध के अराजकतावादी और सामाजिक-जनवादी स्वर मुखर हो रहे थे। राजनीतिक-सामाजिक जीवन की विसंगतियों-विपदाओं को रेखांकित करने वाली इन कवियों की कविताओं का वर्णक्रम व्यापक होते हुए भी स्त्री-प्रश्न यहाँ लगभग अनुपस्थित दीखता है। यही नहीं, धूमिल, श्रीकान्त वर्मा, लीलाधर जगूड़ी आदि की कविताओं में जो भाषा और जो मुहावरें बहुधा प्रयुक्त हुए हैं, जिन गालियों का विद्रोह के प्रतीक-स्वरूप इस्तेमाल किया गया है, वे अवचेतन तक पैठे हुए बद्धमूल पुरुष आधिपत्यवादी संस्कारों को ही दर्शाते हैं। इसमें आश्चर्य नहीं कि कविता के ये सारे विद्रोही अपने जीवन में समझौताओं से लदे-फँदे, परम्पराबद्ध, भारतीय भद्रजन थे - अपनी पत्नियों से पत्नी धर्म निभवाने वाले और बेटियों को सुशील कन्या बनाकर उनके लिए योग्य सजातीय वर ढूँढ़ने वाले।

वैसे यही बात उन तमाम निठल्ले कुलीन वामपंथियों पर भी लागू होती है, जो व्यक्तिगत धरातल पर उन तमाम रीति-रिवाजों-परम्पराओं का व्यावहारिकता के नाम पर अनुपालन करते हैं जिनके मूल में स्त्रियों की निरंकुश स्वेच्छाचारी गुलामी की स्थिति होती है और क्रान्ति की डींगे आसमान तक ऊँची हाँकते हैं। व्यवहार और सिद्धान्त के इस द्वैत के चलते इस कुलीन वामपन्थी घराने की कविता से ईमानदार, बेलौस स्त्री-मुक्ति विमर्श की अपेक्षा की ही नहीं जा सकती। यदि इन कुलीन वामपन्थी कवियों की बारीक तराश और महीन कतान वाली सजी-सँवरी कविताई में उपस्थित स्त्री जीवन, उनमें नवरीतिबद्धता की पहचान के साथ ही ठेठ भारतीय मर्द की आवाज़ें भी सुनी जा सकती हैं या फिर वहाँ पाखण्डपूर्ण कृत्रिम सदाशयता के दर्शन किये जा सकते हैं।

नक्सलबाड़ी किसान उभार के बाद, विशेषकर आठवें दशक में वामपन्थी प्रगतिशील कविता का जो नवोन्मेष हुआ, उसके शुरूआती दौर में वामपन्थी लफ्फाजी के अतिरेकी स्वर को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। कालान्तर में सन्तुलन की जो कोशिशें हुईं, वे कला के आग्रह के नाम पर या तो रूपवादी विचलन तक जा पहुँची, या फिर एक अतिशिष्ट किस्म के मरियल जनतांत्रिक आग्रह तक। यह समय था जब कविता में फूल, चिड़िया, आसमान, नदी आदि के साथ-साथ स्त्री भी खूब आने लगी। लेकिन स्त्री यहाँ कविता का सजावटी सामान मात्र थी, उसकी मुक्ति के कठिन प्रश्न और चुनौतियाँ लगभग अनुपस्थित थीं। फिर धीरे-धीरे हिन्दी की वाम जनवादी कविता के एक हिस्से में स्त्री-प्रश्न सघन से सघनतर चिन्तातुरता के साथ और विस्तारित होते आयामों के साथ विमर्श के एजेण्डे पर आने लगा। कमोबेश यह नवें दशक के उत्तरार्द्ध के काल में हुआ, लेकिन इस प्रवृत्ति के छिटपुट उदाहरण दशक की शुरुआत से ही दीखने लगे थे।

कहा जा सकता है कि नवें दशक तक भारतीय समाज का पूँजीवादीकरण वह आधार तैयार कर चुका था कि नारी-प्रश्न कला-साहित्य में विमर्श के एजेण्डे पर अपनी उपस्थिति के लिए स्वतः एक दबाव बनाने लगे। अब इसकी अनदेखी नहीं कि जा सकती थी। पूँजी की ताकत भारी स्त्री आबादी को घर की चारदीवारी से बाहर सड़कों पर निकृष्टतम किस्म की उजरती गुलाम बना कर धकेल रही थी। पूँजीवादी शिक्षा भी एक नई चेतना का निर्माण कर रही थी। शहरीकरण मध्यवर्गीय और श्रमिक स्त्रियों की चेतना के सीमान्तों को विस्तारित कर रहा था। संयुक्त परिवार टूटने लगे थे और एकल परिवारों की संख्या तेजी से बढ़ने लगी थी। यह प्रक्रिया गत शताब्दी के अन्तिम दशक में, उदारीकरण-निजीकरण के दौर में और अधिक तेज होकर अपनी तार्किक परिणति तक जा पहुँची। इस पूरे दौर में, सांस्कृतिक धरातल पर फिर भी मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक मूल्यों-संस्थाओं की मौजूदगी बनी रही। पूँजीवाद ने पुरातन प्रतिक्रियावादी मूल्यों को अपना लिया और साथ ही, वित्तीय पूँजी की चरम निरंकुश उपभोक्तावादी संस्कृति सामाजिक-जीवन के रन्ध्र-रन्ध्र में पैठती चली गयी। स्त्री-घरेलू गुलामी के साथ ही अब उजरती गुलामी का भी शिकार थी। उसका श्रम ही नहीं बल्कि शरीर और सौन्दर्य भी अब एक पण्य वस्तु में रूपान्तरित हो चुका था। सामन्ती पार्थक्य (सेग्रिगेशन) के साथ ही अब वह बुर्जुआ अलगाव (एलियनेशन) का भी शिकार हो रही थी। लेकिन पूँजीवाद की हर गति के साथ उसकी एक अन्तरविरोधी गति भी जुड़ी होती है। समाज का जो पूँजीवादीकरण भारतीय स्त्री के जीवन में भौतिक-आत्मिक उत्पादन का नया तर्क निर्मित कर रहा था, वही इसके प्रतिरोध की नयी चेतना के उद्भव और संगठन का आधार भी तैयार कर रहा था। विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों और जनवादी अधिकार आन्दोलन में स्त्रियों की विगत दो दशकों के दौरान बढ़ती भागीदारी को, स्त्री-आन्दोलन के व्यापक विस्तार को और बौद्धिक विमर्श के हल्कों में स्त्रियों की महसूस की जा सकने वाली उपस्थिति को इस पृष्ठभूमि में आसानी से समझा जा सकता है।

नवें दशक में हिन्दी कविता के प्रदेश में स्त्री-विमर्श का जो आवेगमय प्रवेश हुआ, उसे उपरोक्त सामाजिकार्थिक विश्लेषण के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है। केवल यही नहीं कि विगत दो दशकों के दौरान स्त्री की जीवन-स्थिति और मुक्ति-प्रसंग को लेकर हिन्दी के अधिकांश अग्रणी कवियों ने बड़ी संख्या में महत्वपूर्ण कविताएँ लिखी हैं, बल्कि यह भी गौरतलब है कि पहली बार स्त्री कवियों ने इतनी बड़ी संख्या में, इतनी अधिक मात्रा में स्त्री-प्रश्न को कविता का विषय बनाया है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि हिन्दी में शायद पहली बार इतनी बड़ी संख्या में स्त्री न सिर्फ़ कवियों की कतार में, बल्कि महत्वपूर्ण कवियों की कतार में शामिल हैं और वे सिर्फ़ स्त्री-जीवन को ही नहीं बल्कि सामाजिक-राजनीतिक जीवन के सभी पक्षों को अपनी कविता की विषय-वस्तु बना रही हैं।

पिछले दो दशकों के दौरान, गोरख पाण्डे, आलोक धन्वा, असद जैदी, राजेश जोशी, उदय प्रकाश, देवी प्रसाद मिश्र, विमल कुमार आदि कवियों ने अपनी कई कविताओं में मार्मिक और हृदयस्पर्शी होने के साथ ही चिन्तातुर और गम्भीर कर देने वाला स्त्री-विमर्श प्रस्तुत किया है। ऐसी महत्वपूर्ण स्त्री-कवियों में अनामिका, गगन गिल, प्रगति सक्सेना, नीलेश रघुवंशी, सविता सिंह, निर्मला गर्ग आदि के नाम अग्रणी है। साहित्य के गम्भीर अध्येताओं के विचार के आधार पर मैं अपना नाम भी विनम्रतापूर्वक इस कतार में शामिल करना चाहूँगी।

हिन्दी कविता में स्त्री-विमर्श की चर्चा करते हुए विगत दो दशकों का यदि सिंहावलोकन किया जाये तो कुछ प्रवृत्तिमूलक कविताओं के रूप में 'बहनें' (असद ज़ैदी) 'कैथर कलां की औरतें' (गोरख पाण्डे), ब्रूनों की बेटियाँ, 'भागी हुई लड़कियाँ' (आलोक धन्वा), 'उस औरत का घोड़ा', 'एक लड़की से बातचीत', 'वह मुझे दोबारा जन्म देना चाहती थी' (राजेश जोशी), 'नींव की ईंट हो तुम दीदी' (उदय प्रकाश) जैसी कविताओं की चर्चा की जा सकती है। यह नामोल्लेख मैं स्मृति के आधार पर कर रही हूँ। इतनी ही महत्वपूर्ण कुछ कविताएँ विष्णु खरे, देवी प्रसाद मिश्र और विमल कुमार आदि की भी है।

बेहतर यही होगा कि नाम गिनाने के जोखिम भरे पचड़े से बाहर आकर समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री-विमर्श की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों पर ज़रूरी बातचीत की जाये।

विगत दो दशकों के दौरान, पहली बार हिन्दी में कुछ ऐसी कविताएँ लिखी गयीं जिनमें परिवार-कुटुम्ब आदि-आदि की रागात्मकता, स्त्री संरक्षण की मिथ्याभासी सहृदयता और पूँजीवादी समाज की छद्‌म स्त्री-स्वाधीनता के तमाम आवरणों को भेदकर पुरुषवर्चस्ववाद की सर्वव्यापी सत्ता को कटघरे में खड़ा किया गया। ऐसी कविताएँ बद्धमूल संस्कारों पर चोट करके परेशान करती हैं। लेकिन सच यह है कि ऐसी कविताओं की संख्या कुछ कम हो रही हैं।

एक दूसरा प्रवर्ग 'कैथर कलां की औरतें" और 'ब्रूनों की बेटियों' जैसी कविताओं का बनता है। ये कविताएँ नारी प्रश्न पर नारीवादी विमर्श नहीं प्रस्तुत करतीं, बल्कि प्रकारान्तर से स्त्री-मुक्ति की परियोजना को सामाजिक मुक्ति की बृहद्‌ परियोजना के एक अंग के रूप में प्रस्तुत करती हैं। 'कैथर कलां की औरतें" कविता बिहार के कैथर कलां गाँव की उस घटना पर लिखी गयी है जिसमें ग़रीब खेत मज़दूरों की स्त्रियाँ नक्सलियों की धर-पकड़ के नाम पर जुल्म ढा रही पुलिस से भिड़ गयीं और उनकी बन्दूकें छीनकर उन्हें भगा दिया। कविता इस घटना को एक प्रतीक घटना बना देती है जहाँ स्त्रियाँ तमाम ग़रीब मर्दों से कन्धा मिलाकर सभी उत्पीड़ितों की मुक्ति के साथ अपनी मुक्ति के लिए लड़ रही हैं। 'ब्रूनों की बेटियाँ' भी खेतिहर मज़दूर औरतों के उत्पीड़न, संघर्ष और ज़िन्दा जला दिये जाने की घटना को केन्द्र में रखकर लिखी गयी

एक ऐसी कविता है जो सिर्फ़ कथ्य ही नहीं, बल्कि शिल्प की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हिन्दी कविता में स्त्री-विमर्श की एक तीसरी प्रवृत्ति वह है जिसने स्त्री-प्रसंग को एक नयी काव्य-रूढ़ि में रूपान्तरित कर दिया है। यह फैशनेबुल नारीवाद है जो "वामपन्थी" रूपवाद के ठेठ मुहावरें में ढालकर आज परोसा जा रहा है। इन कविताओं की संरचना की यदि सूक्ष्म पड़ताल की जाये तो स्त्री-प्रश्न का उदार, संरक्षणवादी पुरुष स्वामित्ववादी पाठ अवक्षेपित होकर सामने आ जाता है। इसी प्रवृत्ति से मिलती जुलती एक और काव्य-रूढ़ि यह भी है कि उपभोक्तावादी बुर्जुआ संस्कृति के स्त्री-उत्पीड़क चरित्र का विरोध करते हुए अतीत के रागात्मक किसानी परिवेश में स्त्रियों के जीवन को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जाने लगता है और उसमें निहित स्त्री-विरोधी निरंकुशता की अनदेखी कर दी जाती है। अपने मूल रूप से यह वही अतीतन्मुखी पुनरुथानवाद है जो उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ के पुरुष सुधारकों में पाया जाता था।

पिछले दो दशकों के दौरान हिन्दी कविता के स्त्री-विमर्श में यदि कोई नकारात्मक प्रवृत्ति सबसे अधिक हावी रही है और एक काव्य दृष्टि बन चुकी है तो वह है स्त्री के प्रति दयावादी-करुणावादी दृष्टि। इस प्रवृत्ति पर मैंने 1990 में एक टिप्पणी लिखी थी : *'करुणा की नदी में स्त्री।'* वह मुझे आज भी इतनी प्रासंगिक लगती है कि उसके कुछ अंशों को यहाँ मैं हूबहू उद्धृत करना चाहूँगी :

"हिन्दी कविता में आज स्त्री के प्रति करुणा की एक नदी प्रवाहित हो रही है। स्त्री करुणा की नदी में बह रही है, ऊभ-चूभ हो रही है।

'समकालीन हिन्दी कविता की एक विशेषता स्त्रियों के प्रति उसकी करुणा है। रघुवीर सहाय से लेकर आज के उदीयमान युवा कवियों में नारी जीवन की विषम स्थिति को अभिव्यक्त करने की आकुलता दीखती है। हिन्दुस्तान में किसी नारीवादी आन्दोलन के अभाव के बावजूद भारतीय समाज में नारी की यह दुखदायी स्थिति साहित्य, विशेषकर कविता में अभिव्यक्त होने से रुकी नहीं है'। युवा कवि देवीप्रसाद मिश्र के कविता संग्रह 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं' की समीक्षा करते हुए (दिनमान टाइम्स) रवीन्द्र त्रिपाठी ने ऐसा लिखा है और बिल्कुल ठीक लिखा है।

यह भाव सहानुभूति (सह-अनुभूति के अर्थ में) का नहीं है, करुणा का है। सहानुभूति व्यापक शब्द है। जतलाए जाने या दिखाए जाने से लेकर साथ खड़े होने तक। साहित्य कभी-कभी इस मंजिल से आगे दिशा दिखाने और प्रेरणा देने तक जाता है। करुणा सीमित और तात्कालिक अर्थों-सन्दर्भों में अच्छी चीज़ है। जब यह पर्याप्त मात्रा में एकत्र हो जाये तो दया बन जाती है। कभी-कभी, कुछ विशेष सन्दर्भों में कृपा भी बन जाती है। दय भी हमेशा बुरी चीज नहीं होती है (जैसे 'सभी जीवों पर दया

करो')।

'पर मूल बात यह है कि हर भाव एक खास स्थिति के प्रतिक्रियास्वरूप ही हमारे मन में पैदा होता है। कातर को देखकर करुणा। दीन को देखकर दया ('दीनों पर दया करो')।

'हिन्दी कवि कातर स्त्री पर करुणा से आर्द्र है। कभी उसकी आँखें भरभरा आती है, कभी गला रुँध जाता है, कभी उसका मन विषाद से भर उठता है और वह बोल पड़ता है, 'ओह भारतीय स्त्री। तुझे मेरी करुणा की कित्ती-कित्ती ज़रूरत है।' हिन्दी कविता में स्त्रियाँ कभी बहनें बनकर आती है, कभी माँ बनकर, कभी बेटियाँ, कभी प्रेमिकाएँ तो कभी सिर्फ लड़कियाँ, औरतें या मेहरारू। निस्सन्देह, वे रोती-कलपती कराहती नहीं है (ज़माना आगे जा चुका है और स्त्रियाँ भी और कवि भी)। वे बस चुपचाप सुलगती-धुँआती रहती है, कोयला और राख होती रहती है, यहाँ या वहाँ से बस गायब होती रहती हैं, उड़ जाती रहती हैं या इसी तरह की कोई क्रिया करती रहती हैं जिसे देखकर कवि करुणा से भीग जाता है और 'नारी जीवन के खुद का अंकन' करने के लिए व्याकुल हो उठता है।

'हिन्दी कविता की प्रतिनिधि प्रगतिशील नज़र में नब्बे प्रतिशत की सीमा तक, प्रतिनिधि भारतीय स्त्री करुणा के पात्र हैं, कातर है। वे जल रही हैं, कोयला और राख हो रही हैं। कवि आता है। करुणा की नदी बहाता है। उसमें उसे स्नान कराता है। मुक्तिदाता का सन्तोष उसके चेहरे पर छा जाता है। समीक्षक आता है। कवि की इस गहरी सम्वेदना और प्रगतिशील चेतना से विह्वल हो उठता है और उसकी बगल में सहानुभूति (सह-अनुभूति) के साथ बैठकर उसकी पीठ सहलाता है।

'स्त्री के सन्दर्भ में हिन्दी की प्रगतिशील कविता अभी मानववाद से आगे नहीं आ पाई है और यह मानववाद भी उग्र या जोशीला नहीं, बहुत नरम और मुलायम है। हिन्दी कवि विषय-वस्तु के तौर पर बहुधा उस स्त्री को चुनता है, जो पिछड़े हुए गरीब मध्यवर्ग की कुआँरी लड़की, ग़रीबी में घुटती-जीती पत्नी या माँ होती हैं। कभी-कभी वह छत्तीसगढ़ या बस्तर के आदिवासी गाँव या कोयिलरी की या सड़क कूटने या ईट-भट्ठे पर काम करने वाली ऐसी लड़की को चुनता है जो भोली-भाली है, बालसुलभ निश्छलता से युक्त है और यथास्थिति को स्वीकार करके बस जिए जा रही है। उसकी भोलेपन से भरी हुई पिछड़ी चेतना से कवि आकर्षित होता है और उसकी दुरवस्था पर एक कविता रचता है जिसमें उस लड़की के आदिम मोहक सौन्दर्य की भी थोड़ी चर्चा होती है।"

जहाँ तक हिन्दी की स्त्री-कवियों का प्रश्न है, ज़्यादा व्यापक सन्दर्भों-परिप्रेक्ष्यों और रैडिकल तेवर वाली कविताएँ अपेक्षाकृत युवा और कम चर्चित रचनाकारों ने लिखी है, भले ही उनके शिल्प में अभी अपेक्षित तराश न हो। जो स्थापित स्त्री-कवियों में अग्रणी हैं, उनमें से ज़्यादातर कुछ महत्वपूर्ण कविताएँ लिखने के बाद कुछ

स्वनिर्मित काव्य-रूढ़ियों में गिरफ़्तार होकर रह गयी हैं। यह भी महत्वपूर्ण है कि कुछ स्त्री-कवि ऐसी है कि जिनका स्त्री-विमर्श मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत स्त्री-मुक्ति विमर्श है। अधिकांश एक या दूसरे किस्म या, कम या ज़्यादा रेडिकल तेवर वाला नारीवादी विमर्श ही प्रस्तुत करती दीखती हैं।

गगन गिल 'एक दिन लौटेगी लड़की' की कुछ महत्वपूर्ण कविताओं के बाद अब अध्यात्मवाद और नये पौर्वात्यवादी पुनरुत्थानवाद की शरणागत हो चुकी हैं। तेजी ग्रोवर का नारीवाद ज़्यादा से ज़्यादा अमूर्त रोमानी होता चला गया है। अनामिका की कविताएँ पश्चिमी नारीवादी आन्दोलन के अध्ययन से उपजे विभ्रमित बौद्धिकता, लोकजीवन की स्मृतियों की अतीतोन्मुखता और प्रकृतवादी रूपवाद के तीन अक्षों के बीच चक्कर काट रही हैं। कुछ कविताओं में स्त्री-प्रश्न को ऐसे रेडिकल तेवर में प्रस्तुत किया गया है जो वस्तुतः महानगरों की कुलीन स्त्री का तेवर है। हिन्दी कविता में नारी-विमर्श की व्यापकता पर सन्तुष्ट होते हुए इस सच्चाई की अनदेखी नहीं की जा सकती कि विपुल मात्रा में आज ऐसी कविताएँ मौजूद हैं जो "खाती-पीती स्त्रियों के दुखों" की कविताएँ हैं।

निम्नमध्यवर्ग और मेहनतकश जमातों के स्त्रियों के जीवन की घुटन और संघर्ष की हिन्दी कविता में इन्दराजी अभी अधूरी है। साथ ही हिन्दी कविता में नारी-विमर्श का विचारधारात्मक आधार अभी कमज़ोर है। लेकिन यह जो आवेगमय शुरुआत हुई है, उसे आगे लगातार होना है, इस विश्वास के पर्याप्त आधार आज ही मौजूद हैं।

(1999)
(एक संगोष्ठी के लिए लिखा गया, पर निरर्थक लगने के कारण इसमें हिस्सा नहीं लिया)

होना/सोना और चुकना अपने-अपने ढंग से...

बहस में सोचने के लिए कुछ मुद्दे

नई कहानी आन्दोलन के एक पुरोधा नारी मुक्ति, दलित-मुक्ति और साम्प्रदायिकता-विरोध के स्वयंभू मसीहा तथा प्रेमचन्द की पत्रिका **'हंस'** के सम्पादक **राजेन्द्र यादव** आजकल चर्चा में हैं।

'वर्तमान साहित्य' के जनवरी 2001 अंक में प्रकाशित जिस लेख (होना/सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ) के चलते राजेन्द्र यादव चर्चा में हैं, उसके बारे में काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है और सच पूछें तो उस लेख और उसके पीछे की मानसिकता के बारे में विश्लेषण के लिए ज़्यादा कुछ है भी नहीं। व्यंग्य-विधा के "जरिए" पुरुष स्वामित्ववाद की जिस मानसिकता को राजेन्द्र यादव उजागर करना (?) चाहते हैं, उसी का एक रूप उनके दिलो-दिमाग पर छाया हुआ है और सामाजिक यथार्थ और साहित्य-कला की समकालीन समस्याओं से पूरी तरह कट चुकने के बाद आज उनका यही मानसिक विकार फूट-फूटकर लेखनी से बाहर आ रहा है।

वैसे राजेन्द्र यादव का यह मनोरोग पुराना है और इसकी अभिव्यक्तियाँ पहले उनके "विश्लेषण मूलक" लेखों में भी आती रही हैं। आज से काफ़ी पहले 1987-1988 में अपने एक लेख में पाल रीगे की **'स्टोरी ऑफ ओ'** नामक उबकाई पैदा करने वाली कृति को राजेन्द्र यादव ने नारी-मुक्ति के एक नये आख्यान के रूप में प्रस्तुत किया था और ऐसा करते हुए, उस कृति में बीमार पुरुष-वर्चस्ववादी, मौनकुण्ठित मानस को मजा देने वाला जो जुगुप्सापूर्ण विवरण था, उसे काफ़ी तफसील से ('हंस' के पाठकों को चुगाने वाले मोतियों के रूप में) प्रस्तुत किया था। उस लेख के विरोध में मैंने जो लेख लिखा था, उसे, उठाये गये मुद्दों की विचारणीयता के अतिरिक्त, आज यह देखने-जानने के लिए याद किया जा सकता है कि राजेन्द्र यादव की पतन-गाथा विगत डेढ़ दशकों में किन-किन मुकामों से होती हुई आज यहाँ तक पहुँची है!

साहित्य के इतिहास में रचनाशीलताओं के पतन-पराभव के अनेकों दृष्टान्त मौजूद हैं। चन्द एक रचनाओं में रचनात्मकता के बम अथवा कभी-कभी पटाखे जैसे विस्फोट के बाद बरसों-बरस अनुर्वर जीवन जीकर गुमनामी की मौत मरने से लेकर

अवसादग्रस्तता, पागलपन या आत्महत्या तक की परिणति तक पहुँचने के उदाहरण कला-साहित्य की दुनिया में मौजूद रहे हैं और उनके शिकार होने वाले कई अच्छे रचनाकारों की कथा तो वाक़ई एक त्रासदी रही है जो सर्जनात्मक मानस पर विशिष्ट हालात के जटिल-संश्लिष्ट बहुपरती दबावों को ही मुख्यतः दर्शाती है और ऐसे रचनाकारों को आज भी हम दुःख और अफसोस के साथ, लेकिन साथ ही लगाव के साथ, और कभी-कभी तो काफ़ी कुछ सीखने के लिए भी, याद करते रहे हैं। अफसोस यह कि राजेन्द्र यादव ने अपनी रचनात्मकता को स्वयं श्रद्धांजलि देने का जो मार्ग चुना है वह पागलपन या आत्महत्या से भी बदतर है, उन्होंने जो कुछ भी थोड़ा बहुत याद करने लायक लिखा है, उस पर भी कालिख पोतने वाला है। यह आत्महत्या की अन्तर्निहित प्रवृत्ति का एक नायाब उदाहरण है।

राजेन्द्र यादव की इस पतन-गाथा पर व्यक्तिगत उखाड़-पछाड़ के बजाय आज व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार करने की ज़रूरत हैं। आज के समय और साहित्य के बारे में इससे कुछ ज़रूरी सबक और विचारणीय मुद्दे उभरकर सामने आयेंगे। ऐसा न करना चौंक-चमत्कार और "चटखारापूर्ण" विवादों की उस प्रवृत्ति को ही बढ़ावा देगा, जिसकी अदम्य दुर्निवार लालसा बढ़ते-बढ़ते आज राजेन्द्र यादव के दिलो-दिमाग पर पूरी तरह हावी हो चुकी है। दरअसल, पचास और साठ के दशक में (और एक हद तक सत्तर के दशक में भी) जो युवा पीढ़ी साहित्य की "मुख्य धारा" के अग्रणी हस्ताक्षरों के रूप में चर्चित थी, उसमें से कुछ को छोड़कर, जो भी आज जीवित हैं, उनकी कहानी "खण्डित नायकत्व और पराभूत गौरव की त्रासद गाथा" के रूप में काल के पन्नों पर दर्ज हो रही है। इस परिघटना का आज ऐतिहासिक विश्लेषण करने की ज़रूरत है।

राजेन्द्र यादव जिस रिक्त-रुग्णता का एक प्रतिनिधि रूप प्रस्तुत कर रहे हैं, क्या **काशीनाथ सिंह** की हाल में छपी कहानियाँ (एकदम ताजा कहानी 'पाण्डे कौन कुमति तोहें लागीं' तक) और उनके संस्मरण, **दूधनाथ सिंह** की कहानी **नमो अंधकारम्** और **रवीन्द्र कालिया** की **'ग़ालिब छुटी शराब'** जैसी रचनाएँ भी पतनशीलता, पराभव, समय-विमुखता और जन-विमुखता की ऐसी ही प्रवृत्तियों-रूझानों को अभिव्यक्त नहीं करती हैं? क्या कारण है कि जिस दौर में हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में तमाम महत्वपूर्ण मसलों पर चल रहे सैद्धान्तिक विचार-विमर्श और चिन्तन में हस्तक्षेप की सबसे अधिक ज़रूरत रही है, उस दौर में नामवर सिंह, दशकों की अवधि तक, लगभग कुछ भी गम्भीर नहीं लिखते रहे हैं, सिर्फ "कहते" रहे हैं।

पूरी दुनिया, पूरा देश और पूरा हिन्दी क्षेत्र जिस समय आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक स्तर पर बहुसंस्तरीय जटिल-संश्लिष्ट संक्रमण की ऐतिहासिक प्रक्रिया से गुजर रहा है, जिस समय दिक्-काल पटल पर लगातार नई-नई परिघटनाओं का अवतरण हो रहा है, जिस समय प्रतीतिगत परिघटनाओं

से सारभूत संरचना के रिश्ते अत्यन्त दृष्टि ओझल-से और अन्तरविरोधी प्रतीत हो रहे हैं; जिस समय विश्व-स्तर पर सामाजिक यथार्थ के चरित्र, उसके अवलोकन-अवगाहन और कला-साहित्य-संस्कृति की प्रकृति, भूमिका-निर्वाह एवं प्रभाव को लेकर दार्शनिक-वैचारिक धरातल पर गहन चिन्तन-मनन का दौर चल रहा है, उस समय राजेन्द्र यादव "नारी प्रश्न" पर अपना यह कुत्सित-जुगुप्सित "समाजशास्त्रीय विमर्श" छेड़े हुए हैं, नामवर जी आलोचना में नये-पुराने प्रतिमानों की बात तो क्या शायद प्रतिमानों का स्थान ही भुला चुके हैं और लगातार प्रतिमान-विहीन फुटकर स्थापनाएँ दे रहे हैं, अस्सी के इर्द-गिर्द विरचित काशी की "काशी-कथाएँ" यथार्थ के भोंड़े प्रत्यक्षवादी-प्रकृतवादी चित्रण के नाम पर, लगभग सामन्ती निरंकुशता (आप चाहें तो "बनारसी ठाठ" कह लें) की पुरुष वर्चस्ववादी "यौन रस भोगी" भाषा में कथा-साहित्य का नया रीति-विधान रच रही हैं, रवीन्द्र कालिया भारतीय इतिहास के एक बेहद जटिल-कठिन कालखण्ड को शराबखोरी की धुरी के इर्द-गिर्द लम्पट भाषा में और खिलन्दड़े अन्दाज़ में उपस्थित (या अनुपस्थित) कर रहे हैं और कभी सोचने के लिए नये-नये विचारप्रेरक सूत्र और कोण देने वाले दूधनाथ सिंह 'नमो अन्धकारम्' लिख रहे हैं। यही नहीं, इधर अचानक संस्मरणों, आत्मकथाओं, साक्षात्कारों तथा 'मैं और मेरा समय' छाप आलेखों की जो बाढ़ आई है, उसमें प्रायः गुजरे हुए समय के इतिहास, सामाजिक परिवेश, आम जन, भारी प्रभाव वाली राजनीतिक घटनाएँ और आन्दोलन आदि लगभग अनुपस्थित हैं, या उनकी महज आहट है या फिर विरुपित छवियाँ। उनमें ज़्यादातर, लेखक के आसपास का बहुत संकरा क्षेत्रफल, कटा हुआ भूदृश्य और आत्मोन्मुख अन्तरंग परिवेश ही हावी दीखता है। मानना होगा कि यदा कदा, कहीं-कहीं, बहुत अच्छा और संवेदनशील गद्य भी सामने आया है, लेकिन समाजोन्मुखता का, सड़क की हलचलों का और व्यापक समाजेतिहासिक पार्श्वभूमि का अभाव वहाँ भी लगातार खटकता रहा है। इसी स्पेक्ट्रम के आख़िरी सिरे पर हमें राजेन्द्र यादव के घृणित "नारीवादी" कुकर्म, काशी की कहानियों और कालिया के संस्मरणों को रखकर देखना होगा और इस सच्चाई की भी अनदेखी नहीं करनी होगी कि उत्तरवर्ती पीढ़ी के बहुत से सम्भावनासम्पन्न कवियों-लेखकों की प्रखरता के बीच, कई ऐसे युवा रचनाकार भी हैं (और प्रायः वे काफ़ी चर्चित हो रहे हैं!) जो "यौन रस भोगी" सड़ान्ध और दम्भी आत्मकेन्द्रण के मामले में उपरोक्त ख्यात अग्रजों के पदचिह्नों का निष्ठा और योग्यता के साथ अनुसरण कर रहे हैं!



हमारा समय एक जटिल-संश्लिष्ट संक्रमण के साथ ही एक विश्व ऐतिहासिक विपर्यय (रिवर्सल) का कठिन समय भी है। इतिहास में क्रान्तियों की पराजय के बाद

गतिरोध और विपर्यय के दौर पहले भी आते रहे हैं, लेकिन सर्वाधिक उच्चादर्शों से अनुप्राणित, सर्वाधिक उन्नत विज्ञान और इतिहास-दृष्टि से संचालित, सर्वाधिक व्यावहारिक और मानव-मुक्ति के सर्वोन्नत स्वप्नों से निर्देशित परियोजना के आधार पर क्रियान्वित सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम चक्र की पराजय के बाद, भौतिक जीवन की नियन्ता, जड़ता की शक्तियों ने फिलहाल समाज के आत्मिक-सांस्कृतिक जगत की मुख्य भूमि पर भी अपना कब्जा जमा रखा है। इस बार उनका प्रतिरोध एवं वर्चस्व चौतरफा है, अधिकतम और व्यापकतम है। तय है कि यह इतिहास का अन्त नहीं है, और पूरी दुनिया में और हमारे देश में भी, भूमण्डलीकरण कुचक्र से प्रभावित भारी आबादी के स्वतःस्फूर्त विद्रोह एवं आन्दोलन भविष्य-संकेत भी दे रहे हैं। लेकिन यह भी तय है कि फिलहाल अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करणों का पुनर्सृजन अभी काफ़ी दूर की बात है। इसी परिवेश की परिणतियाँ आज तमाम उत्तर आधुनिक विचार-सरणियों के रूप में, "अन्त" वादी विचारों के रूप में, प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की विभाजक रेखाओं को धूमिल करने के अनेकशः उपक्रमों के रूप में, 'कास्मेटिक' या सत्तापोषित "वाम" के रूप में, यौन रोगी और मनोरोगी "वाम" के रूप में जनता के संघर्षों से "सुरक्षित" दूरी लेकर उनके बारे में लिखने की प्रवृत्ति के रूप में, अकर्मक-अकर्मण्य विमर्श के रूप में, एन.जी.ओ. सुधारवाद और नकली "क्रान्तिकारी" वाम की मधुयामिनी के रूप में तथा रिक्तता और रुग्णता की अनेकशः सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के रूप में सामने आ रही हैं।

वर्तमान समय जैसे ऐतिहासिक दौर अपने **दिदेरो**, **वाल्तेयर**, **बाल्ज़ाक, टॉमपेन** और **मार्क ट्वेन** गढ़ते-बनाते हैं, अपने **हर्जेन, चेर्निशेव्स्की, बेलिंस्की, दोब्रोल्यूबोव** और अपने **लू शुन** गढ़ते बनाते हैं, पर इसके साथ ही संक्रमणकालीन युगों की सड़ान्ध के प्रतिनिधि निरंकुश स्वेच्छाचारी कूपमण्डूक और स्वार्थी मनोरोगी भी जीवन के तमाम क्षेत्रों की तरह साहित्य-कला के क्षेत्र में ऐसे दौरों में अपनी उपस्थिति न सिर्फ दर्ज कराते हैं, बल्कि कभी-कभी, और कहीं-कहीं तो, वे लम्बे समय तक हावी भी दीखते हैं। हमारे देश में, विगत दो सौ वर्षों की गुलामी के अतीत, कमज़ोर बौद्धिक इतिहास और समाज-विकास की प्रतिनिधिक एशियाई मन्थर गति को देखते हुए यह काल खण्ड अधिक लम्बा भी हो सकता है।

आशा की जानी चाहिए कि आगे चलकर कोई लर्मन्तोव "हमारे युग के इन नायकों" की भीषण गाथा को भी लिपिबद्ध करने का साहस करेगा।

अब से पचास या सौ साल बाद, भारतीय आम जीवन में आज जारी तबाही-बर्बादी के युगान्तरकारी इतिहास के साथ जब राजेन्द्र यादव, काशीनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया जैसे वामपन्थी धारा के माने-जाने वाले रचनाकारों की उपरोक्त रचनाओं को पढ़ा जायेगा और बहुतेरी रहस्यमय कविताओं, जादुई कहानियों और पूरी तरह कल्पना से यथार्थ बुनने वाले उपन्यासों के साथ तथा तमाम जीवन-विमुख

सैद्धान्तिक विमर्शों, व्याख्यानों और भाषा-क्रीड़ाओं के साथ रखकर पढ़ा जायेगा तो निस्सन्देह बहुतेरी सकारात्मक रुझानों-संकेतों की उल्लेखनीय उपस्थिति के बावजूद, हमारे समय को भारतीय साहित्य-कला के इतिहास के एक सबसे अन्धकारपूर्ण काल के रूप में देखा जायेगा। और इतिहास का यह फैसला शैलेश मटियानी के मानसिक विचलन, निर्मल वर्मा के प्रतिक्रियावादी-पुनरुत्थानवादी लेखन, या अशोक वाजपेयी जैसों की सरगर्मियों के चलते नहीं (यह तो होना ही था, बल्कि इनका साहित्यिक मूल्य तो आज पूर्वापेक्षा क्षरित हुआ है), बल्कि प्रगतिशील-वामपन्थी धारा के बहुलांश पुरोधाओं की जन विमुखता, वामपन्थी सुविधा-सुरक्षावाद, छद्म-पाखण्ड, दुरंगेपन-ठण्डेपन, कायरता, अवसरवाद और रिक्तता-रुग्णता के चलते होगा। साहित्य की चौहद्दी में यह जो सब लिखा जा रहा है और अग्रणी साहित्यिक पत्रिकाओं में बहस के जो केन्द्रीय एजेण्डे तय हो रहे हैं, यह भी हमारे सामाजिक जीवन के यथार्थ के एक पहलू का ही सांस्कृतिक-साहित्यिक जगत में प्रक्षेपण या विस्तार है। यह भी आज के समय के यथार्थ का एक पहलू है और किसी न किसी रूप में इसकी इन्दराजी तो होनी ही है! आखिर ऐतिहासिक शर्म के लिए भी तो कुछ मुद्दे चाहिए!

कहा जाता है कि घटिया से घटिया साहित्य भी यथार्थ को ही प्रतिबिम्बित करता है। सवाल सिर्फ यह होता है कि किस तरह के मानस में प्रतिबिम्बित होने के बाद वह यथार्थ रचना की ज़मीन पर उतरा है। इन अर्थों में जो साहित्य यथार्थवादी साहित्य नहीं होता, वह भी किसी काल-विशेष के अध्ययन का कच्चा और अर्द्धसंसाधित स्रोत होता है। आज वामपन्थी दायरे में गिने जाने वाले कुछ लेखक भी यथार्थ के भावी अध्ययन के लिए ऐसा ही "कच्चा माल" उत्पादित कर रहे हैं। इसका अध्ययन हमारे कठिन समय में आम तौर पर पूरे समाज के बड़े हिस्से, और खास तौर पर मध्यवर्ग के बड़े हिस्से, के मानस पर हावी शून्य को, अन्धकार को और मनोरोगी चिन्तन को सामने लायेगा और भविष्य के अध्येताओं को अचरज में डाल देगा!



जैसा कि ऊपर मैंने उल्लेख किया है, सोचने का मुद्दा यह है कि पचास और साठ के दशक के (और सत्तर के दशक तक के भी) कई युवा रचनाकार विगत सदी की आख़िरी दहाई तक आते-आते उस स्थिति को क्योंकर प्राप्त हो गये कि अपनी अनुभवसिद्ध प्रौढ़ रचनात्मक दृष्टि एवं कौशल के बूते संक्रमणशील भारतीय जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ के विभिन्न द्वन्द्वों-दबावों-विसंगतियों-संघातों से टकराने-मुठभेड़ करने के बजाय वे चौंक-चमत्कार भरी शब्द-क्रीड़ाओं और रचना लीलाओं में डूब गये? संक्रमण के पूर्वाधार और दिशा की सुसंगत समझ कायम कर पाने में और आम जीवन की भीषण यंत्रणादायी मानवीय त्रासदियों-विभीषिकाओं को समझ पाने से वे क्यों चूक गये?

राजेन्द्र यादव ने जिस दौर में मध्यवर्ग के अन्तरंग और बहिरंग के कतिपय महत्वपूर्ण पहलुओं को उभारने वाली विश्वसनीय कहानियाँ लिखी थीं, वह भी भारतीय समाज के संक्रमण का एक महत्वपूर्ण दौर था - नेहरू-कालीन "समाजवाद" नामधारी राजकीय पूँजीवादी विकास का दौर, जब भारतीय गाँवों में अभी पूँजीवादी संक्रमण का मात्र पूर्वाधार तैयार हो रहा था, लेकिन एक नया शहरी मध्यवर्ग, अपने स्वप्नों, स्वप्नभंगों, आकाँक्षाओं-निराशाओं के साथ नगरों-महानगरों में तेजी से फल-फूल रहा था और 'एलियनेशन' और महानगरीय सांस्कृतिक-आत्मिक संकट के घुन उसकी मानसिक और पारिवारिक दुनिया में प्रविष्ट हो चुके थे।

कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, रामकुमार, निर्मल वर्मा आदि ने अपने-अपने ढंग से तत्कालीन मध्यवर्गीय जीवन के प्रतिनिधिक यथार्थ और उसके केन्द्रीय संकट को पकड़ा और रचना की ज़मीन पर उतारा, लेकिन उनके पास कोई सुसंगत इतिहास-दृष्टि या वैज्ञानिक समाज-शास्त्रीय नज़रिया नहीं था। चीज़ों को उन्होंने अनुभववादी नज़रिए से देखा और उनके प्रति अनुभव सिद्ध आलोचना या महज त्रासदी-विशेष के प्रत्यक्षवादी-प्रकृतवादी चित्रण का सीमातिक्रमण कभी नहीं कर पाये। फिर भी रचनाकारों की अपनी पीढ़ी के ये प्रतिनिधि प्रायः शहरी मध्यवर्ग से ही आते थे, इसलिए उस दौर की इनकी रचनाओं में एक तरह की आधिकारिकता थी जो उन्हें विश्वसनीय बनाती थी। अमरकान्त और शेखर जोशी आदि जैसी नई कहानी आन्दोलन के जो लोग उपरोक्त सामाजिक पृष्ठभूमि से नहीं आते थे, उन्होंने उत्तरवर्ती दौर में भी बदलते यथार्थ को व्यापक सन्दर्भों में देखने-पकड़ने की कोशिशें कीं। पृष्ठभूमि के अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि वे मध्यवर्गीय अनुभववाद की सीमाओं का अलग-अलग अंशों में अतिक्रमण करते थे और तमाम विचलनों के बावजूद, कम से कम सचेतन तौर पर, द्वन्द्वात्मक पद्धति और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि के प्रति, श्रम की संस्कृति के प्रति उनकी स्पष्ट पक्षधरता थी। इनमें से भी अधिकांश लोग यदि चुक गये या घिसे-पिटे रुटीनी लेखन की चौहद्दियों में कैद हो गये और नये यथार्थ के संज्ञान की क्षमता खो बैठे, तो उसके कारण अन्यत्र थे। उनकी सफलताओं- विफलताओं के तर्क राजेन्द्र यादव या कमलेश्वर की सर्जनात्मकता के निश्शेष होने या निर्मल वर्मा के पुनरुत्थानवादी उपनयन संस्कार से भिन्न थे और उनकी चर्चा अलग से की जा सकती है।

साठ के दशक के अन्त में ही "रैडिकल भूमि सुधार" के न होने से तथा नेहरूवादी "विकास के वैकल्पिक मार्ग" की सीमाओं-परिणतियों के सामने आते-जाने के साथ ही एक ओर गाँव संघर्ष और संक्रमण के केन्द्र के रूप में उभरे, दूसरी ओर सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक चौतरफा संकट आवर्ती चक्रीय अन्तराल के बाद रह-रहकर धावा मारने लगे। सामाजिक आन्दोलनों-परिवर्तनों का यह दौर, कहा जाये कि "आन्दोलनकारी कला-साहित्य" का दौर था। अस्सी के दशक में पुनः नये विश्व

परिदृश्य के अनुरूप भारत में भी नये संक्रमण की ज़मीन तैयार होने लगी। इस समय तक भारतीय ग्राम्य जीवन भी अलगाव, विस्थापन, किसान-विभेदीकरण आदि पूँजीवादी विभीषिकाओं से ग्रस्त हो चुका था और शहरी मध्यवर्गीय जीवन रिक्तता, निराशा, ग़ैर जनतांत्रीकरण के एक नये दौर में प्रविष्ट हो चुका था। विगत सदी का अन्तिम दशक भारतीय सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक संरचना के नये ढाँचागत संकट की निरन्तर उपस्थिति के सर्वथा नये चरण की शुरुआत के साथ ही, एक ओर विपर्यय और दूसरी ओर युगीन संक्रमण का सर्वाधिक निर्णायक और जटिल-संश्लिष्ट बनावट-बुनावट वाला समय रहा। इस दौर तक आते-आते राजेन्द्र यादव कूपमण्डूकतापूर्ण लोकरंजकतावादी दलितवाद और नारीवाद की पैरोकारी करने के अतिरिक्त रचनात्मक स्तर पर इस लायक़ रह ही नहीं गये थे कि अपने रचनाशीलता के छूटे हुए सिरे को बढ़कर थाम्ह सकें। उनकी मध्यवर्गीय अनुभवसिद्ध आलोचना-दृष्टि और रचना-दृष्टि का जो सीमान्त था, वह भी अब काफ़ी पीछे छूट चुका है। आज के संश्लिष्ट जीवन के प्रतीतिगत यथार्थ की बहुपरती जटिलताओं को भेदकर सारभूत यथार्थ के संज्ञान और उसके कलात्मक पुनर्सृजन की चुनौतियों से जूझ पाना उनके लिए सम्भव नहीं रह गया और यह उनकी आत्मिक रिक्तता ही है जो आज महज चौंक-चमत्कार-सनसनी और विवाद पैदा करने में काम आ रही है।

काशीनाथ सिंह और रवीन्द्र कालिया राजेन्द्र यादव के बाद की पीढ़ी के रचनाकार हैं। वह समय जो परम्परा-भंजन और संस्कारबद्धता का निषेध करते हुए जीवन के कुरूप-उपेक्षणीय पहलुओं को सामने लाने का था, हर स्तर पर यथास्थिति के निषेध का था, उस दौर में इन लोगों की रचनाएँ भी चर्चा में थीं और निस्सन्देह उनकी वस्तुगत तौर पर एक सकारात्मक भूमिका भी थी। लेकिन आज पीछे मुड़कर देखें तो लगता है कि इन लेखकों की दृष्टि, पद्धति और उपकरण भी अनुभववाद और स्वच्छनतावादी विद्रोह से आगे के कतई नहीं थे। एक समय के अन्तरविरोधों में इनकी रचनाशीलता आनुभाविक ढंग से ही सही, लेकिन सही पक्ष में खड़ी थी। लेकिन आज के संक्रमणशील सामाजिक यथार्थ की प्रकृति एवं दिशा को नहीं समझ पाने के कारण ये लोग भी आज शब्द-क्रीड़ा और कथा-लीला में लगे हुए हैं।

काशीनाथ सिंह का उदाहरण लें। विद्रोही युवा पीढ़ी के जो लेखक-कवि नक्सलबाड़ी आन्दोलन की तरफ आकृष्ट हुए थे, उनमें वे भी एक थे। इस प्रभाव छाया के दौर में उन्होंने जनसंघर्षों और नक्सलवादी पात्रों को लेकर निहायत रुमानियत भरी कहानियाँ लिखीं और इस धारा से मोहभंग के बाद उन्होंने ऐसे पात्रों की उतनी ही खिल्ली उड़ाते हुए भी कहानियाँ लिखीं। वे कौन से सामाजिक अन्तरविरोध थे जिन्होंने नक्सलवादी आन्दोलन के विस्फोट को जन्म दिया? इस आन्दोलन ने भारतीय राजनीति और साहित्य-कला-संस्कृति पर क्या प्रभाव छोड़े? सामाजिक अन्तरविरोध की समझ या किन विचारधारात्मक विचलनों ने और किस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने

इस आन्दोलन को ठहराव और विघटन का शिकार बनाया? उस दौर में जगह-जगह जो संघर्ष हुए, पराजय के बावजूद उनकी उपलब्धियाँ क्या थी? और क्या कारण है कि आज भी, तमाम बिखरावों के बावजूद क्रान्तिकारी वाम का शिविर वैचारिक या राजनीतिक स्तर पर भारत में (या अन्यत्र भी) पूँजीवादी-व्यवस्था विरोधी शक्ति के रूप में मौजूद हैं? इन विचार-सूत्रों को हम काशी के नक्सलवाद प्रभावित दौर और मोहभंग के दौर - दोनों ही दौरों में ढूँढ़कर भी नहीं पा सकते। कारण कि तत्कालीन अन्तरविरोधों की आवयविक गतिशीलता की वैज्ञानिक समझ का अभाव दोनों ही दौरों में काशीनाथ की रचना-दृष्टि में मौजूद था। नतीजतन उनकी मध्यवर्गीय स्वच्छन्दतावादी रचना-दृष्टि यथार्थ से अपनी आनुभाविक पकड़ खोती हुई शिल्पगत वैचित्र्य की तलाश करती हुई अन्ततः "बनारसी ठाठ" के शरणागत हो गई और वे भी "रससिद्धी" को प्राप्त हो गये।

रवीन्द्र कालिया की रचना-यात्रा की भी इसी तरह पड़ताल की जा सकती है। पर उनकी श्रेणी तो वैसे भी अलग है। आपातकाल के दौर और संजय गाँधी जैसे फासिस्ट गुण्डे के मित्र इस रचनाकार की रचनात्मकता उसके विचलनों-भटकावों-अन्तरविरोधों से कभी भी मुक्त नहीं रही है। और वैसे भी हमारा उद्देश्य यहाँ इनमें से एक-एक रचनाकार की रचना-यात्रा का विश्लेषण प्रस्तुत करना नहीं है। इन रचनाकारों के पूरे इतिहास और रचनाओं में लक्षित विकास-प्रक्रिया को लेकर तफसील से बात की जा सकती है, बल्कि की जानी चाहिए। इसकी सख्त ज़रूरत है कि रचनाशीलताओं के क्षरण-विघटन और पतन की इस त्रासद गाथा को इतिहास-निःसृत तर्कों के साथ प्रस्तुत किया जाये, नुकसानदेह प्रतिमानों-..मिथकों को तोड़ा जाये और एक पीढ़ी के रचनात्मक पराभव या अवसान से सबक लेकर चीज़ों को साफ-सही ढंग से देखने-समझने का रचनात्मक हुनर विकसित किया जाये।

('वर्तमान साहित्य', मई 2001 में प्रकाशित)

एक यक़ीन की मौत या एक अकेली लड़ाई की शोकान्तिका?

"कोई ऐसा हो जिससे मैं सब कुछ कह सकूँ अपने भीतर की हर बात बिना दुराव-छिपाव। जितनी घुटन मैं महसूस कर रही हूँ सब कुछ अपने अन्दर रखे सबके आगे अच्छा करते-करते, हँसते-हँसते मैं बुरी तरह ऊब चुकी हूँ। सम्बन्ध लगता नहीं मैं चला पाऊँगी, लगातार स्थिति बदतर होती जा रही है, मेरे भीतर लगातार खालीपन लग रहा है। कोई नहीं जिससे मैं बात कर सकूँ, खूब सारी बात। अच्छा खुशहाल जीवन होगा इसमें तो मुझे संशय था ही, पर लगातार अपने को भुलावा देती थी (कि) बाद में सब कुछ बदल जायेगा। स्थिति अच्छी होगी, गाली-गलौच जैसी स्थिति तो नहीं ही आयेगी पर अब तो लगता है हाथापाई की स्थिति भी नज़दीक है। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसे कहूँ? कुछ समझ नहीं आ रहा। बहुत ही निराशावादी बातें सोचने लगी हूँ। मरना आसान बाकी सब कुछ मुश्किल नज़र आता है, पर मैं जीना चाहती हूँ। पर लगातार जीना मुश्किल होता जा रहा है। पहले लड़कर, सुनकर यह अहसास रहता था कि लौटने को घर तो है, वहाँ सुकून मिलेगा। मुझे याद है कि कैसे इसतरह की घटनाओं के बाद घर जाते हुए कितना सुकूनदायक लगता था, पर अब तो घर ही नहीं है। पैर के नीचे से ज़मीन खिसक गयी। दो कमरों की वो जगह शायद घर नहीं बन पाया और न आगे बन पायेगा।

अब जब भी कोई अच्छी-अच्छी उसूलों की बात करता है, तो अन्दर से हँसी और गुस्सा दोनों आते हैं। कि पता नहीं खुद ये कितनी कोशिश करते होंगे, कितना proces *चलाते होंगे, कितना स्त्री सम्मान जैसी अवधारणाएँ मन में होती होंगी। 'बहनचोद' जैसी गाली आम है एक पढ़े लिखे बुद्धिजीवी व्यक्ति के लिए जो अपने संस्कारों से निकलने के* proces *में हैं। "बहन की लौंड़ी" इस शब्द का मतलब मुझे नहीं पता पर सुन लेती हूँ क्योंकि कर्म ऐसे होते हैं और जब क्रोध इस सीमा तक आ जाये तो प्रिय बहनों को लेकर दी गयी ये गालियाँ भावों की अभिव्यक्ति बन जाती हैं। घटिया आदि तो आम बात है।*

मैं चाहूँ तो सबकुछ सही चल सकता है। प्रतिरोध करना बन्द कर दूँ, अच्छी

सुघड़ गृहिणी बन जाऊँ, पति के पैर पूजूँ (‘कोई भी लड़की मुझे पूजती’ अक्सर कहा जाने वाला जुमला), जुबान न चलाऊँ तो सब कुछ अच्छा ही अच्छा। अपने आसपास सिवाय एक व्यक्ति को मैंने पूर्णतः अपने संस्कारों से निकलने की कोशिश करते या निकलते नहीं देखा। बर्तन तुम्हें धोने पड़ेंगे तो माई लगवा लो, कपड़े धोना तो खैर सम्भव ही नहीं है। सफाई मुझे ज़रूरत ही नहीं महसूस होती। आज यह प्रश्न दिमाग में लगातार घूम रहा है ‘अपने आप को लेकर सजग रहने वाली नारी Feminist Approach के साथ वैवाहिक संस्था नहीं चला पाती है।’ अब तक जो Male dominating रहा है वो कैसे बदल जायेगा! पर बदलने की कोशिश जो है सो है लगातार। घर भागने की धमकी दी जाती है ताकि इस सारे proces की ज़रूरत ही न हो। आराम की ज़िन्दगी हो कोई Tension ही न हो। खैर देखें क्या होता है आगे।

तू ज़िन्दा है तो ज़िन्दगी की
जीत में यकीन कर

आज घुप्प अँधेरा है दिमाग सुन्न है पर... मुझे कोई चाहिए जिससे मैं अपनी इस ज़िन्दगी की समस्याओं को ज्यों का त्यों बता सकूँ। क्योंकि सब पूछते है, क्या है? क्यों उदास हो? और मैं लगातार टालती हूँ। अपना निर्णय है इसलिए ऐसी बदतर स्थिति बताने में लगता है अपनी ही हार है पर है तो। अक्सर निर्णयों के विभिन्न प्रभाव बाद में नज़र आते हैं। पर एक आराम की ज़िन्दगी के लिए समझौता नहीं। या तो पूरी मौत या पूरी ज़िन्दगी। आधा अधूरा कुछ नहीं। जिस दिन लगेगा बहुत थक गयी उस दिन बस बहुत आराम का रास्ता चुन लूँगी। फिलहाल हिम्मत है थकने का।

क्या तुम सब बोलने, पढ़ने, लोगों के करने से पहले सोचते नहीं क्या कर रहे हो? वाकई अच्छी बातें अच्छी लगती हैं। पर बड़ा ही कष्ट है इस अच्छी बात को अपनाने में।”



कुछ बिखरे कुछ उलझे-से ये विचार अर्चना की डायरी के पन्नों पर दर्ज मिले। अर्चना, जिसने वर्ष 2003 की भोर की उजास फूटने से ठीक पहले अपने लिए मृत्यु का चिर अन्धकार चुन लिया। वह एक आराम की ज़िन्दगी के लिए समझौता करने को तैयार नहीं थी। “या तो पूरी मौत या पूरी ज़िन्दगी। आधा अधूरा कुछ नहीं” - यह पागलपन भरा “त्रिया - हठ” ही तो था! यह एक अकेली लड़ाई थी, जिसमें अर्चना की हार हुई। लेकिन उस अकेली पराजित योद्धा ने बन्दी जीवन के बजाय मृत्यु को चुना। पुराने वर्ष के पटाक्षेप के चन्द घण्टों बाद ही, उसने अपने जीवन का पटाक्षेप कर लिया।

मेरे सामने अर्चना की डायरी के कुछ पन्नों की फोटो प्रतिलिपियाँ पड़ी हैं और अखबारों की कुछ कतरनें, जो उसकी एक अन्तरंग दोस्त ने भेजे हैं। उस घुप्प अँधेरे और दिमाग़ की सुन्नता का अहसास जैसे पूरे परिवेश में व्याप्त है। पुरुष वर्चस्ववादी सामाजिक संरचना की दमघोंटू गिरफ़्त में रोज़ जो औरतें मर रही हैं, मारी जा रही हैं या मौत जैसी ज़िन्दगी भोग रही हैं अर्चना की मौत उनमें से एक है और साथ ही, थोड़ी अलग भी। वह एक जागरुक, सोचने-समझने वाली, संवेदनशील और विद्रोही लड़की थी। अपनी स्थिति को समझने-विश्लेषण करने की क्षमता उसके पास थी। यह तर्कणा उसके पास थी कि वह सोच सके कि विवाह संस्था ही स्त्री की अस्मिता और स्वाभिमान पर चोट करती है। वह हठी भी थी। लेकिन यह मानना होगा कि वह कहीं न कहीं कमज़ोर थी। वह एक अकेली लड़ाई लड़ रही थीं वह अपनी यंत्रणा अकेली ढोती हुई घुल रही थी, क्योंकि उसे लगता था कि चूँकि उसने विद्रोह करके अन्तर्जातीय प्रेम विवाह किया था, इसलिए अपने वैवाहिक जीवन की विफलता को उजागर करना उसकी खुद की हार होगी। यहीं वह कमज़ोर या उससे भी कहीं अधिक नासमझ निकली। वह यह नहीं समझ सकी कि प्रेम भी जब विवाह के रूप में संस्थाबद्ध होता है तो फिर ऐतिहासिक रूप से विकसित इस संस्था की पुरुष स्वामित्ववादी निरंकुशता उसमें प्रविष्ट हो ही जाती है। वे पुरुष अपवाद ही होते हैं जो अपनी पत्नी को दोस्त मानें जो दाम्पत्य के पारम्परिक अर्थों-संस्कारों से न बँधे हों, जो सामाजिक वर्जनाओं के हवाले दे-देकर पत्नी को अनुगामिनी न बना देते हों, जो पत्नी के अलग विचार, अलग संगी-साथियों को स्वाकीरने की माद्दा रखते हों। अर्चना की तर्कणा अधूरी थी। वह यह नहीं समझ सकी कि उसके वैवाहिक जीवन की विफलता उसकी हार नहीं होती बल्कि पुरुषसत्तात्मक संरचना की अन्तर्निहित निरंकुशता का सत्यापन मात्र होती। लोगों के हँसने की परवाह करना भी एक हार है, वह यह नहीं समझ सकी। कि प्रेम करने का साहस भी तभी सम्पूर्ण हो सकता है, जब प्रेम के क्षरण-विघटन के बाद रिश्ते को तोड़ने का भी साहस हो। वह यह नहीं समझ सकी कि सच्चे प्रेम का यह तकाज़ा था कि वह अपनी समस्याओं-यंत्रणाओं को घर के जेलखाने की चारदीवारी से बाहर लाये। बेवकूफ़ लड़की यह नहीं समझ सकी कि तब शायद वह इतनी अकेली नहीं होती, इस हद तक अकेलेपन का शिकार नहीं होती।

"...इस जन अरण्य से दूर
मुझे उन फसलों तक जाने दो,
अपने यौवन को अमरत्व प्रदान करने के लिए
जिनका रस निचोड़कर तुम पीते हो,
मुझे उन पौधों तक जाने दो

जिनके कण्ठ फूटने को हैं,
उन विशाल सघन वृक्षों तक जाने दो मुझे
जिनके पत्तों से फूटती मर्मर ध्वनि
यहाँ सीधे मेरी आत्मा तक आ रही है।
ऐसे ही एक वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर
कम से कम एक बार,
भले ही वह ज़िन्दगी में आखिरी बार हो,
अपने मन से एक गीत गाना है मुझे
जिसकी कभी किसी ने फ़रमाइश न की हो।
जलते रेगिस्तान में ही सही,
कम से कम एक बार मैं
अपने लिए नृत्य करना चाहती हूँ।
मुझे अपने लिए एक बार
खुले आसमान के नीचे जाने दो
तारों से टपकती ओस सनी रोशनी में भीगने दो।
....
सहस्राब्दियाँ बीत चुकी हैं,
मैं अब थक चुकी हूँ दुर्गपति।
तुम्हारे किले की अदृश्य दीवारों से टकरा-टकराकर
मेरा सिर लहूलुहान हो रहा है,
उनमें गवाक्ष या द्वार टटोलते-टटोलते
मैं निढाल हो चुकी हूँ।
ये दीवारें कहाँ तक फैली हैं दुर्गपति,
कहाँ हैं द्वार?
और ये जो मेरी उँगलियाँ स्पर्श कर रही हैं
ये दुर्ग की दीवारों में पड़ी
दरारें ही हैं न दुर्गपति?"

(एक भूतपूर्व नगरवधू की दुर्गपति से प्रार्थना)

अर्चना ने दुर्ग से बाहर निकलने की चाहत छोड़ दी थी। जाहिर है कि वह दुर्ग की दीवारों में पड़ी दरारों को छू भी नहीं सकी, क्योंकि उसकी ऐसी कोशिश ही नहीं थी। उसे दुर्ग के भीतर ही मुक्ति की हवा-रोशनी की आस थी। अर्चना की आत्महत्या एक प्रतिनिधि घटना नहीं बल्कि एक प्रतीक घटना है। यह भारतीय मध्यवर्ग की प्रबुद्ध स्त्रियों की एक 'यूटोपिया' की मृत्यु का विकट रूपक भी है। अर्चना को "ज़िन्दगी की

जीत में यक़ीन" था। वह अकेला यक़ीन थका-हारा और फिर तब उसकी मौत हो गयी, जब एक निर्णय पर पहुँचकर अर्चना पंखे में फन्दा डालने के लिए चुन्नी ढूँढने लगी। यह एक अकेली लड़ाई की शोकान्तिका है जो जीवन के प्रेक्षकों और पात्रों से संवाद करना चाहती है। कथा की दृष्टि से यह शोकान्तिका तो अपरिवर्तनीय रहेगी, पर यदि प्रेक्षक का अपना 'फ्रेम ऑफ रेफरेन्स' और दिक्-काल परिप्रेक्ष्य दुरुस्त हुआ तो यह उसे सोचने-विचारने और नतीज़े तक पहुँचने में काफ़ी मदद कर सकती है।

अर्चना की डायरी के ये चन्द पन्ने स्त्रियों के जीवन, स्वप्नों-आकाँक्षाओं और पुरुष वर्चस्ववाद से जुड़े ढेरों प्रश्न उठाते हैं। इन पन्नों पर उस सामग्री का काफ़ी हिस्सा ढूँढा जा सकता है, जो हमारे आज के समय की आन्ना कारेनिना की त्रासद महागाथा की पुनर्निर्मिति का मसाला हो सकती है। विचारों और भावों की यह स्फुट इन्दराजी सिर्फ़ अर्चना की मनःस्थिति ही नहीं बतलाती बल्कि कई ऐसे गम्भीर सवाल उठाती है जिन्हें आज सोच-विचार और बहस के एजेण्डा पर होना ही चाहिए।



अर्चना कोई कमज़ोर व्यक्तित्व की या निराशावादी किस्म की लड़की नहीं थी। वह ज़िन्दादिल और साहसी भी थी (जैसा कि उसकी कुछ दोस्तों से पता चला) और स्वावलम्बी भी। वह दिल्ली के खजुरी मुहल्ले के सरकारी स्कूल में स्थायी शिक्षिका थी और दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की शोध छात्रा भी। जातिगत बन्धनों को तोड़कर और विद्रोह करके उसने सूरज प्रकाश से शादी की थी जो दिल्ली विश्वविद्यालय के वेंकटेश्वर कालेज में हिन्दी का प्रवक्ता है। यूँ सूरज प्रकाश अपने को प्रगतिशील और वामपन्थी कहता था और वामपन्थी छात्र आन्दोलन में सक्रिय भी रहा था। शादी के बाद उसकी प्रगतिशीलता का असली चेहरा सामने आने में देर नहीं लगी। बोहेमियन जीवन, शराबखोरी, अर्चना से घरेलू गुलामी की हर कसौटी पर पूरी-पूरी खरी उतरने की उम्मीद और ऐसा न होने पर लगातार गाली-गलौज और मानसिक उत्पीड़न। अर्चना अपनी इस नर्ककथा को डायरी के पन्नों पर तो दर्ज करती रही, लेकिन लोगों से छिपाती रही। उसे लगता था कि जिस समाज से उसने विद्रोह किया, वह उसकी खिल्ली उड़ायेगा और यह उसकी हार होगी। सिर्फ़ कुछ अन्तरंग दोस्तों को उसकी यंत्रणा का थोड़ा-बहुत अहसास था। उसकी ज़िन्दगी की तस्वीर उसकी डायरी के ऊपर उद्धृत अंशों से ही साफ़ है। 31 दिसम्बर की आधी रात को वह अपने पति के साथ नववर्ष की एक पार्टी से वापस घर लौटी और सूरज प्रकाश फिर एक और पार्टी में शामिल होने चला गया। भोर में क़रीब चार बजे (पोस्टमार्टम की रिपोर्ट के मुताबिक) उसने फाँसी लगाकर आत्महत्या की। यह उसका गहरा पराजय बोध ही था शायद, कि उसने अपने स्युसाइड नोट में अपनी आत्महत्या के लिए किसी को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया था। या शायद, वह सूरज प्रकाश को (अभी भी थोड़ा बहुत

संवेदनशील मानते हुए) माफ़ करने की "सजा" दे रही थी। या शायद यह विगत प्रेम की स्मृतियों की एक फलश्रुति थी। या शायद वह व्यक्तिगत प्रतिशोध या एक व्यक्ति को दण्ड देना निरर्थक मान रही थी और उसे सूरज प्रकाश में सारी पुरुष सत्ता का चेहरा नज़र आने लगा था। वजह चाहे जो भी हो, सूरज प्रकाश के ख़िलाफ़ आज यदि कोई प्रमाण है तो बस अर्चना की डायरी के ये पन्ने, जिनके आधार पर उसके ख़िलाफ़ कम से कम आत्महत्या के लिए प्रेरित करने का अभियोग तो बनता ही है। इन पंक्तियों के लिखे जाने तक वह फरार है।

पुलिस के स्युसाइड नोट के आधार पर सूरज प्रकाश को बेगुनाह मान लिया। अर्चना के अन्तिम संस्कार के दस दिनों बाद, बहुत मुश्किल से, उसकी माँ की शिकायत थाने में दर्ज हो पायी। मीडिया ने भी इस पूरे मामले के प्रति रहस्यमय बेरुखी दिखायी। पहली बार यह खबर 17 जनवरी को दिल्ली के अखबारों में आयी। इसका श्रेय अर्चना की कुछ दोस्तों को ही जाता है, जो लगातार सक्रिय रहीं। 21 जनवरी से विश्वविद्यालय के कुछ शिक्षक और छात्र भी इस मामले में सक्रिय हुए। वे विश्वविद्यालय प्रशासन से सूरज प्रकाश के निलम्बन की तथा प्रशासन से पूरे मामले की जाँच, सूरज प्रकाश की गिरफ्तारी और उसपर मुकदमा चलाने की माँग कर रहे हैं। लेकिन इन पंक्तियों के लिखे जाने तक (30 जनवरी तक) न तो उसका निलम्बन हुआ है, न ही गिरफ्तारी। यह समाज और प्रशासन के पुरुषवर्चस्ववादी नजरिए का ही द्योतक है। अधिकांश शिक्षित और आधुनिक विचारों के लोग भी पुरुष और परिवार के अनुकूल अपने को न ढाल पाने वाली स्त्री को सज़ा के काबिल ही समझते हैं और यह सज़ा मौत या आत्महत्या के मुकाम तक पहुँचा देने की भी हो सकती है!

अर्चना की मौत के बीस दिनों बाद विश्वविद्यालय कैम्पस में कुछ सुगबुगाहट हुई, यह सन्तोष की नहीं, बल्कि सोचने की बात है। पन्द्रह-बीस वर्षों पहले ऐसी किसी घटना पर विश्वविद्यायल कैम्पस में व्यापक आन्दोलन जैसी स्थिति पैदा हो सकती थी। अब उच्च शिक्षा के कुलीनीकरण और कैरियरवाद के घटाटोप में कैम्पसों में जनतांत्रिक चेतना और परिवेश का तेजी से क्षरण विघटन हुआ है। आश्चर्य नहीं कि इसी ज़मीन पर प्रतिक्रिया की राजनीति तेजी से अपने सामाजिक आधारों का विस्तार कर रही है।



सोचने के लिए कुछ और भी सवाल हैं, जो इस घटना के व्यापक परिप्रेक्ष्य से जुड़े हुए हैं। सूरज प्रकाश स्वयं को वामपन्थी विचारों को मानने वाला एक दलित बुद्धिजीवी है। ऐसे कथित वामपंथियों-प्रगतिशीलों की कमी नहीं है जो अपने निजी जीवन में पितृसत्तात्मक समाज के सभी मूल्यों-संस्कारों को जीते है। ऐसे तमाम लोगों

को अपने "महान क्रान्तिकारी चिन्तक" होने का खूब मुगालता होता है। पूरा समाज न सही तो कम से कम "उसकी स्त्री" उसकी "महानता" को, उनकी "व्यस्तताओं-परेशानियों" को समझे, उनकी सनक को बर्दाश्त करे और सुघड़ गृहिणी बनकर उसके लिए कुर्बानी दे, यह उनकी अपेक्षा होती है। **मदनमोहन** की एक कहानी **'लाली'** में ऐसे लोगों के पारिवारिक जीवन का बड़ा ही विश्वसनीय खाका खींचा गया है। सूरज प्रकाश ऐसे ही अराजक-अकर्मक नकली प्रगतिशीलों में से एक हैं। जो अपने विचारों को सामाजिक प्रतिष्ठा और तरक्की की सीढ़ियाँ बनाते रहते हैं, गोष्ठी कक्षों से लेकर काफ़ी हाउस तक डोलते रहते हैं, और फिर रात को "सामाजिक सरोकार-जनित" अपने तनावों को शराब के प्यालों में डुबोते रहते हैं। ऐसे "वामपन्थी" चरित्रों ने वामपंथ के विरुद्ध पूर्वाग्रह पैदा करने में अहम भूमिका निभाई है। दिल्ली की अनुष्ठानिक सरगर्मियों और अकर्मक विमर्शों में ऐसे लोग भी खूब बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते है। जहाँ कोई भी जोखिम नहीं और सिर्फ़ बातों का सौदा होता हो, वहाँ भला सूरज प्रकाश जैसे लोगों के असली चेहरे की शिनाख्त भी कैसे हो सकती है?

सूरज प्रकाश एक दलित बुद्धिजीवी है। हम यह तो कत्तई नहीं कहते कि सभी या अधिकांश दलित बुद्धिजीवी ऐसे ही होते हैं, लेकिन दलितों के बीच से जो एक बुद्धिजीवी अभिजन समाज पैदा हुआ है, उसमें सूरज प्रकाश जैसे बहुतेरे मिल जायेंगे जो दलित उत्पीड़न पर खूब गरमागरम बातें करते हैं लेकिन लेक्चरर, अफ़सर या पत्रकार बनने के बाद सुविधाएँ जुटाने की होड़ में किसी से पीछे नहीं रहते, पुराने अभिजनों की कुत्सित जीवन-शैली की भोंडी नकल करते हैं तथा अपने निजी और पारिवारिक जीवन में उन सभी प्रतिगामी एवं विलासितापूर्ण मूल्यों एवं आदतों को अपना लेते हैं जो पुराने अभिजनों की विशिष्टता होती हैं। सवर्ण अभिजनों से मिलने वाले अपमान एवं उपेक्षा के चलते, और अपनी पहचान की खातिर, ऐसे लोग दलित-प्रश्न पर खूब बोलते हैं। पर दलितों की नब्बे फीसदी मेहनतकश आबादी की पीड़ा और लड़ाई से इनका कुछ भी लेना-देना नहीं होता। सारे दलितों की सामाजिक मुक्ति के संघर्ष के बजाय ऐसे लोग उनके नाम पर महज रियायतें माँगते हैं और उन्हें भी अपनी जेब में धर लेते हैं। राजेन्द्र यादव जैसे जो लोग वर्गेतर-वर्गोपरि भाषा में दलित-प्रश्न पर घरघोर चिन्तन कर रहे हैं, उन्हें दलित अभिजन समाज के एक हिस्से के भीतर पैठी हुई प्रतिक्रियावादी कुलीनता और सुविधाभोगी अवसरवाद की चर्चा करने में संकोच होता है। हाल के वर्षों में दलित मुक्ति के जो नकली वामपन्थी, एन.जी.ओ. पंथी पैरोकार पैदा हुए हैं वे भी वास्तव में सुविधाभोगी दलित अभिजन समाज से ही गलबहियाँ डाले घूम रहे हैं। दलितों और स्त्रियों की स्थिति पर एक साथ चर्चा का खूब चलन है। लेकिन पढ़े-लिखे दलितों के एक बड़े हिस्से के भीतर भी पुरुषवर्चस्ववाद की संस्कृति सवर्णों जितनी ही मजबूती से जड़ जमाये मिलती है। दलित मज़दूरों और गाँव के ग़रीबों में वह उस रूप में नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ इसका

भौतिक आधार ही नहीं है। यह चर्चा किसी को प्रसंगान्तर लग सकती है, लेकिन मैं साहस करके यह कहना चाहती हूँ कि दलितों का जो हिस्सा आम दलितों से कटकर अभिजन समाज में शामिल हुआ है, उसके निजी और पारिवारिक जीवन में प्रतिगामी संस्कृति की जो विकृत अभिव्यक्तियाँ देखने को मिलती हैं उनमें पुरुष-वर्चस्ववाद प्रमुख है। सूरज प्रकाश कोई अपवाद नहीं है। मैंने स्वयं ऐसे कई चरित्र देखे हैं।



अर्चना की डायरी से उभरने वाले कुछ और महत्वपूर्ण पहलुओं पर भी चर्चा ज़रूरी है। अर्चना अपने अनुभव से इस नतीजे पर पहुँचती है कि विवाह संस्था (चाहे वह प्रेम विवाह ही क्यों न हो) अपनी आन्तरिक संरचना की दृष्टि से स्त्री-उत्पीड़क है, वह स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता की इजाजत नहीं देती। वह लिखती है, ***"आज यह प्रश्न दिमाग में लगातार घूम रहा है, - 'अपने आप को लेकर सजग रहने वाली नारी Feminist Approach के साथ वैवाहिक संस्था नहीं चला पाती है। अब तक जो Male dominating रहा है वो कैसे बदल जायेगा!"*** अर्चना के ये आनुभविक निष्कर्ष मार्क्सवाद की इस प्रसिद्ध स्थापना की ही पुष्टि करते हैं कि विवाह एकनिष्ठ प्यार का आदर्श रूप नहीं बल्कि स्त्री-दमन का उपकरण है, एक "संस्थाबद्ध वेश्यावृत्ति" है। स्त्री पुरुष के बीच वास्तविक एकनिष्ठ प्यार केवल उनके बीच की समानता पर ही आधारित हो सकता है और इसके लिए एक समतामूलक सामाजिक ढाँचे का होना ज़रूरी है। उत्पीड़न चाहे नग्नतः प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, पूँजीवादी समाज में (और सभी पूर्ववर्ती वर्ग समाजों में) परिवार और विवाह की संस्थाएँ अपने मूल रूप में स्त्री-उत्पीड़क होती हैं, स्त्री-अस्मिता-हंता होती हैं।

अक्सर यह भी कहा जाता है कि स्त्रियाँ यदि आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हों और संस्कार से स्वतंत्र व्यक्तित्व की हों तो वह अपनी आज़ादी हासिल कर सकती हैं। अर्चना आर्थिक रूप से स्वावलम्बी थी और उसने विद्रोह करके अपनी मर्जी से शादी की थी। पर वह हार गयी, क्योंकि उसे लगा कि पुरुष वर्चस्ववाद के सर्वग्राही परिवेश में वह अकेली है। आर्थिक स्वावलम्बन, स्वतंत्र अस्मिता, विद्रोह का साहस - ये आज़ादी की कुछ ज़रूरी पूर्वशर्तें हैं, पर आज़ादी महज इन्हीं से हासिल नहीं हो जाती। इनसे स्त्री की आज़ादी के लिए लड़ने की आज़ादी ज़रूर मिल सकती है। आज स्त्री की सापेक्षिक आज़ादी अपनी आज़ादी के लिए, पूरी सामाजिक मुक्ति के लिए लड़ाई में शामिल होकर ही मिल सकती है। आज तो इतना ही सम्भव है। शेष भविष्य की बात है। आने वाली पीढ़ियों की बात है। स्त्री पुरुष के बीच समता पर आधारित वास्तविक प्यार भी यदि आज कहीं सम्भव हो सकता है तो केवल उन्हीं लोगों के बीच जो स्वयं सम्पत्ति-सम्बन्धों से निर्णायक विच्छेद करके, सम्पत्ति सम्बन्धों पर कायम

सामाजिक ढाँचे के विरुद्ध संघर्षरत है। यह अलग से एक विस्तृत चर्चा का विषय है। लेकिन मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों का एक बड़ा हिस्सा भी आज इसकदर दुनियादार हो चुका है, इस हद तक पराजय-बोध से भर चुका है और इस हद तक अपनी इतिहास-दृष्टि खो चुका है कि ये बातें उसे भावुकतापूर्ण यूटोपिया लगने लगी हैं। ऐसा ही होता है जब मनुष्य **"भविष्य की कविता"** में अपनी आस्था खो देता है।

अर्चना की आत्महत्या पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री की नियति का ही एक उदाहरण है। यह एक अकेले विद्रोह का त्रासद अन्त था। यह एक एकाकी संघर्ष की पराजय थी और एक यूटोपिया की भी। लेकिन यह नेपथ्य में ओझल बहुतेरे जलते सवालों को एक बार फिर हमारी आँखों के एकदम सामने रख गयी है। इनमें सबसे प्रत्यक्ष और मुखर प्रश्न यह है कि तमाम अर्चनाएँ समझौता करके सुघड़ गृहिणी बन जाने या अपने गले में फन्दा डालने के बजाय अपनी जद्दोजहद को घर की चारदीवारी से बाहर सड़क पर ला देने के बारे में कब सोचेंगी? कब वे समझेंगी कि वे अकेली नहीं हैं? जब ज़्यादातर अर्चनाएँ ऐसा सोचने लगेगीं तब पुरुष आधिपत्यवाद के गले में डालने के लिए लोहे का एक बहुत मजबूत, बहुत भारी फन्दा तैयार करने का काम एकदम से तेज़ हो जायेगा। और भूलना नहीं होगा कि यह प्रश्न समग्र सामाजिक मुक्ति परियोजना का भी एक अपरिहार्य मुद्दा है।

('हंस' अप्रैल, 2003 में प्रकाशित)

बाज़ार-उपनिवेशवाद के मायाजगत में किताबें, लेखक और पाठक

पश्चिम के विकसित देशों से लेकर भारत जैसे कम शिक्षित आबादी वाले पिछड़े पूँजीवादी देश तक में पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय पुस्तकों को सिर्फ एक उपभोक्ता सामग्री में तब्दील कर देने का षड्यंत्रकारी कुचक्र या धन्धा मात्र बनकर रह गया है।

ज्ञान की सामाजिक सम्पत्ति को निजी-सम्पत्ति में रूपान्तरित करने का काम तो सहस्राब्दियों पहले ही सम्पन्न हो चुका था। आज के पूँजीवाद ने ज्ञान के स्रोतों-उपादानों का शोषण-शासन के उपकरण के साथ ही एक उपभोक्ता सामग्री बना डाला है। इलेक्ट्रानिक मीडिया का वर्चस्व कायम होने के बाद आज पूँजी के अधिपति ज़्यादा प्रभावी ढंग से यह तय कर रहे हैं कि हमें कम से कम पढ़ना चाहिए और यह कि क्या पढ़ना चाहिए! वे हमारी रुचियाँ ढालते हैं (यह भी उनका एक नया उद्योग है) और फिर अपने अन्य मनोनुकूल मालों की तरह पुस्तकों का बाज़ार तैयार करते हैं और फिर अगले ही दिन 'वर्दी वाला गुण्डा' या 'गुण्डे वाली वर्दी' या ऐसी ही कोई और कचरा पुस्तक बस स्टेशनों-रेलवे स्टेशनों और महानगरों के स्टालों से लेकर सुदूरवर्ती कस्बों तक में पटी पाई जाती है।

इसका एक दूसरा पहलू भी है। तथाकथित उच्चस्तरीय और गंभीर पुस्तकों में, किसका बाज़ार बनाना है और माल के रूप में उसे खपाना ही है, इसका पर्दे के पीछे छिपा हुआ एक पूरा तंत्र है। वे पुस्तकें और वे लेखक केन्द्र और राज्य स्तर की दर्जनों अकादमियों-संस्थानों में से एक या कुछ एक द्वारा अथवा पूँजीवादी प्रतिष्ठानों में से किसी एक द्वारा पुरस्कृत होकर मान्यता व चर्चा के अधिकारी बनते हैं और जनता के पैसे से चलने वाले सरकारी विभागीय अथवा सार्वजनिक पुस्तकालयों में उनकी कई-कई प्रतियों की खरीद करके प्रकाशक का मुनाफ़ा सुनिश्चित बना दिया जाता है।

इसका तीसरा पहलू तो और अधिक सूक्ष्म षड्यंत्रपूर्ण है। ठीक-ठाक कमा-खा लेने वाले बुद्धिजीवी समुदाय के भीतर (जो "पापी पेट की खातिर" क्रान्ति के विज्ञान को भी बेच खा सकता है और बेंचता है) यदि **कॉडवेल, ग्राम्शी, फिशर, लूकाच,**

ब्रेख्त या **मार्क्स** से लेकर **माओ** तक के साहित्य की खपत का 'स्कोप' है तो उसे छापा जाता है - अंग्रेजी में भी और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुदित करके भी। कीमत दो ढाई सौ रुपये से लेकर हज़ार रुपये तक कुछ भी हो सकती है। महान लेखकों की ग्रंथावलियाँ-रचनावलियाँ छपती हैं - आश्चर्यजनक कीमतों पर पुस्तकालयों और हैसियतदार बुद्धिजीवियों द्वारा खरीदी जाती है और आम पाठकों की पहुँच से बाहर अभिजन समाज के क़ैदखानों में क़ैद हो जाती हैं। फिर यह शोर मचाया जाता है कि समाज में पढ़ने की आदत समाप्त हो रही है, शब्द मर रहे हैं या जनता की रुचि घटिया होती जा रही है। आम पाठक, आम युवा **निराला** या **मुक्तिबोध** को भी नहीं पढ़ सकता है और छः या सात सौ रुपये कीमत वाली अंग्रेजी में प्रकाशित **भगतसिंह की डायरी** भी नहीं और हज़ारों रुपये कीमत वाली **राहुल सांकृत्यायन** की ग्रन्थावली या बेहद महँगी उनकी फुटकल पुस्तकें भी नहीं। प्रकाशक क्रान्तिकारी या पक्षधर साहित्य भी छापता है तो सिर्फ बाज़ार देखकर या सत्ता के लिए उपयोगी साहित्य होने की स्थिति में उसके द्वारा संरक्षण, अनुदान या सरकारी खरीद की गारण्टी लेकर। जो प्रकाशक भगतसिंह की रचनाएँ और मार्क्सवादी-गौरवग्रन्थ प्रकाशित करते हैं, वही विहिप के अशोक सिंघल की पुस्तक भी छाप सकते हैं।

सरकारी पुस्तकालय प्रकारान्तर से जनता की जेब काटकर प्रकाशकों का मुनाफ़ा सुनिश्चित करने के उपकरण मात्र हैं। बेहद महँगी किताबें - साहित्य से लेकर अंग्रेजी में छपने वाली इतिहास और समाज विज्ञान की किताबें (जिनमें स्वनामधन्य मार्क्सवादी इतिहासकारों और विद्वानों की किताबें भी शामिल हैं) तक इन पुस्तकालयों में खरीदी जाती हैं जिनका सारा बोझ आम जनता के ही ऊपर पड़ता है। पुस्तक प्रकाशन उद्योग के लिए यह एक सरकारी संरक्षण मात्र है। ये सभी पुस्तकालय अभिजन संस्थान है। राष्ट्रीय आन्दोलन और आज़ादी के ठीक बाद कस्बों गाँवों तक में सर्वजन सुलभ पुस्तकालयों की स्थापना का जो सिलसिला आम जनता की पहलक़दमी से जारी था वह सामाजिक जीवन की गतिरुद्धता के साथ समाप्त हो चुका है।

यह पूरा तंत्र इतने शातिराने ढंग से खड़ा है कि किसी को सीधे-सीधे दोषी नहीं माना जा सकता। प्रकाशक का अपना रोना है कि क़ागज़ की कीमत कुछ ही वर्षों में चौगुनी बढ़ गई, छपाई इतनी महँगी हो गई, वह क्या करे! देशी कागज़ कारख़ाने का मालिक अपने उद्योग के संकट और अन्तरराष्ट्रीय काग़ज उद्योग के दबावों का रोना रोने लगेगा। प्रेस के मालिक मुद्रण उद्योग की मंदी और संकटों पर बात करते हुए छाती पीटकर विलाप करने लगेंगे। तो फिर दोषी कौन है? और जो है, उसके खिलाफ एकजुट संघर्ष की कोई ज़मीन क्यों नहीं तैयार हो पाती? - इसलिए कि ढोल की पोल कुछ और है। प्रधान बात प्रकाशक के लिए, कागज कारख़ाने के मालिक के लिए और प्रिण्टिंग प्रेस के मालिकों के लिए अपना मुनाफ़ा है। उनका सारा रोना

अपने मुनाफ़े को लेकर है और उनका यदि कोई संकट है तो वह पूरी पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली और उत्पादन तंत्र का संकट है और बाज़ार का संकट है। वे इस संकट का सारा बोझ आम जनता के सिर पर और आम लेखक के सिर पर डाल देना चाहते हैं।

मार्क्स ने अपने सुप्रसिद्ध कृति **अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त** में लिखा था कि *लेखक का रचना कर्म एक ही साथ उसकी नैसर्गिक वृत्ति और **अनुत्पादक श्रम** होने के साथ ही **उत्पादक श्रम** भी हो सकता है।* उन्हीं के शब्दों में, *"मिल्टन ने 'पैराडाइज़ लॉस्ट' उसी आवश्यकतावश लिखा था जिस आवश्यकतावश रेशम का कीड़ा रेशम पैदा करता है। यह उनके स्वभाव का क्रियाकलाप था। आगे चलकर उन्होंने अपनी रचना पाँच पौंड में बेच दीं। परन्तु लाइपज़िग का साहित्यिक सर्वहारा जो अपने प्रकाशक के लिए यह या वह पुस्तक तैयार करता है (उदाहरण के लिए, राजनीतिक अर्थशास्त्र की गाइड बुक), **उत्पादक श्रमिक** है, इसलिए कि उसकी उपज शुरू से ही पूँजी के अधीन होती है और केवल उस पूँजी को बढ़ाने के लिए मूर्त रूप ग्रहण करती है। जो गायिका अपना गीत अपनी जिम्मेवारी तथा अपने जोखिम पर बेचती है, वह **अनुत्पादक श्रमिक** है। परन्तु वह गायिका, जिसे कोई उद्यमपति अपना धन बढ़ाने के लिए गाने के वास्ते निमंत्रित करता है, **उत्पादक श्रमिक** होती है, इसलिए कि वह पूँजी उत्पादित करती है।"* पुनः उन्हीं के शब्दों में, *"लेखक उत्पादक श्रमिक है, इसलिए नहीं कि वो विचारों का उत्पादन करता है, बल्कि इसलिए कि वह प्रकाशक को, जो उसकी पुस्तकें प्रकाशित करता है, समृद्ध बनाता है, याने वह उस हद तक उत्पादक है, जिस हद तक वह किसी पूँजीपति का उजरती श्रमिक है।"* साम्राज्यवाद के युग में और विशेषकर भूमण्डलीकरण या बाज़ार-उपनिवेशवाद के वर्तमान नये दौर में आम लेखक पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय के विराट इजारेदार तंत्र का एक उजरती मज़दूर, एक उत्पादक बौद्धिक मज़दूर से अधिक कुछ नहीं रह गया है। जबकि बड़े लेखक (खुले सत्ताधर्मी और छद्म क्रान्तिकारी महामहिम गण भी) उसी तरह विनियोजित अधिशेष का एक हिस्सेदार बन चुका है जैसा कि मज़दूरों से ही ऊपर उठकर 'लेबर अरिस्टोक्रेसी' का एक हिस्सा विकसित हो जाता है।

भूतपूर्व सोवियतसंघ के एक संशोधनवादी समाजशास्त्री **एस कुकार्किन** ने यह बिल्कुल सही इंगित किया है कि *'पुस्तक प्रकाशन पर नियंत्रण के लगातार विश्वव्यापी एकत्रीकरण तथा बैंकों की छत्रछाया में विशालकाय पुस्तक व्यवसाय समुच्चयों की स्थापना ने बीसवीं शताब्दी के इन "कला के संरक्षकों" को अपने आपको पुस्तक बाज़ार का एकछत्र मालिक, लेखकों का "मार्गदर्शक और परामर्शदाता" तथा पाठकों की रुचि का विधायक मान लेने की अनुमति प्रदान कर दी है।'*

विश्वस्तर के पूँजीवादी एकाधिकारी घराने आज प्रकाशन व्यवसाय में घुसकर पुराने प्रकाशकों को निगलते जा रहे हैं और अब प्रकाशन का वितरण विषयक सहकार

समझौतों के रूप में यह प्रवृत्ति हमारे देश में भी घुसपैठ कर चुकी है। अमेरिका में बिजली के सामानों से लेकर रेफ्रिजरेटर, कॉफी मशीन व डाइनेमो बनाने वाली **'इण्टरनेशनल मशीन्स एण्ड जनरल इलेक्ट्रिक्स'** का प्रकाशन उद्योग में घुसना, डुप्लीकेशन के साजो-सामान के निर्माता **'जिरोक्स'** द्वारा **'अमेरिकी एजूकेशन पब्लिशिंग'** और **'युनिवर्सिटी माइक्रोफिल्म्स'** सहित प्रकाशन गृहों के एक पूरे समूह को निगल जाना तथा **आर.सी.ए.** और **सी.बी.एस**. जैसी बड़ी रेडियो-टी.वी. कम्पनियों द्वारा **रैण्डम हाउस, हॉल्ट,रीन हार्डस** और **विंस्टन** जैसी प्रकाशन कम्पनियों पर कब्जा जमा लेना - ये सभी घटनाएँ आज पुरानी पड़ चुकी हैं। आज तो **रुपर्ट मर्डोक** के चर्चे हैं जो न केवल इलेक्ट्रानिक संचार क्रान्ति के नये मसीहा है, बल्कि पूरे पश्चिम के प्रतिष्ठित अखबारों और प्रकाशन गृहों को भी निगलने के लिए जीभ लपलपा रहे हैं। पश्चिम के एक भूतपूर्व प्रकाशक का कहना है कि आज बैंकों, शेयर बाज़ारों और वित्तीय मामलों पर पकड़ रखने वाला और मुनाफ़ा उगलते किसी तरह के उद्योग का मालिक एक सफल व्यावसायिक प्रकाशक हो सकता है।

भूमण्डलीकरण का दौर, बाज़ार उपनिवेशवाद या आर्थिक नवउपनिवेशवाद का नया विश्व ऐतिहासिक दौर, प्रकाशन जगत की और उसमें लेखक की तथा पाठक की पश्चिम में मौजूद उपरोक्त स्थिति को भारत जैसे अर्द्ध औद्योगिक, पिछड़े हुए और कम शिक्षित देशों तक विस्तारित कर रहा है - और उसी रूप में नहीं, बल्कि और अधिक विकृत, नग्न और उत्पीड़क रूप में।

सरकारी और ग़ैर सरकारी संसाधन सम्पन्न महानगरीय पुस्तकालय विदेशी मुद्रा खर्च करके पश्चिमी प्रकाशकों की महँगी पुस्तकों की खरीद पर अपने खरीद मद का बहुलांश खर्च कर रहे हैं। स्थापित विदेशी प्रकाशक स्थानीय प्रकाशनों से बड़े पैमाने पर 'कोलैबोरेशन' करके ज्ञान पिपासु आम पाठकों की जेबे कतर रहे हैं तथा ललचा रहे हैं और कुण्ठित कर रहे हैं। भारतीय भाषाओं के लेखकों के अंग्रेजी अनुवाद छापकर, उन्हें उपकृत करके "झुण्ड में शामिल कर लेने" के उद्यम भी जारी हैं। बचे-खुचे आम पाठक उपभोक्ताओं के बाज़ार पर हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बड़े प्रकाशक हावी हैं। प्रकाशन की दुनिया के इस विलम्बित लेकिन तीव्र (साथ ही, संकटग्रस्त भी) पूँजीवादी विकास में कुछ बड़े प्रकाशक घरानों का परस्पर विलय भी हो रहा है और कुछ छोटे प्रकाशक तीन-तिकड़म और नौकरशाही पर पकड़ के चलते बड़े होते जा रहे हैं जबकि ढेरो छोटे प्रकाशक लेखकों की रायल्टी की डण्डीमारी और जेबकतरी करने के बावजूद किताबों के बाज़ार पर अपनी कमज़ोर पकड़ और उथली पैठ के कारण उजड़ते जा रहे हैं।

पुस्तकों की सरकारी खरीद, पब्लिकेशन ग्राण्ट, पुरस्कार आदि के द्वारा निर्मित तंत्र और पूरे देश में एक विराट अट्टालिका बन चुका है जिसमें स्थापित वरिष्ठ, घोषित कलावादी और "वामपन्थ" की काली कमरिया ओढ़कर मलाई चाटने वाले लेखकों का

एक 'विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता समुदाय' भी लूट के माल में हिस्सेदार की हैसियत से बैठा हुआ है और नीचे प्रवेशद्वार पर उन्हीं को आदर्श मानने वाले अति महत्वाकांक्षी कैरियरवादी बहुतेरे युवा लेखकों-कवियों की लम्बी कतार खड़ी है। प्रायोजित आलोचनाओं-चर्चाओं-पुरस्कारों की धकमपेल है।

किताबों के उत्पादन और वितरण के इस पूरे तंत्र में छोटे लेखक बौद्धिक श्रम के उत्पादक श्रमिक की स्थिति में हैं - पर संगठित नहीं असंगठित क्षेत्र के मज़दूर के समान। उन्हें अपनी ही स्थिति की कोई स्पष्ट-सुसंगत समझ नहीं है।

पश्चिमी जर्मनी के एक कलाकार **हांस मुंच** ने आज से काफ़ी पहले बादेन-बादेन में एक व्याख्यान के दौरान कहा था कि *ख्याति का प्रेक्षागृह और सर्राफे की दुकानें एक ही मण्डी में पड़ते हैं।* आज से आधी सदी पहले ही अमेरिका के एक अकादमीशियन **प्रो.वाल्टर एबेल** ने कहा था, *"हमारी संस्कृति का कोई भी पक्ष प्रत्यक्ष रूप से उसी अनुपात में फलता-फूलता है, जिस अनुपात में उसे औद्योगिक सम्पत्ति के विधाताओं का प्रश्रय प्राप्त होता है।"* आज बाज़ार की शक्तियों के हमारे जीवन पर चहुँमुखी जकड़ और भूमण्डलीय प्रभुत्व के काल में यह बात पचास वर्षों पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक सही है।

लेकिन इन सारी बातों का तात्पर्य क्या एक निरुपायता था अवशता का अहसास पैदा करना है? - कदापि नहीं। सच यह है कि रास्ता चाहें जितना भी कठिन और लम्बा हो, एक ही है और वह यह कि किताबों की दुनिया में भी लेखक को बाज़ार उपनिवेशवाद के इस नये मायाजाल को तोड़ने के लिए अपने आम पाठकों के साथ और उन सभी सामाजिक शक्तियों के साथ खड़ा होना होगा जो आज बाज़ार की निर्मम-निरंकुश शक्तियों के खुले हमले का शिकार हो रही हैं। जिसे हद तक और जिस रूप में लेखक एक पूँजीपति का उजरती मज़दूर और उत्पादक श्रमिक है, उस हद तक और उस रूप में संघर्ष के रूप, रास्ते और संयुक्त मोर्चे के बारे में तो उसे सोचना ही होगा। लेखक समुदाय को अपनी कलम से जनता की संस्कृति की लड़ाई लड़ते हुए प्रकाशन जगत के इज़ारेदारों के खिलाफ और उनसे गँठजोड़ किये हुए कला-साहित्य के प्रतिष्ठानों-अकादमियों-पुस्तकालयों-पुरस्कारों के सूत्रधारों-प्रणेताओं के खिलाफ संगठित होकर, गला खोलकर बोलना होगा। उन्हें प्रकाशन उद्योग और इन संस्कृति प्रतिष्ठानों के आम कर्मचारियों-कामगारों के साथ संघर्ष का साझा मोर्चा और मुश्तरका कार्यक्रम बनाने के बारे में भी सोचना होगा। इसके साथ ही, व्यक्तिगत पहलकदमियों से आगे बढ़कर, जनपक्षधरता के एक व्यापक आम सहमति के दायरे में, एक आम सहमति और सामूहिक पहल के आधार पर उन्हें जनता के सही पक्षधर साहित्य के प्रकाशन और वितरण का तंत्र खड़ा करना होगा। इस मुद्दे पर एक सार्थक संवाद की, खुले दिलो-दिमाग से, ईमानदार शुरुआत होनी चाहिए। इसमें देर नुकसानदेह है। जनता के साहित्य और जनता के साहित्यकार-दोनों के लिए और

जनता की संस्कृति के लिए और उसकी वास्तविक मुक्ति के लिए नये सिरे से संगठित होने वाले सामाजिक संघर्ष के लिए भी।

इस आलेख का अन्त हम सुप्रसिद्ध इतावली लेखक-फिल्मकार **पियरे पाओलो पेसोलिनी** का एक बहुप्रचारित वक्तव्य से करना चाहते हैं। प्रसिद्ध **स्ट्रेगा पुरस्कार** की प्रतिस्पर्द्धा में जब **पेसोलिनी, सिज़ारे जवात्तिनी** और **एन्तोनियो बोरोल्लिनी** परीक्षा के अन्तिम चक्र में पहुँचे हुए थे, उस समय पेसोलिनी ने अपना नाम वापस ले लिया। इस मौक़े पर उसने कहा था : *"मैं विद्यमान परम्परा को तोड़ रहा हूँ और कुछ ऐसे मामलों में जिनको लम्बे समय से आदतवश, मैं व्यापारी दुनिया के प्रतिनिधियों की क्षमता से परे मानता रहा हूँ - एक व्यापारिक प्रकाशक के हस्तक्षेप के विरोध में इस मंजिल पर पहुँच कर, अपना नाम वापस ले रहा हूँ। यह हस्तक्षेप नकली मूल्यों के निर्माण तथा असली मूल्यों के विनाश का पथ प्रशस्त कर रहा है। मैं पुनः कहता हूँ : उनके विनाश का, क्योंकि जैसा प्रतिक्रियावादी अमरीका के उदाहरण से प्रकट होता है, नव-पूँजीवाद धर्मानुष्ठान के बल पर नहीं खड़ा होता। गुप्त निर्देश और समझौते आम बात हैं। अमुक पुस्तक पर विचार किया जा सकता है। जबकि अमुक पुस्तक की उपेक्षा चुपके से कर देनी चाहिए; अमुक पुस्तक को अवश्य पुरस्कार मिलना चाहिए जबकि अमुक पुस्तक को नहीं। यदि किसी पत्रिका का सम्पादक किसी खास पुस्तक के बारे में अनुकूल समीक्षा छाप दे तो उसके ऊपर विपत्ति टूट पड़ती है। और जनाब लेखक यदि आप किसी दूसरी पुस्तक की प्रशंसात्मक समीक्षा नहीं छापते तो मैं आपसे उसकी कीमत चुकवा कर दम लूँगा; मेरी कोई भी सचित्र पत्रिका आपके बारे में कभी एक भी शब्द नहीं छापेगी। और विद्वान महोदय क्या आप किसी अन्य विद्वान के मित्र हैं? ठीक है : फलाँ के साथ विश्वासघात करो अन्यथा आप को मेरे प्रकाशन गृह से कोई नया अनुबन्ध पत्र नहीं मिलेगा। क्या आप किसी निर्णायक मण्डल के सदस्य हैं, तो आप उस व्यक्ति के पक्ष में अपनी राय दीजिए जिसके लिए मैं कहूँ अन्यथा मैं आपको काली सूची में रख दूँगा। पुस्तक उद्योग अब पुस्तकों को किसी भी अन्य उपभोक्ता वस्तु की तरह एक उपभोक्ता वस्तु के रूप में बदल देने का प्रयास कर रहा है, उसे अच्छे लेखकों की आवश्यकता नहीं है। और यह बात नये पूँजीपति वर्ग की आवश्यकताओं के अनुकूल है, जो इस स्थिति का आका बन बैठा है : वे मनोरंजन, पलायनवादी या नकली 'गम्भीर साहित्य' को प्राथमिकता देते हैं।"*

('समय चेतना', मार्च, 1996 में प्रकाशित)

किताबों की संस्कृति : वर्तमान और भविष्य

किताबें मेरे मस्तिष्क के औजार हैं, कोई विलास की सामग्री नहीं। वह कहा करते थे कि किताबें मेरी गुलाम हैं और उन्हें वैसे ही मेरी सेवा करनी होगी जैसा कि मैं चाहता हूँ।

पाल लफार्ग ने अपने संस्मरण में किताबों के बारे में **मार्क्स** के विचारों की इन शब्दों में चर्चा की है।

किताबों और अध्ययन के बारे में जितनी भी उक्तियाँ-सूक्तियाँ पढ़ी-सुनी हैं, उनमें **मार्क्स** का यह विचार मुझे अपने समाज के लिए सबसे उपयोगी प्रतीत होता है। धार्मिक पुस्तकें दुनिया के अन्य समाजों में भी धर्मभीरू लोगों द्वारा पवित्र और श्रद्धेय मानी जाती हैं, लेकिन हमारे समाज में जिस तरह लाल कपड़े में बाँधकर उसे पूजाघरों में रखकर पूजा जाता है, वैसा शायद ही कहीं होता होगा। पुस्तक को जीवन और दुनिया को जानने-समझने का उपकरण बनाने की बजाय पूजनीय और आराध्य बना देना स्वामी वर्गों की सबसे महत्वपूर्ण और दूरगामी विजयों में से एक रही है। रहस्यभेदन के उपकरण को ही रहस्य बना दिया गया। मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के भेद को मुकम्मल बनाने में भी इसकी बुनियादी भूमिका थी।

हमारे समाज में पूँजीवादी संस्कृति का उद्‌भव और विकास अत्यन्त मन्थर गति से, कई चरणों में, औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक हुआ है। यह जन्मना रुग्ण और विकलांग पूँजीवादी संस्कृति (यूरोपीय पुनर्जागरण-प्रबोधन-बुर्जुआ क्रान्ति की प्रक्रिया जैसी) किसी किस्म की नैसर्गिक आन्तरिक गति से अस्तित्व में नहीं आई, बल्कि औपनिवेशिक सामाजिक संरचना की कोख से जन्म लेकर साम्राज्यवादी विश्व के परिवेश में पली-बढ़ी है। इसने 'पुराने' का ध्वंस करके 'नये' का निर्माण नहीं किया, बल्कि 'पुराने' को पुनः संस्कारित-अनुकूलित करके अपना लिया और उसके साथ ही घोर मानवद्रोही 'नये' को भी प्रतिष्ठापित किया। पुराने भारत में, आमजनों में किताबों के प्रति भय, आदर और पार्थक्य का भाव था (जाति-व्यवस्था की विलक्षण संरचना शूद्रों-दलितों के लिए पठन-पाठन को ही वर्जित करती थी)। यह भाव बदले हुए रूपों में, समाज के पूँजीवादीकरण के बाद भी मौजूद रहा। इसके साथ ही, अलगाव और वस्तुपूजा-भाव की बुर्जुआ संस्कृति भी जुड़ गई।

हालाँकि औपनिवेशिक आर्थिक-सामाजिक संरचना के घटक विविध भारतीय वर्गों का राष्ट्रीय आन्दोलन किसी की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के रूप में फलित नहीं हो सका और खण्डित-अधूरी आज़ादी के रूप में स्खलित होकर रह गया; फिर भी यही एक ऐसा दौर था (बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध) जब समूचे भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में सापेक्षिक गतिशीलता और सर्जनात्मकता की लहर-सी दिखाई देती है। उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों का प्रभाव (ज्योतिबा फुले को छोड़कर) काफ़ी हद तक मध्य वर्ग तक सीमित था। कहा जा सकता है कि नानक, कबीर, दादू, रैदास, पलटू आदि के समय (भक्ति आन्दोलन) के बाद सांस्कृतिक गतिशीलता का व्यापक उभार और प्रसार राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में ही दिखता है।

यह समय था जब निजामवाद मिडिल स्कूल में बालक **राहुल** को **सरस्वती** पत्रिका पढ़ने को मिल जाती थी। किशोर **निराला** अपने गाँव से कई कोस पैदल चलकर **महावीर प्रसाद द्विवेद्वी** से मिलने पहुँच जाते थे। खंडवा जैसे छोटे-छोटे कस्बे सांस्कृतिक केन्द्र बन रहे थे। पूरे देश में कई शहरों में मारवाड़ी पुस्तकालय खुल रहे थे और सुदूरवर्ती कस्बों-देहातों में भी पुस्तकालयों-वाचनालयों की संस्कृति पनप रही थी। कई राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न व्यवसायी और सामन्ती कुलीन अपनी जमा पूँजी स्वाहा करके मुद्रण एवं प्रकाशन संस्थान खोल रहे थे। साहित्यिक पुस्तकों के (आज की अपेक्षा अधिक संख्या वाले) संस्करण वर्ष भर के भीतर समाप्त हो जाते थे तथा *प्रताप, प्रभा, सुधा, माधुरी* आदि पत्र-पत्रिकाओं की प्रसार-संख्या पाँच से पन्द्रह हज़ार के बीच हुआ करती थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन का यह संवेग आज़ादी के बाद भी लगभग एक दशक तक बना रहा। पर आज़ाद भारत की जो तस्वीर सामने आई, उससे व्यापक जनता धीरे-धीरे निराश, विरक्त और विलग होती चली गई। राजनीति की ही तरह संस्कृति के सत्ता केन्द्र भी विकसित हुए जिससे आमजन सर्वथा अलग थे। हिन्दी के प्रकाशन तंत्र पर पूँजीपति पूरी तरह काबिज हो गये थे। ये पूँजीपति चरित्र और प्रकृति से, ब्रिटिश शासनकाल में मारवाड़ी पुस्तकालय खोलने वाले व्यवसायियों और लखनऊ में कागज का पहला स्वदेशी कारखाना, प्रेस और प्रकाशन गृह स्थापित करने वाले **मुंशी नवल किशोर** जैसे लोगों से भिन्न थे। ये नीच कोटि के तुच्छ, लीचड, मुनाफ़ाखोर थे, जो अंग्रेजी भाषा के बड़े प्रकाशकों की तरह बड़ा निवेश और उन्नत तकनीक के बूते बड़ा मुनाफ़ा तो कमा नहीं सकते थे, इसलिए लेखकों की हड्डी का चूरा बनाकर बेचने और झूठ-फरेब और धोखाधड़ी का सहारा लेने को विवश थे।

पूँजी में, और अन्यत्र कई स्थानों पर **मार्क्स** ने बताया है कि पुस्तक या नाटक के रूप में साहित्य जब किसी उद्योगपति के आदेश से पैसा देकर उत्पादित किया जाने वाला तथा खुले बाज़ार में छपने, विज्ञापित होने और बिकने वाला माल बन जाता है, तब उसकी क्या दशा होती है। पूँजीवादी समाज का आर्थिक संगठन और उसकी

विशिष्ट उत्पादन प्रणाली पूर्ववर्ती वर्ग-समाजों की तुलना में अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म रूप में साहित्य को नियंत्रित-अनुकूलित करती है तथा इसकी 'स्वायत्तता' का क्षेत्रफल सिकुड़कर नगण्य हो जाता है। लेखक मात्र एक बौद्धिक श्रमिक, मात्र एक माल-उत्पादक बन जाता है। पढ़े-लिखे मध्य वर्ग की सीमित आबादी इस माल का उपभोक्ता होती है और आमजन इस बाजार से एकदम अलग और असम्पृक्त होते हैं।

किताबों की दुनिया का यह पूँजीवादी परिदृश्य भारत में स्वतंत्र्योत्तर अर्द्धशती के दौरान भली-भाँति उभर-निखरकर सामने आया है।

हिन्दी के छुटभैया प्रकाशकों में भी होड़ बढ़ी है। इज़ारेदारी की प्रवृत्ति भी तेजी से विकसित हुई है। बाज़ार में माल के रूप में किताबों की उपस्थिति के साथ ही पूँजीवादी समाज का वह तर्क भी हमारे सामने है जो उजरती गुलामों को विचारहीनता के अँधेरे में धकेलकर, संस्कृति और विचारों के एक मायावी जगत का निर्माण करता है, जहाँ थोड़े से अघाये हुए, विशेषाधिकार प्राप्त सुधीजन विचरण करते हैं और आसपास कुछ कुण्ठित नकलची मँडराते रहते हैं।

यही वह परिदृश्य है जहाँ किताबें आम जन-जीवन से दूर हुई हैं। हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं की प्रसार संख्या सत्तर-अस्सी वर्षों पूर्व की अपेक्षा आज काफ़ी कम हो गई हैं। जनता के पैसे से खड़े किये गए सरकारी सांस्कृतिक तंत्र में होने वाली महँगी साहित्यिक पुस्तकों की खरीद के बूते प्रकाशक अपना मुनाफ़ा सुरक्षित कर रहे हैं। सार्वजनिक पुस्तकालय उजाड़ और बन्द हो रहे हैं। सरकारी विभागीय पुस्तकालयों में कमीशन के बूते भाड़े के कलमघसीटों द्वारा उत्पादित और कोठे के दलालों से भी गए-गुजरे प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित कचड़ा भरा रहता है। प्रकाशन की दुनिया के बड़े मगरमच्छों के अपने अलग खेल हैं। इस स्थिति का बयान यहीं बन्द कर दें, अन्यथा यह रुदालियों का स्यापा बनकर रह जाएगा। एक रुग्ण, गतिरुद्ध पूँजीवादी समाज में इससे भिन्न कोई और अपेक्षा की भी नहीं जा सकती।

हाँ, एक वैकल्पिक स्थिति के निर्माण के उपक्रम के बारे में अवश्य सोचा जा सकता है। और इसका एक भौतिक आधार भी है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

प्रौद्योगिकी से मोहाविष्ट या आतंकित लोग प्रायः किताबों की दुनिया के संकट और संकुचन के लिए मुख्यतः दृश्य-श्रव्य माध्यमों की दुनिया के 'बिग बैंग' को - इलेक्ट्रानिक मीडिया की सर्वव्याप्ति को और उसके मायावी प्रभाव को, जिम्मेवार ठहराते हैं। यह एक अवैज्ञानिक दृष्टि है। वैसे भी, इन्द्रिय संवेदन की क्रिया पढ़ने की क्रिया का स्थानापन्न या विकल्प कतई नहीं हो सकती। फिल्म या सीरियल देखते समय हम रुककर सोच नहीं सकते। अपनी कल्पना-शक्ति और तर्कशक्ति के इस्तेमाल के लिए बीच में रुकने की गुंजाइश वहाँ नहीं होती। बाद में हम ऐसा कर सकते हैं, पर उसकी भी एक सीमा होती है। उत्कृष्ट दृश्य-श्रव्य माध्यम आपको अपने पर अधिक निर्भर बनाते हैं। 'पैस्सिव रिसीवर' की भूमिका में वहाँ आप अधिक

आसानी से आ जाते हैं। एक और बात यह भी है कि व्यक्ति, स्थिति, घटनाक्रम और मनोदशा आदि के चित्रण में यदि कुछ विशिष्टताएँ दृश्य-श्रव्य माध्यमों की हैं तो कुछ विशिष्टताएँ किताबों की भी हैं। मन में चल रही विचार-प्रक्रिया का जो ब्योरा तोल्स्तोय प्रस्तुत करते हैं और पृष्ठ-दर-पृष्ठ जिस तरह अपने विचार भी रखते जाते हैं। वह फिल्म या इलेक्ट्रानिक मीडिया के जरिये दिखा पाना सम्भव ही नहीं है। साथ ही वैचारिक विमर्शों, विश्लेषणों, सूत्रीकरणों, समाहारों को प्रस्तुत करने का काम किताबों द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। कहा जा सकता है कि दृश्य-श्रव्य माध्यमों का विकास पहले से मौजूद कलात्मक अभिव्यक्ति की दुनिया का विस्तार है, न कि उसे विस्थापित करने वाली कोई चीज़।

अतः हमारा मानना है कि आज पढ़ने की संस्कृति यदि संकटग्रस्त है तो इसका कारण तकनीक में नहीं बल्कि सामाजिक संरचना में मौजूद है। इलेक्ट्रानिक मीडिया वर्तमान संस्कृति के लिए अधिक अनुकूल है। इसके उत्पादों के हम निष्क्रिय उपभोक्ता होते हैं और इसके तंत्र पर बुर्जुआ वर्ग और बुर्जुआ सत्ता का नियंत्रण अधिक प्रभावी होता है।

मूल और मुख्य बात यह है कि आज विपर्यय, गतिरोध और पुनरुत्थान का जो राष्ट्रीय और वैश्विक ऐतिहासिक परिदृश्य निर्मित हुआ है, उसने व्यापक जन समुदाय की आत्मिक दुनिया में निराशा और विचारहीनता की प्रवृत्तियों को हावी बनाया है। यही पढ़ने की संस्कृति और किताबों की दुनिया के संकट का उत्स है। और यह संकट कुछ समय का है। जब तक जीवन में तर्क और विज्ञान की ज़रूरत होगी; तब तक कलात्मक-वैचारिक अमूर्तन की ज़रूरत होगी; तब तक किताबों की दुनिया सलामत रहेगी। हिन्दी समाज में किताबों का 'स्वर्णयुग' तो अभी आना है। वह किसी प्रचण्ड वेगवाही सामाजिक झंझावात की पूर्वपीठिका बनाता हुआ आएगा और उसके साथ-साथ परवान चढ़ेगा। इस नए ज्वार के आगे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर का सांस्कृतिक उभार एक क्षीण लहर प्रतीत होगा। किताबों को लेकर जाने वाली 'अन्तवादी' भविष्यवाणियाँ उतनी ही बेमानी हैं जितनी कविता, कहानी, उपन्यास या विज्ञान के अन्त की भविष्यवाणियाँ। लेकिन यह बात हम किसी किस्म के नियतिवाद का शिकार होकर नहीं कर रहे हैं। सामाजिक परिवर्तन का एक सुनिश्चित तर्क है। उस आधार पर आज के सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिदृश्य का आकलन करने पर ऐसा लगता है कि भारतीय समाज का असाध्य-निरुपाय संकट अब तक के सामाजिक प्रयोगों की आवश्यकता को रेखांकित कर रहा है और अवश्यम्भाविता को भी।

जहाँ भविष्य स्वप्नों को परियोजनाओं में ढलना है और परियोजनाओं को प्रयोगों में रूपान्तरित होना है, वहीं से किताबों की दुनिया में भी एक नवजागरण संचारित होना है।

('समयान्तर', फरवरी, 2002 में प्रकाशित)

ये तपी ज़िन्दगी के पठार के कड़े कोस...

एक इतनी लम्बी कविता लिखनी है जो हज़ारों वर्षों से हृदय में दहकते आवेग को अपने तटबन्धों के बीच बाँध सके।

मैं एक बहुत लम्बी कविता लिखना चाहती हूँ, जिसका अनवरत क्रम बस साँस भर लेने के लिए टूटे, फिर आगे बढ़ जाये। इतनी लम्बी हो यह कविता कि इससे पृथ्वी को कम से कम एक बार बाँधा जा सके। इतनी लम्बी कि इससे शब्द यदि छिटक जायें तो टिड्डी-दल-सा पूरे आकाश को छाप लें। इस लम्बी कविता में ज़िन्दगी और उसकी सारी जद्दोजहद का इतिहास-भूगोल इस क़दर दर्ज़ हो जाये कि यह बात झूठी पड़ जाये कि कविता की सीमा होती है!

कविता की सीमा थी तभी गद्य आया। बुर्जुआ क्रान्तियों के बाद का महाकाव्य बन कर उपन्यास आया। पर कविता की न कभी मृत्यु होगी न वह अप्रासंगिक होगी। वह अपने ही पुराने रूपों का निषेध-अतिक्रमण करती हुई जीवित रहेगी उस समय तक और उसके बाद भी, जब मानव की तमाम भौतिक सम्पदा की सर्जना करके भी, मनुष्यता की बुनियादी शर्तों तक से वंचित कर दिये गये लोग वास्तविक रूप में, समग्र अर्थों में इस मानवीय सारतत्व के उपभोग के लिए इसे अपनाने के लिए स्वतंत्र होंगे और सक्षम भी। कविता को तब तक जीना है और उसके बाद भी जीना है। इसलिए मैं अपने हिस्से की कविता इस तरह लिखना चाहती हूँ, जिसके लिए जो सबसे अच्छा शीर्षक होता वह तो महाकवि नाज़िम हिकमत ने अपनी एक लम्बी कविता की किताब को पहले ही दे डाला है - "ह्यूमन लैण्डस्केप।"

खैर, यदि उन्होंने यह नाम दिया नहीं होता या ईजाद नहीं किया होता तो मेरे क्षुद्र मस्तिष्क में खुद से तो यह बात आती भी तो नहीं।

मैं जो कविता लिखना चाहती हूँ, उसमें **"कामायनी"** या **"राम की शक्ति पूजा"** या **"अँधेरे में"** या **"पटकथा"** जैसा एकतान, एकतार कुछ नहीं, बल्कि बहुत सारे, बहुत सारे लोग और चीज़े होती और उनके क्षण-प्रतिक्षण बनते-बिगड़ते संयोजन - समुच्चय भाव और विचार और उद्देश्य प्रकट करते चलते। एकदम जीवन की तरह

गतिमान-प्रवहमान, निश्चितता-अनिश्चितता के सतत् द्वन्द्व के बीच! उसमें ऐसा होता कि फाँसीघर के एक कोने में तीखी रोशनी पड़ती रहती। एकदम सन्नाटा रहता कि अचानक चिड़ियाँ, लाखों-करोड़ों चिड़ियाँ एक साथ चहचहाने लगतीं। उसमें अचानक दिल के दौरे से ऐंठता, दरवाजे की ओर घिसटता घर में अकेला एक शेयर-ब्रोकर होता, ठीक उसी समय अपनी मेज पर चैन से सिर टिकाये सोता एक लेखक होता, आधी रात में रेलवे प्लेटफार्म पर तमाम-तमाम तरह के स्थायी और आने-जाने वाले लोगों की भीड़ और उनके सभी क्रिया-व्यापार बदस्तूर चलते रहते। उस कविता में कचहरियों के चक्कर लगाते बूढ़े किसान होते, अमीन, लेखपाल, पेशकार और पुलिस के पैरोकार होते, अँधेरी पुलिया के पास कबाब बेचती बूढ़ी होती, एक जलती हुई, भागती हुई अपनी चमड़ी तक से निर्वसना स्त्री होती और एक ऊँघता हुआ बूढ़ा वजीरे-आज़म होता। ऋषिकेश का एक युवा दास साधू, समुद्र, उसके किनारे दौड़ते बच्चे, कछुए, सीपियाँ, दूर से आता जहाज, अस्पताल में माँ के पेट से बाहर आता एक बच्चा, एक बूचड़खाना, रायल्टी और पुरस्कार के पैसे गिनता एक बूढ़ा कवि, "काला सोमवार", अमेरिकी चुनाव-प्रसार, इराक-खाण्डा-बोस्नियाँ, युद्धभूमि से भागता दार्शनिक सुकरात, जाँक देरिदा, फूको, स्तालिनग्राद का घेरा, अव्रोरा युद्धपोत के तोप का धमाका 1857, जलियाँवाला बाग, अरावली और विंध्य की पहाड़ियाँ, दक्षिण के पठार, नाविक विद्रोह, पुनप्रा वायलार-तेभागा-तेलंगाना, रक्तस्नात नक्सलबाड़ी, भारत भवन, मुक्तिबोध, मालवा और दण्डकारण्य, बाबरी मस्जिद, माइकल जैक्सन, अनशन पर जतीननाथ दास, लन्दन में वारेन हेस्टिंग्स पर चलता मुकदमा, चिङकाङ शान और माओ का यह नारा कि "विद्रोह न्याय संगत है" झिरिनोवस्की को चूमती नीली फिल्मों की नायिका, लोर्का के गीत, नेरुदा की भूकम्प से काँपती मातृभूमि, तिलक, तोल्स्तोय, रस्सी, बीज, प्रयोगशालाएँ, जाल, ओस से भीगी हुई घास, ब्रह्मपुत्र के वक्ष पर सूर्योदय, भगत सिंह और उनके कामरेड, नुक्कड़ नाटक देखने जुटी लेबर कालोनी की भीड़, दुनिया के तमाम देशों-नस्लों के लोग, तमाम गौरवशाली, प्रतीक बन चुकी और बनने वाली घाटियाँ-चोटियाँ, संघर्षों और पराजयों और जन्म और मृत्यु और गीतों और जीतों का एक अविराम क्रम - एक अविराम क्रम जो हमारी अपनी ज़िन्दगी, संगी-साथी, सुखों-दुखों को समेटता हुआ आगे बढ़ता जाता, आगे बढ़ता ही चला जाता...

यह एक सनक-सी चाहत हो सकती है, या इसमें शायद मुक्ति की आकांक्षा को कविता की शर्तों पर बिना कोई समझौता किये, शायद एक उदात्त, ऐन्द्रिक अनुभूति की तरह और साथ ही, शायद एक बेहद सूक्ष्म-सुकोमल अनूभूति की तरह ढालना सम्भव हो पाता। शायद ऐसा ही कोई कलेवर, ऐसा ही कोई विस्तार उस शक्तिशाली आवेग को अपने तटबन्धों के बीच गिरफ़्तार कर सके जो हज़ारों वर्षों से हमारे-आपके सीनों में लपटों की तरह दहक रहा है।

मैं समझ रही हूँ, ये बातें कुछ बेढब सी, बेतुकी और अनगढ़-सी हो गई हैं।

पर मैं क्या करूँ? मैं कविताएँ तो लिख सकती हूँ, पर रचनाकार की हैसियत से अपने अन्तर्जगत और बहिर्जगत पर बातें करना, ज़िन्दगी और रचना के बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया, पर, कविता की शिल्पकारिता पर बातें करना यह बहुत कठिन है। आज तक न तो कभी ऐसी बातें की हैं, न आज ही अपने को ऐसा कर पाने में पूरी तरह सक्षम पाती हूँ। कविताओं के अतिरिक्त नारी मुक्ति आन्दोलन के इतिहास, समस्याओं और दिशा पर लेख लिख सकती हूँ, हड़तालियों की सभा में अपने दिल की पूरी ईमानदारी से बातें रख सकती हूँ, अखबारी फीचर और रिपोर्ताज और विविध विषयों पर टिप्पणियाँ भी कर सकती हूँ, पर अपने बारे में इस तरह बातें जीवन में पहली बार कर रही हूँ। मैं इन्हें लिखित रूप से रख रही हूँ, पर यह लेख की शक्ल में नहीं हैं। बस मैं आते जा रहे विचारों को लगातार लिखती जा रही हूँ, दोस्तों के बीच बैठ कर लगातार बिना रुके की जाने वाली बातचीत की तरह। इन बिखरी-बिखरी बातों में से ही पूरी बात निकल आयेगी। मेरी इस आत्म स्वीकृति या स्पष्टवक्तृता में एक तरह की चतुराई भी है। अपनी ज़िन्दगी, अपनी सोच, अपनी अभिव्यक्ति के बारे में मेरी बातें जब कुछ ऐसी होंगी कि बहुत साफ और सूत्रबद्ध नहीं होंगी तो जो मैं नहीं कहना चाहती उससे बच भी लूँगी। इस तरह मेरी बहुतेरी कमजोरियाँ आसानी से छिपी भी रह जायेंगी, हालाँकि मेरी ऐसी नीयत या मंशा नहीं है। इसलिए मैं यह ज़रूर आग्रह करूँगी कि यह हमारी आत्मीय-सी आपसी बातचीत होगी, कामरेडों-साथियों-सहयात्रियों के बीच की बातचीत। मैं आलोचकीय पूछताछ-जिरह के लिए बहुत तैयार नहीं हूँ शायद। बहुतेरे मेरे मित्र आलोचनाएँ लिखते हैं, पर मैं आज घोषित करती हूँ कि मैं आलोचकों की परवाह नहीं करती। राजनीतिक जीवन में आलोचना तो जीने की शर्त-सी ज़रूरी चीज़ है जो मैं विष के प्याले की तरह पी सकती हूँ, क्योंकि वहाँ पेशेवर आलोचक नहीं हुआ करते। जो खुद साथ-साथ जीते और काम करते हैं वही आलोचना करते हैं। साहित्य में जो कविता-कहानी-उपन्यास नहीं लिखता प्रायः वही आलोचना लिखता है।

यह महज कोई इत्तफाक नहीं है कि ज़्यादातर बुर्जुआ और समाजवादी लेखन के दायरे में सिद्धान्त-निरुपण या “ट्रेण्ड” “सेट” करने वाली मौलिक आलोचना कवियों-कहानीकारों-उपन्यासकारों ने लिखी है जैसे कि **गोर्की** या **हावर्ड फास्ट** या **ब्रेख़्त** ने या **प्रेमचन्द, निराला** या **मुक्तिबोध** ने। मुक्तिबोध की दृष्टि की छाप-छाया और पद्धति-विज्ञान के अनुकरण को हटा दें तो **नामवर सिंह** में पाश्चात्य आलोचना के नये-नये स्कूलों से उधार ली गई चीज़ों के अतिरिक्त क्या बचेगा, यह देखना होगा। प्रतिगामी धारा में भी आलोचना के क्षेत्र में स्थापनाएँ देने का काम रचनात्मक लेखन करने वालों ने ही किया। पिछले कुछ वर्षों के दौरान भी, विचारों की जो सान्द्रता-उग्रता, बहस की जो गर्मी, प्रस्थापनाओं की जो विवादास्पदता **दूधनाथ सिंह** की **“निरालाः आत्महंता आस्था”** जैसी पुस्तक में, **नीलाभ** के हाल के दो-तीन आलोचनात्मक

निबन्धों में या उसके भी पहले **गोरख** के कुछ विचारपरक या पोलेमिकल लेखों में दिखी, या यहाँ तक कि **पाश** की डायरी के पन्नों तक पर दिखी, वह पीठासीन आलोचक-प्रवरों के बूते की बात नहीं लगती मुझे।

जीवित ही रचना की चमड़ी उतार लेने वाले आधुनिक वधिक!

एक दुनिया घूमे-फिरे मित्र से बातचीत हो रही थी। उन्होंने बताया कि यूरोप में मांस बेचने के लिए पशुओं को उस तरह नहीं काटा जाता जैसे कि हमारे देश में। एक तो वहाँ सब कुछ मशीनीकृत है। वहाँ जानवर को पहले सिर पर विशिष्ट ढंग से प्रहार करके बस अचेत कर दिया जाता है। इसके बाद उसे कोई कष्ट नहीं होता। जीवित अवस्था में ही उसकी चमड़ी विशेष तकनीक से उतार ली जाती है, फिर बेचने के लिए अलग-अलग अंगों-हिस्सों के मांस अलग-अलग किस्म के विशिष्ट व्यंजनों के लिए तैयार किये जाने के पहले उस जानवर के "पैंक्रिऑस", जिससे इंसुलिन बनता है और अन्य ऐसे "आर्गन" जो जीवित अवस्था में ही निकाले जा सकते हैं, डॉक्टरी इस्तेमाल के लिए निकाल लिये जाते हैं।

विनम्रता के साथ कहना चाहूँगी कि द्वन्द्ववादी पद्धति-विज्ञान, भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि और सौन्दर्य शास्त्र जैसी गहन दार्शनिक चीज़ों के अध्ययन की चिन्ता-परेशानी-कष्ट से बचकर बस अनुभववादी भौतिकवादी नज़रिये से, या बस एक प्रतिक्रिया-मात्र के रूप में आलोचना लिखने वाले या खेमों-संगठनों, प्रतिबद्धताओं के आधार पर पहले से ही रचना और रचनाकार के बारे में रुख तय करके आलोचना लिखने वाले मार्क्सवादी आलोचकों की भारी भीड़ भी आज रचनाओं और रचनाकारों के साथ वैसा ही सुलूक कर रही है जैसे यूरोपीय वधशालाओं के वधिक!

बेशक झटका और हलाल वाले भी हैं। पर वे पुराने पड़ चुके हैं। उखाड़-पछाड़ की पुरानी उग्र और मुखर शैली बदल चुकी है। आलोचना-तंत्र भी छोटे पैमाने के उत्पादन से मैन्यूफैक्चरिंग और बड़े औद्योगिक उत्पादन के दौर में प्रविष्ट हो चुका है। कोई कष्ट नहीं, जीवित ही चमड़ी उतार लेते हैं। फिर चीर-फाड़ कर सभी अवयवों को अलग कर देते हैं। कुछ रसायनों में डुबोकर मेडिकल कालेज भेज दिये जाते हैं। शेष बिकने के लिए शो-विण्डो में सजा दिये जाते हैं।

और फिर यह तो भूमण्डलीकरण का दौर है। "इम्पोर्टेड माल" के तौर पर सिर्फ **ल्योतार-फूको-देरिदा** की ही लहार-बहार नहीं है, मार्क्सवादी भी **एजाज अहमद, टेरी ईगलटन, एडवर्ड सईद, फ्रेडरिक जेम्सन, रेमण्ड विलियम्स** वग़ैरह-वग़ैरह से जो कुछ भी थोक का थोक उधार ले रहे हैं, वह वास्तव में यूरोपीय नववाम की ही नयी खेप है, "सोशल डेमोक्रेसी" का ही दर्शन और विचार है। इन गत्ते की तलवारों से जनता के साहित्य के मोर्चे पर विचारधारात्मक लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। इनसे कुछ लिया

भी तभी जा सकता है, जब उस मार्क्सवादी दर्शन पर अच्छी पकड़ हो जो व्यवहार से निःसृत और व्यवहार का मार्गदर्शक होता है, और कला-साहित्य के बारे में **मार्क्स, एंगेल्स, प्लेखानोव, लेनिन, माओ, ब्रेख़्त, गोर्की, आइजेंस्ताइन, हावर्ड फास्ट** आदि के वैचारिक लेखन को भी पढ़ा और गुना गया हो। सिर्फ यह सस्ता सा जुमला उछाल देने से काम नहीं चलेगा कि "क्लासिकल मार्क्सिज़्म" की बहुतेरी चीज़ें आज पुरानी पड़ चुकी हैं या गलत सिद्ध हो चुकी हैं। आपको बताना होगा कि क्या-क्या पुराना पड़ा है और किस प्रकार पुराना पड़ा है? बहस में उतरना होगा आपको। यह ककहरा तो सभी जानते हैं कि ज़िन्दगी सतत प्रवहमान है और सिद्धान्त भी यदि विकासमान न हो तो पुराना पड़ जाता है। पर बताइये तो, कि मार्क्सवाद में क्या पुराना पड़ गया है और वह कौन सी बुनियादी चीज़ है जो आज भी प्रासंगिक है, जिसके चलते आप भी मार्क्सवाद को मार्क्सवाद ही कहते हैं फिर भी!

इन बुनियादी दार्शनिक-विचारधारात्मक प्रश्नों से जूझना है आज आलोचकों को और साहित्य के सिद्धान्तकारों को। और जाहिरा तौर पर सभी उन रचनाकारों को, जिनकी सर्वहारा क्रान्ति और उसके विज्ञान में आस्था अभी बरक़रार है।

आलोचना के बारे में बातें या तो मुझे करनी नहीं थीं या सबसे बाद में करनी थीं। पर बात पहले आ गई। इस चर्चा को तुरन्त रोक दिया जाना चाहिए, नहीं तो सार्थक बातचीत का ऐसा क्रम भंग होगा कि गाड़ी फिर पटरी पर आ ही न सकेगी!

जो हम जीते हैं, जो मैं लिखती हूँ - कुछ ऐसा भी होता है जो उमड़-घुमड़कर रह जाता है!

ईमानदारी से अपने बारे में बातें यहीं से शुरू की जा सकती है कि लिखने के पहले गंभीर अध्ययन के आधार का जो तकाजा मैं कर रही हूँ, वह मेरा खुद से भी हैं मैं इस कसौटी पर खरी उतरने के लिए प्रयत्नशील हूँ। इसमें क्षमता की कमी भी एक हद तक बाधक बन रही है और अराजकता और आलस्य भी। इसके लिए अक्सर ही सामूहिक आलोचना-भर्त्सना की रगड़घिसाई साथियों के बीच होती रहती है मेरी।

पर सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि न सिर्फ सक्रियता के मुख्य क्षेत्र के हिसाब से, बल्कि सरोकारों-चिन्ताओं-रूझानों के हिसाब से भी मैं मुख्यतः कवि-कथाकार हूँ ही नहीं। कविता, कहानी और उनकी शिल्पकारिता की व्यवस्थित "ट्रेनिंग" नहीं हुई मेरी। साहित्य का अध्ययन भी अव्यवस्थित रहा। भाषा ऐसी कि बोलने में उच्चारण-दोष है और लिखने में मात्रा की भूलें होती हैं। कला या शिल्प के स्तर पर जो रच-ढल जाता है वह विचारों और विचार-जन्य एवं स्थितिजन्य भावाकुलता के दबावों के अन्तर्गत निर्मित होता है। मार्क्सवाद के पद्धति-विज्ञान को मानते हुए भी अमल में जो पद्धति आती है, उसमें अनुभववाद का विचलन है।

आज से सोलह वर्ष पहले तो पत्र के अतिरिक्त कुछ भी लिखने की नहीं सोची थी। 1986 तक कविता प्रेमपत्रों की चौहद्दियों में ही क़ैद थी। उसी वर्ष के उत्तरार्द्ध में पहली कविता **"गार्गी"** छपी और दूसरी दो कविताएँ। फिर कहानियाँ। फिर मैं लिखती और छपती रही। और आज ज़रूर मुझे रचनाकार की ठीक-ठाक मान्यता हासिल हो चुकी है, तभी साथी **नीलाभ** अश्क ट्रस्ट ने एक रचनाकार के रूप में अपने अन्तर्जगत और बहिर्जगत की चर्चा करने के लिए मुझे यहाँ बुलाया है। यह कुछ ख़तरनाक बात तो है पर दिलचस्प और आकर्षक भी। इसलिए यह मौक़ा चूकना मैंने अच्छा नहीं समझा।

शुरुआत तो यूँ ही कुछ नया करने की ललक से, नाटक और नुक्कड़ नाटक करने से हुई। यह सब करते हुए क्रान्तिकारी साहित्य और जीवन से परिचय हुआ और अपने से काफ़ी लड़ते हुए, जूझते हुए, बीच-बीच में थकते-हारते-मायूस होते हुए भी, ज़िन्दगी के काफ़ी थपेड़े झेलते हुए मैंने खुद को क्रान्तिकारी राजनीति की एक कार्यकर्ता के रूप में ढाला और मैं मूलतः और मुख्यतः वही हूँ, वही रहूँगी।

यह सब साहित्येतर प्रसंग है पर जिन चीज़ों से मेरा व्यक्तित्व और मेरी सोच बनी है, उनकी थोड़ी-सी चर्चा भी न करूँ तो अपने अन्तर्जगत और बहिर्जगत की बातें क्या करूँ? यहाँ मुझे एक रचनाकार के रूप में बातें करनी हैं, पर कभी-कभी तो कविता में भी सीधे राजनीति या रोज़मर्रे की चीज़ें घुस आती हैं जैसे **नाज़िम हिकमत** की एक प्रेम कविता में चीज़ों के बाज़ार भाव की ब्योरेवार सूची दी हुई है।

तो मुख्तसर-सी बात यह कि मैंने एक राजनीतिक कार्यकर्ता का जीवन चुना है और इसी जीवन की व्यक्तिगत आन्तरिक रचनात्मक आवश्यकताओं के दबाव में लिखती हूँ - जल्दबाजी में, कामकाजू ढंग से और सत्तर प्रतिशत चीज़ें फिर भी अनलिखी रह जाती हैं।

हम थोड़े-से लोग हैं। कुछ शहरों-कस्बों-गाँवों-कारखाना क्षेत्रों में काम करते हैं, स्त्रियों के संगठन बनाकर गाँवों-शहरों में काम करते हैं, छात्र संगठन बनाकर काम करते हैं, स्थानीय स्तर के सांस्कृतिक मंच बनाकर गोष्ठियाँ, नुक्कड़ नाटक, नुक्कड़ काव्य-पाठ करते हैं, सांस्कृतिक अभियान निकालते हैं। एक छात्रों का अखबार, एक मज़दूरों का अखबार, एक वैचारिक पत्रिका निकालते हैं, पर्चे निकालते हैं, पुस्तिकाएँ निकालते हैं, खुद ही कम्पोज करते हैं, छपवाते हैं और फिर टोलियाँ बनाकर ट्रेनों में दूर-दूर जाकर, बसों में, चौराहों पर, कारखाना गेट पर बेंचते हैं। आये दिन शोहदों-गुण्डों और पुलिस से भिड़ते हैं, साम्प्रदायिक तत्वों की घातों के बीच रहते और काम करते हैं, फर्जी मुकदमों में फँसाये जाते हैं, जेल जाते हैं, धरना देते हैं, जनतांत्रिक अधिकार का सवाल उठाते हैं, हमें धमकियाँ मिलती हैं, गुण्डों की भीड़ हम पर हमला करती है, हमें समर्थन के लिए लेखकों, बुद्धिजीवियों से अपील करनी पड़ती है और विरोध-प्रदर्शन करने पड़ते हैं। और फिर हम अपने नियमित कामों में लग जाते हैं।

मैं मार्क्सवादी हूँ और मार्क्सवाद के उत्तरवर्ती विकास को लेनिनवाद और माओवाद के रूप में मानने वालों में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दार्शनिक अवदान और प्रयोग तक। हमारा ऐतिहासिक तर्कनिगमित विश्वास है कि अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण होंगे - कहीं भी हो सकते हैं, माच्चू-पिच्चू और एण्डीज से लेकर हिमालय तक की वादियों से, स्तेपी से लेकर चिङ्काङ शान की चोटियों तक से, कहीं से भी एक नई शुरुआत फूट सकती है। यह गहनतम अंधकार का समय है, पर यह एक नूतन सर्वहारा पुनर्जागरण और सर्वहारा प्रबोधन का काल है। यह विचार मेरी तीन कविताओं की कड़ी में **"लाल परिन्दे नीले आसमान में"** शीर्षक से प्रकट हुआ है। जिस हद तक विचारधारा समझती जाती हूँ, उसे काव्यात्मक अनुभूति के धरातल पर उतारने की कोशिश करती हूँ जो मेरी कविताओं में **फ्रांज़ काफ़्का** के नये संस्करणों, **फ्रांसिस फुकोयामा** और उसके **"इतिहास के अन्त"** के नारे और उत्तरआधुनिकता के विकृत नवहेगेलपंथी दर्शन या **नीत्शे** के नये संस्करणों की आलोचना के रूप में आया है और मेरा ख़्याल है कि कवितापन भी टूटा नहीं हैं।

पर यह जो हमारे जीने का ढंग-ढर्रा है, उसमें आप सोच सकते हैं कि कितना लिखा जा सकता है, कविता को कितना समय दिया जा सकता है! फिर भी, यही ज़िन्दगी कुछ ऐसा सर्जनात्मक तनाव और आवेगात्मक दबाव पैदा करती है, जो लिखने को विवश करती है - कुछ बनता है, कुछ नहीं बनता है और कुछ कमज़ोर बनता है जो बस साथ के कामरेडों तक पहुँचते-न-पहुँचते खारिज हो जाता है और कुछ ऐसा भी होता है जो उमड़-घुमड़ कर रह जाता है, रचना के साँचे में ढल नहीं पाता।

रचना-प्रक्रिया पर बातें? - यह कर पाने की मेरी क्षमता नहीं है, बनी नहीं है अभी तक। बस इतना है कि कभी पूरी की पूरी रचना दिमाग़ में आती है, कभी कड़ियाँ जुड़ती चली जाती हैं। पहले ज़िन्दगी की चीज़ें रचना में सीधे दीख जाती थीं और निकटस्थ साथी-मित्र रचना के स्रोत-उत्स जान जाते थे। विवाद और समस्यायें भी पैदा हो जाती थीं। अब ऐसा नहीं होता। अवसाद का कोई क्षण आशा की कविता में ढलता है। प्यार की गतिमानता में विश्वास से प्यार के पुराना पड़ जाने के ख़तरे की कविताएँ ढलती हैं। आठ वर्षों पहले मैंने एकदम स्पष्ट डायरी-सी प्रेम कविताएँ लिखी थीं, **"विदा" "एक दिन तुम आना", "यदि हम यहाँ नहीं होते"** और "**मन उदास है आज"** आदि जो **"सात भाइयों के बीच चम्पा"** में शामिल हैं। आज की मेरी प्रेम की कविता की मुश्किल से प्रेम कविता के रूप में शिनाख्त की जा सकती है, जैसे कि **"हत्यारा"** (पहल में प्रकाशित) **"जीना"** और **"मरना"** जैसी इधर दो-तीन वर्षों के दौरान की कविताएँ।

कविताएँ लिखना मेरी सीमा है। मैं रचनात्मक गद्य नहीं लिख पाती। कहानियाँ भी अच्छी नहीं लिख पाती। उनमें कविताओं के संस्पर्श होते हैं। भावपक्ष और

जीवन-स्थितियों के ठोस आन्तरिक तर्क के बीच संश्लेषण की क्षमता नहीं है। जब ठोस भाषा नहीं होती, अमूर्तन-बिम्ब और रूपक, बैसाखी का काम करते हैं। ज़रूरत है, आज की ज़िन्दगी के जटिल-संश्लिष्ट अधिरचनात्मक पक्षों को, हमारे देश की सामाजिक-आर्थिक संरचना में सांस्कृतिक ताने-बाने में आये परिवर्तनों, अलग-अलग परिवेश के नागरिकों के अन्तर्जगत और आत्मिक अन्तरंग जीवन पर पड़े उनके प्रभावों-संघातों और उन सबके बीच की अन्तर्क्रियाओं को बाँधने की - उपन्यासों में और कहानियों में भी। यह नहीं हो रहा है। कम हो रहा है। और मैं भी ऐसा करने का सोचने का साहस भी नहीं कर सकती हूँ। मैं तो अपनी रचना-प्रक्रिया के उस आन्तरिक तर्क को (और ऐसी ही चीज़ों को) ढूँढने की कोशिश करती रहती हूँ, जिसके चलते, बहुत गतिमयता, आवेग, उत्तेजना की मनःस्थिति में भी कविता में मृत्यु की चर्चा आ जाती है, रोने की चाहत फूट पड़ती है या कहीं, किसी निर्जन घाटी में घूमने-भटकने या किसी शिलाखण्ड पर बैठे होने का चित्र उकेरा जाने लगता है। क्या है यह? अवचेतन में गहरे कहीं पड़ा हुआ कोई द्वन्द्व, जो याद दिला रहा है, हमें हल करो, हमें अपने बयान में लाओ?

प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, रचना का सारा कच्चा माल मुझे अपनी राजनीतिक-सामाजिक सक्रियता के दौरान मिला। अतीत के जीवन से भी, घर-परिवार से, संगी-साथियों से जो चरित्र और स्थितियाँ रचनाओं में आईं, उन्हें भी रचना के कच्चे माल के रूप में देखने की वस्तुपरक निर्ममता इसी ज़िन्दगी के दौरान मिली।

"ड्योढ़ी भीतर दुपहरिया" की स्त्री, **"सात भाइयों के बीच चम्पा"** की चम्पा, **"हाकी खेलती लड़कियाँ"** की लड़कियाँ, **"शहर की चुनौती"** की पागल स्त्री, और **"बाबा", "बीमारी", "बिट्टो-अन्नू-राधा..."** जैसी कहानियों के पात्र और स्थितियाँ मेरे परिवार की, टोले-मुहल्ले की, शहर की या अतीत में छात्र जीवन की हैं।

एक पार्टी-कामरेड की पत्नी से उनके गाँव जाकर मिलना हुआ, जो शादी के बाद दो वर्ष का समय साथ बिताने के बाद क़रीब पन्द्रह वर्षों से अपने पति से नहीं मिली थी। उसका प्रश्न था, "क्या वे सचमुच जीवित हैं?" मुझे इसका विश्वास दिलाना था। यह स्थिति **"पूरब में प्रतीक्षा"** कविता में आई है।

वरिष्ठ साथियों से सुनी एक घटना। जमींदारों से संघर्ष में शहीद हुए पाँच कामरेडों के बच्चों की परवरिश के लिए कुछ मदद की जाती थी। उन बच्चों के कुछ काम करने लायक होते ही उन परिवारों ने जबर्दस्ती मदद लेने से इनकार कर दिया। कहा, यह सारा पैसा पार्टी के कामों में लगाया जाये।

नारी सभा की बैठक में एक ऐसी युवा स्त्री की शिरकत जिसकी सबसे छोटी

बच्ची बस तीन दिनों पहले चल बसी थी।

राजनीतिक जीवन में हम लोगों ने कई-कई बार एकदम शून्य से शुरू किया और धूल से उठ कर खड़े हुए। दो-दो बार टूटे-बिखरे। बहुतेरे नासमझ साथी डटे रहे। बहुतेरे, बहुत किताब पढ़े साथी घर बैठ गये, विपथगमन कर गये। उलझती जाती स्थितियों के बीच भी नये-नये युवा हमसपफर मिलते रहे।

ये सारी स्थितियाँ रचनाओं में आती रही हैं या फिर कुछ लिखने का तीव्र आन्तरिक स्फुरण-उत्प्रेरण पैदा करती रही हैं।

अपनी ज़िन्दगी को लेकर भी बहुत कुछ लिखने और दुर्वह स्थितियों को झेल लेने की प्रेरणा मिलती रही। राजनीतिक जीवन में प्रवेश कुछ रूमानी-बचकानी मानसिकता में ही हुआ था और वह अस्तित्व के संकट का दौर था। कुछ अलग से जी लेने की भी चाहत थी। वह विवादों-तनावों का भी दौर था। कष्टों का भी और कामरेडाना साथ के बढ़ते-विश्वास-अहसास का भी। अपमान और लांछन झेलने का भी। पर जीवन का वास्तविक स्वाद था वह भी, जो पहले कभी नहीं मिला था।

इसी दौरान पथराये चेहरे वाले लोगों की बुझी-बुझी सी आँखों में आग-सी कौंध देखी, आधी-आधी रोटी भी शब्दशः बाँट कर खाई, वह दुःख भी झेला कि बच्चे के इलाज के लिए पैसे तो क्या दूध तक के पैसे नहीं थे। तीन वर्षों का ज़्यादा हिस्सा उसे लेकर इलाज के लिए बनारस से बंगलौर-बंबई तक भटकने में खर्च किया। इस दौरान अनजाने शहरों में लफंगों-मवालियों तक से सड़कों पर जूझना पड़ा जहाँ साथ देने के लिए बस बेतहाशा चीखता हुआ दो वर्ष का मेरा बच्चा था जो बहुत ही जल्दी बड़ा हो गया। कर्ज, ट्यूशन, टाइपिंग, इंस्टीट्यूट चलाना। उससे भी पहले बनारस में गर्भावस्था में एक ऐसे मुहल्ले में रही जहाँ कुछ ग़रीबी की मारी स्त्रियाँ शरीर बेंचा करती थीं। एक प्रगतिशील प्राध्यापिका के घर एक संस्कृतिकर्मी साथी ने बर्तन माँजने का काम भी दिलवाया। एक बच्चों के प्राइवेट स्कूल में वार्डन नामधारी दाई का काम मिला। यह काफ़ी लम्बा सिलसिला रहा। इस दौरान ऐसे कामरेडों से भी वास्ता पड़ा जो काफ़ी उपदेश बहादुर थे लू शुन की कहानी, "आत्मबलिदान के बारे में" के चरित्र जैसे। कुछ बहुत मानवतावादी थे जो कमज़ोर बनाने वाले थे। इसी दौरान घूमते-भटकते पता चला कि "पूँजी द्वारा सभी रिश्तों को आने-पाई के ठण्डे पानी में डुबो दिये जाने" का अर्थ क्या होता है, मध्यवर्गीय बात बहादुरी क्या होती है, **"वे तीन", "मेरा बचपन," "जीवन की राहों पर", "मेरे विश्वविद्यालय",** (गोर्की), **"मुरदाघर"** (जे. पी.दीक्षित) और **"नरकुण्ड में बास"** (जगदीश चन्द्र) के पात्र किस कारखाने में, किस साँचे में ढाले जाते हैं और वहाँ भी किस प्रकार सिर्फ अमानवीयता ही नहीं होती, जलते

हुए हृदय भी होते हैं।

बाद में, "84-85" से जब राजनीतिक-सांस्कृतिक सक्रियताओं में एक बार फिर व्यवस्थित ढंग से भागीदारी शुरू हुई, तो ये जीवनानुभव और समृद्ध हुए। इतने अविस्मरणीय चरित्र-घटनाएँ-स्थितियाँ कि बयान के लिए उनमें से कुछ को चुन-छाँट पाना सम्भव नहीं है। ये लोग, यह ज़िन्दगी, कभी रचनाओं में आ पायेगी, फुरसत और क्षमता - दोनों ही दृष्टि से, लगता तो नहीं, पर हसरत भरपूर है। यह एक महत्वाकांक्षा है।

लोगों और जीवन-स्थितियों के बजाय, आभ्यन्तर जगत पर इनके छोड़े छापों, प्रभावों-अन्वितियों को कविताओं में ढालना आसान होता है और इस प्रकृति की मेरी कविताएँ बहुत अधिक हैं। न जाने यह अच्छा है या बुरा। पर अब यही है तो है।

...यूँ आना हुआ कविता के निकट

लिखना शुरू कैसे हुआ? बड़ी दिलचस्प चर्चा है। मेरे पति शशि मेरे बड़े भाई के मित्र थे। कविताएँ लिखते थे, नाटक करते थे, कुछ राजनीतिक कार्य करते थे। किशोरावस्था से ही मेरे घर आते-जाते थे। उनका मजाक उड़ाते-उड़ाते ही कब मैंने उन्हें गम्भीरता से लेना शुरू किया, पता नहीं। उन्हीं की प्रेरणा से मैंने नाटकों में हिस्सा लेना, क्रान्तिकारी गायन टोलियों में भाग लेना शुरू किया।

मार्क्सवाद के बारे में कुछ नहीं जानती थी। क्रान्तिकारियों के बारे में "बन्दिनी" जैसी फिल्मों और कुशवाहा कान्त के "लाल रेखा" उपन्यास से निर्मित छवि थी। शोध ा के बाद शशि ने नौकरी न करने का, राजनीतिक कार्यों में लगने का निर्णय लिया। आर्थिक अभावग्रस्त उनके परिवार में माँ के आँसुओं से उनका जूझना, और फिर उन्हें कविताएँ लिख-लिख कर अपनी बात समझाना, शहर में जबर्दस्त सांस्कृतिक गहमा-गहमी, डा. लाल बहादुर वर्मा के घर मीटिंगों में जीवन्त बहसें, राजनीतिक कार्यकर्ता बने कुछ साथियों के पिताओं का शशि को लट्ठ लेकर ढूँढना - इस सब कुछ का एक अजीब रूमानी प्रभाव पड़ा। बस, एक क्रान्तिकारी से प्रेम, शादी करने, राजनीतिक कामों, जेल आदि का एक रूमानी-सा नक्शा। यह सब कुछ का होना और फिर यथार्थ की कठोर दीवारों से सिर टकरा-टकरा कर रूमानियत का मरना।

शादी के कुछ माह बाद ही शशि गाँव में काम करने लगे। बीच-बीच में मिलना। एक-एक घण्टा साथ अधिक बिता लेने की दुर्निवार-सी चाहत। झगड़ा-विवाद भी। इसके पहले "माँ", "अग्निदीक्षा", "आदिविद्रोही" आदि पढ़ लिया था। पर कविता को ज़िन्दगी में गम्भीरता से लिया, जब शशि के पत्र मुझे मिलने लगे। उन सबमें कविताएँ होती थीं। वे महज प्रेम कविताएँ नहीं थीं, उनमें एक दूसरी दुनिया और उसके नागरिक और उनका परिवेश था। कभी-कभी तो ऐसी कविताओं का पूरा

पुलिन्दा होता था। इनमें से काफ़ी-कुछ कठिन आपाधापी में खो गयीं, कुछ आज तक मेरे पास बची हैं। इन कविताओं ने वास्तव में पहली बार मुझे कविता की दुनिया से परिचित कराया और उन लोगों की दुनिया से भी परिचित कराया जो आज मेरे अपने लोग हैं। बहुत आग्रह करके मैं नौजवान सभा की टीम के साथ गाँव में नाटक करने भी गई और फिर एक नई जीवित दुनिया को जानना हुआ। पर यह इतना सीधा-सादा नहीं था। इस नई ज़िन्दगी में ढलने की प्रक्रिया बीच-बीच में बड़ी यंत्रणादायी रही, कभी-कभी तो एकदम तोड़ देने वाली।

पर मैं अब कविताएँ पढ़ने लगी। फिर धीरे-धीरे साहित्य के वैचारिक पहलुओं से भी परिचय हुआ। 1986 में पहली बार "गार्गी" कविता लिखी। अगले दिन दो कविताएँ और। तीनों "जनसत्ता" में अगले माह ही छप गईं और फिर यह सिलसिला चल पड़ा।

कवियों-कविताओं-कविता की चुनौतियों पर कुछ छिटपुट बातें (नई-पुरानी डायरियों के कुछ पन्नों से)

...त्रिलोचन पहले मुझे बहुत पसन्द थे। चम्पा, चित्रा जाम्बोरकर, नगई, भोरई केवट, घमौनी करती गाय, तुलसी बाबा, कीनाराम, राजघाट पुल....मानो ज़िन्दगी अपनी सम्पूर्ण सहज - निश्छलता के साथ उतर आई हो और सर्वव्यापी अलगाव (एलियनेशन) और कृत्रिमता की काई छाँट रही हो, उनका निषेध कर रही हो। पर एक क्रमिक प्रक्रिया में पसन्द और राय में फर्क आया। अब मुझे लगता है कि प्रायः त्रिलोचन पूँजीवादी समाज के अलगाव-बनावटीपन-खोखलापन का निषेध जिस रागात्मकता से करते हैं, वह आगे की नहीं, पीछे की चीज है। कहीं-कहीं उनमें अतीत के मूल्यों - जीवन - संस्कारों के प्रति एक अनालोचनात्मक रुख-सा दीखता है। . ..सॉनेटीय त्रिलोचन में तो मुझे सहजता के आवरण में लिपटा एक आत्मकेन्द्रण या अहम्मन्यता-सी दीखती है कभी-कभी। एक बार डायरी के नाम पर कहीं उनकी सामान्य दिनचर्या का एक ब्योरा - सा पढ़ा। मन बिदक गया। ...'धरती' के त्रिलोचन आज भी मुझे सबसे प्रिय हैं - कामरेड जैसे। क्या मार्क्सवादी भी यदि कवि हो तो बूढ़ा होकर बुढ़भस हो जाता है?

....

....नागार्जुन उतने बड़े कतई नहीं लगते, जितना बना दिया गया है। उनकी जिन राजनीतिक कविताओं पर आलोचक न्यौछावर हुए जा रहे हैं, वे मुझे घटनाओं की आशु-प्रतिक्रिया लगती हैं। राजनीति की समझ भी कमज़ोर है। आज चीनी क्रान्ति को लाल सलाम, कल चीनी हमलावरों को "देशभक्ति" से ओतप्रोत गालियाँ, आज सम्पूर्ण क्रान्ति, कल जय आपातकाल, आज जय नक्सलबाड़ी जय भोजपुर, कल सब

कुछ स्वाहा, छद्‌म क्रान्तिकारिता को गाली देने के नाम पर सर्वनिषेध्वाद! मुझे नहीं लगता कि वैज्ञानिक दृष्टि या द्वन्द्वात्मक ट्रीटमेण्ट है नागार्जुन में। अनुभववाद है जीवन को गहराई से देखने के दावे के नाम पर। फक्कड़पन और मुँहफटपन ओढ़ा हुआ लगता है - एक मसीहाई बाना! सुना है पुरस्कार और रॉयल्टी का हिसाब-किताब ठीक से रखते हैं। नागार्जुन की जो वाकई अच्छी कविताएँ हैं, वे कम हैं और उनकी चर्चा भी कम होती है।

....

....**केदारनाथ अग्रवाल अच्छे लगते हैं**। पर वे आज भी जो लिखते हैं, उसे पचास वर्षों पहले ही एक मार्क्सवादी कवि की अच्छी रचना कहा जा सकता था। उनकी कविता एकायामी है। वहाँ प्यार है, ओज है, गरिमा है, सौन्दर्य है, पर आज के संश्लिष्ट जीवन के अनुरूप नहीं, सब कुछ एकरेखीय।

....

....**शमशेर** बेहद ईमानदार, सान्द्र अनुभूतियों के कवि। पर कहीं-कहीं समाज-विमुख से लगते हैं, अपने में डूबे हुए।

....

....**मुक्तिबोध** समकालीन भारतीय यथार्थ के सभी तनावों-दबावों-अन्तरविरोध ाों को रचना की ज़मीन पर उतारने वाले वाक़ई मार्क्सवादी, सबसे ईमानदार कवि। पर विचारों के कवि। बीहड़ता अधिक। कहीं-कहीं आतंक-संष्टि भी। पर सबसे निकट।

....

....**नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, केदार** हमारी परम्परा के हमारी धारा के सम्मानित, बड़े कवि हैं, पर इन्हें खासकर पिछले क़रीब दस-पन्द्रह वर्षों से जनवादी कविता का लगभग प्रतिमान-सा बनाकर जो प्रस्तुत किया जा रहा है, यही एक हद तक की अतीतोन्मुखता है। यह नुकसानदेह है। जनवादी हिन्दी कविता के भविष्य और नये कवियों के लिए।

...**रघुवीर सहाय** जनता के पक्ष के कवि हैं। पर बहुत अधिक रेखांकित किया जा रहा है उन्हें। जरूरत से अधिक। **केदारनाथ सिंह** उन्हीं जैसे लोहियावादी हैं और लघुमानववाद के भूतपूर्व समर्थक भी। आज 'मार्क्सवादीनुमा' कुछ हो गये हैं, पर हैं मूलतः रूपवादी-प्रकृतवादी कवि। बहुत सराहे जा रहे हैं। क्या प्रगति और प्रतिगामिता के बीच की सारी विभाजक रेखाएँ एकदम मिटा ही दी जायेंगी?

... मुझे लगता है, अचानक रघुवीर सहाय-केदारनाथ सिंह ने **गिरिधर राठी** आदि-आदि तक की धारा को बहुत उभारकर क्या **सर्वेश्वर-गोरख पाण्डे** जैसे कवियों

की धारा को पार्श्व में धकेला जा रहा है?

...**गोरख पाण्डे** में कुछ ब्रेख्तियन संस्पर्श है। साथ ही वे प्यार को लेकर, क्रान्ति को लेकर नाज़िम हिकमत जैसे आकुल-आवेगमय दीखते हैं। कविताओं में द्वन्द्वात्मकता है। **वीरेन डंगवाल, नीलाभ, विजेन्द्र,** कहीं-कहीं **मंगलेश** और **असद ज़ैदी,** अपने-अपने 'नैरिटिव्स' की विशिष्टता में **ज्ञानेन्द्रपति** और **विष्णु खरे, उदय प्रकाश, महेश्वर, राजेश जोशी, कुमार अम्बुज** मुझे प्रिय हैं। उदय प्रकाश इधर अच्छा नहीं लिख रहे हैं। **आलोकधन्वा** ने मुझे कभी आकृष्ट नहीं किया। ...अब यह दीगर बात है कि इनमें से, कई कवियों में गम्भीर विचारधारात्मक भटकाव हैं, कुछ में रूपवादी रुझानें भी हैं। मुझे नहीं लगता ये अपनी ज़िन्दगी में बहुत बेकल-बेचैन-उद्विग्न लोग हैं।

...निराला मुझे इस सदी के सबसे बड़े हिन्दी कवि लगते हैं।

.....पीठासीन कवि, पुरस्कार याचक कवि - मुर्दाबाद, मुर्दाबाद!

सबसे प्रिय विदेशी कवि **पाब्लो नेरुदा, नाज़िम हिकमत** और **ब्रेख्त**। कभी-कभी मायकोवस्की।

माओ का कवि व्यक्तित्व मुझे बहुत बड़ा लगता है। पर्वत को लेकर उनकी तीन छोटी कविताएँ, वह कविता जिसमें उन्होंने अपनी शहीद पत्नी को और एक शहीद साथी को याद किया है, या फिर **'चिङकाङ शान', 'चिङकाङ शान** पर फिर से चढ़ते हुए', **'च्याङ शा', 'तैरना', 'तपोती', 'बर्फ', 'वजन हटा लो', 'मृत कामरेड के लिए'** जैसी कविताएँ... - ये विश्व की क्रान्तिकारी कविता की धरोहर है। माओ का सागर-सा गम्भीर, पर्वत-सा उन्नत काव्यमय व्यक्तित्व, गहन भावाकुलता, गहरी दार्शनिकता और **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** जैसा महाकाव्यात्मक सामाजिक प्रयोग - कविता और दर्शन का यह संश्लेषण इसके पहले मार्क्स में दीखता है।

...'आन्ना कारेनिना', **'पुनरुत्थान', 'युद्ध और शान्ति', 'क्या करें'** अनुपम हैं - विश्व साहित्य की धरोहर! **फास्ट, गोर्की, फेदिन** और **लू शुन** का साहित्य - विश्व सर्वहारा की सांस्कृतिक समृद्धि के सूचक, आने वाली दुनिया और उसकी संस्कृति का दिशा-संकेतक!

फिल्म में सर्वहारा कला को लेकर **सेर्गेइ आइजेंस्ताइन** बाद के दौर में सबसे अधिक चिन्तित थे बौद्धिक तत्व या बौद्धिक विवेक के साथ भावनात्मक आवेग के संश्लेषण को लेकर। वे बौद्धिकता और आवेगात्मकता के संश्लेषण की तलाश कर रहे थे। **"मैं सोचता हूँ कि बौद्धिक आकर्षण 'आवेगात्मकता'** को कभी अलग नहीं करता", वे कहते थे। **ब्रेख्त** में यह दोनों हैं पर संश्लेषण के रूप में नहीं, सम्मिलन के रूप में। और आवेगात्मकता पर बौद्धिकता हावी है। आइजेंस्ताइन, **बकौल बेट्ट**

बाइरो, वैचारिक विश्लेषण और आवेगात्मक संश्लेषण के बीच अन्तरानिर्भरता की भी सराहना नहीं करते। वे वैचारिक मुक्ति देने वाले और मस्तिष्क को समृद्ध करने वाले पद्धति विज्ञान के बजाय मार्ग दर्शन की उम्मीद करते हैं। क्या ब्रेख्त की 'डिडैक्टिक थियेटर' 'एपिक थियेटर' से यही अपेक्षाएँ नहीं थी?

आइजेंस्ताइन की फिल्म विधा को लेकर जो केन्द्रीय चिन्ता थी, वही आज की कविता की भी चिन्ता है। आइजेंस्ताइन अपनी समस्या को हल करने के लिए **मार्क्स** की पूँजी पर फिल्म बनाने की एक विचित्र-वृहद् योजना बना रहे थे, जो वे पूरी नहीं कर सके। वे एक सिनेमाई निबन्ध लिखना चाहते थे। 'पूँजी' का इस्तेमाल अपने आपेरा-पाठ के रूप में करना चाहते थे, उससे एक ऐसा आधार तैयार करना चाहते थे जिस पर वे अपनी विचार-संरचनाओं की तामीर कर सकें।

कविता अपनी इस समस्या को किस रूप में हल करेगी, हमारी पीढ़ी को इस पर सोचना ही होगा।

सर्वहारा की क्रान्तिकारी कविता में, क्रान्तिकारी भौतिकवादी कविता में, उत्कट भावावेग तो चाहिए ही, घनीभूत, स्वस्थ, मुखर ऐन्द्रिकता (सेंसुअसनेस) ज़रूर चाहिए। कूपमण्डूक और सामन्ती जड़ नैतिक मूल्यों और उबाऊ पाखण्डी, कायराना शालीनता वाले इस समाज में ऐसी कविताएँ, कम पढ़ी जाने पर भी खलबली मचा सकती हैं। निराला की कविता में ऐंद्रिकता का गुण है। बाद के कवियों में कम हैं। **गोओर्ग वेयर्त** को, **फ्रेडरिक एंगेल्स** ने, (हालाँकि **हाइने** उनके और **मार्क्स** के अधिक प्रिय कवि थे) जर्मन सर्वहारा वर्ग का पहला और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि कहा है। मौलिकता, वाग्विदग्धता और उत्कट भावावेश के अतिरिक्त उन्होंने वेयर्त की कविताओं में स्वास्थ ऐंन्द्रिकता के गुण को विशेष रूप से रेखांकित किया है : *"जिस चीज़ में वेयर्त माहिर थे, जिसमें वह हाइने को भी पीछे छोड़ देते थे (क्योंकि वह अधिक स्वस्थ और सच्चे थे) और जिसमें कि जर्मन भाषा में वह सिर्फ गेटे से ही पीछे हैं वह है उनके द्वारा की गई स्वस्थ ऐंद्रिकता और दैहिक वासना की अभिव्यक्ति।"*

इस प्रश्न पर भी हमारी पीढ़ी के कवियों का ध्यान जरूर जाना चाहिए।

अपराध है यह - सिर्फ देखना और दर्ज करना और सीधे युद्ध में न उतरना, जब देश जल रहा हो तब भी!

"मेरी यह धारणा है कि नाइजीरिया जैसी संकटकालीन स्थिति में साहित्य अलग नहीं हो सकता। वास्तव में लेखक केवल मन बहलाने के लिए नहीं लिखेंगे या समाज के प्रति सिर्फ आलोचनात्मक नजरिया रखकर हतबुद्धि नहीं बनायेंगे, बल्कि दखलन्दाजी के जरिए समाज की सेवा करेंगे।

"मेरा अनुभव" यह रहा कि चूँकि बहुत थोड़े से लोग लिख-पढ़ सकते हैं

लिहाजा अफ्रीकी सरकारें बड़े आराम से लेखकों की उपेक्षा कर सकती हैं। अतः लेखकों को अवश्य ही कार्रवाई करने वाले बुद्धिजीवी - 'इहोमे एनगेजे' होना पड़ेगा। उन्हें अवश्य ही जनता से सीधा सम्पर्क करना पड़ेगा और अफ्रीकी साहित्य की ताकत-जुबान की वाग्मिता का सहारा लेना पड़ेगा।

ये ओगोनी लोगों के जीने के अधिकार के लिए नाइजीरिया की भ्रष्ट निरंकुशशाही और खूनी शेल कम्पनी के खिलाफ लड़ने वाले और फाँसी चढ़ जाने वाले केन सारोविवा की अन्तिम दिनलिपि की पंक्तियाँ हैं। आगे वे लिखते हैं, "नाइजीरिया के जैसी संकटकालीन स्थिति में जब किराए के गुण्डे और गँवार देश को धूल में मिटा रहे हैं और लोगों को अमानवीय बना रहे हैं उस समय सिर्फ बैठे उसे देखना या दर्ज करना बेकार है।"

अपने देश के बारे में भी, उसकी खासतौर पर आज की स्थिति के बारे में भी यही कहा जा सकता है। कास्तिलो की कविता 'अराजकनीतिक बुद्धिजीवी' की ही तरह ज़रूर एक दिन इस देश का सबसे मामूली आदमी आकर कविता का बेहद बारीक सूत कातने वालों से पूछेगा कि वे क्या कर रहे थे जब उनका देश जल रहा था? जब देश आर्थिक नवउपनिवेशवाद के एक नये विनाशकारी दौड़ में प्रविष्ट हो रहा था, जब देश में भ्रष्टाचार और घोटालों का घटाटोप था, अराजकता और गुण्डागर्दी का बोलबाला था, साम्प्रदायिक फासिस्टों का नंगनाच था, पुलिस जुल्म की इन्तहाँ थी, ज़िन्दगी राख हो रही थी, पर्यावरण तबाह हो रहा था, स्त्रियाँ जलाई जा रही थीं, सड़कों पर नंगी घुमाई जा रही थीं, जब लोगों का जीना मुहाल हो रहा था, आप क्या कर रहे थे? क्या महज विमर्श कर रहे थे, महज सेमिनार-गोष्ठियाँ कर रहे थे, क्या महज ज़िन्दगी की घुटन और प्रतिरोध के स्वरों को दर्ज करके अपनी कविता को "कालजयी" बना रहे थे, क्या क्रान्तिकारी आन्दोलन के खण्ड-खण्ड में बिखरे होने का सोग मना रहे थे, विगत की भूलों-ग़लतियों पर सियापा कर रहे थे या कविता में घुस आई नारेबाजी के प्रायश्चित के तौर पर उसके लिए ज़री की कढ़ाई वाला रेशमी लहँगा सिल रहे थे?

नहीं, उन्हें माफ़ नहीं किया जायेगा। अच्छी रचना के लिए लोगों की, सबसे तिरस्कृत-लांछित लोगों की, उत्पादन करने और निचोड़े जाने वाले तमाम लोगों की ज़िन्दगी, भावनाओं और संघर्ष से जुड़ना ही होगा। यह बात आज भी न तो पुरानी पड़ी है, न घिसी है। व्यावहारिकता के तकाजों और सबको साथ लेकर चलने के नाम पर हत्यारों के साथ जाम ढालने वालों और उनकी महफिलों में सितार बजाने वालों को, हुनरमन्द हाथों से कविताओं को चमत्कारी तराश देकर उसके सभी धार-कोरों को घिसकर चिकना-चमकदार बनाने वालों को, कविताओं से आदमी की जद्दोजहद को निकाल कर चीज़ों को सजाने वालों और फिर मोदियों-केडियाओं के हत्यारे गिराहों और घोटालेबाजों से पुरस्कृत होने वालों को जनवादी और प्रगतिशील कविता का

मसीहा, प्रतिमान या आदर्श नहीं माना जा सकता। जो उन्हें उछालने और महिमामण्डित करने का काम कर रहे हैं, वे भी मासूम या मूर्ख लोग नहीं हैं। ये वही लोग हैं जिन्हें **मुक्तिबोध** के काव्य नायक ने आधी रात के अँधेरे में एक मृत्यु दल की शोभा यात्रा में शरीक देखा था...

> "और तब मुझे प्रतीत हुआ भयानक
> गहन मृतात्माएँ इसी नगर की
> हर रात जुलूस में चलतीं,
> परन्तु दिन में
> बैठती हैं मिलकर करती हुई षड्यंत्र
> विभिन्न दफ़्तरों-कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में।
> हाय, हाय! मैंने उन्हें देख लिया नंगा
> इसकी मुझे और सज़ा मिलेगी।"

...हालाँकि कहीं भी लहू के सुराग नहीं दिखाई दे रहे हैं, किसी भी आस्तीन पर खून के निशान नहीं हैं, पर यदि दृष्टि हो तो रचनाओं से भी ऐसे लोगों की शिनाख्त की जा सकती है।

मैं कभी भी इस बात को नहीं भूल पाती कि उसूल और आत्मसम्मान की हिफाजत के लिए जब हम लोग आज से दो वर्षों पहले सत्ता में गहरी पैठ रखने वाले एक नवधनाढ्य पूँजीपति के काले धन की काली ताकत के खिलाफ तनकर खड़े थे, गुण्डों के गिरोह ने पुलिस की देखरेख में हमला करके हमारे कई साथियों को मरणासन्न कर दिया था। हम सभी घायल थे और फिर पुलिस ने डकैती-बलवे के आरोप में हम लोगों को ही गिरफ़्तार करके जेल में बन्द कर दिया था। उस घटना के ठीक बाद हिन्दी के सबसे वयोवृद्ध, सबसे सम्मानित, जीवित ही बुद्ध-प्रतिमा बना दिये गये कवि ने दिल्ली में एक साक्षात्कार के दौरान प्रसंगवश कहा था कि मुझे इस तरह की सरगर्मियों से बचकर कविताओं पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। मुझे ऐसी सलाहें मिलती रहती हैं और मैं साफ़ शब्दों में कहना चाहती हूँ कि ऐसी सलाहों से मुझे आखिरी हद तक की नफरत है।

मैं अन्तिम साँस तक हृदय और गले की पूरी ताकत से चीखकर कहना चाहूँगी कि नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं कभी ऐसा नहीं चाहूँगी। मैं ईमानदारी से तभी तक रचना कर सकती हूँ जब तक ईमानदारी से राजनीतिक-सामाजिक मोर्चे पर लगी रहूँ। मेरे लिए वह सबसे बड़ा रचना-कर्म हैं। आलोचकों की सूची से बहिष्कृत, कवियों के बीच अछूता और कविता के सुधी विद्वान पाठकों द्वारा उपेक्षित हो जाने की कीमत पर भी मैं ऐसा नहीं कर सकती।

मानती हूँ कि कविता पर मेरी पकड़ उतनी मजबूत नहीं, दृष्टि उतनी तीक्ष्ण नहीं, शब्दों और बिम्बों का संसार उतना समृद्ध नहीं, उतना आलोचनात्मक विवेक नहीं; पर ज़िन्दगी के अनुभवों से, लोगों से और मार्क्सवाद से इतना तो सीख ही लिया है कि तमाम आवरणों के बावजूद ईमानदार और बेईमान कविता के बीच बेलौस और पाखण्डी कविता के बीच फ़र्क कर सकूँ। इसका मुझे फ़ख्र है!

मैंने अपने को कभी मुख्यतः कविता का आदमी नहीं माना। मैं सबसे पहले एक राजनीतिक कार्यकर्ता हूँ और अपने इस जीवन की सक्रियता के दौरान यदि समय मिल जाये तो उन सरगर्मियों के दौरान हासिल विपुल कच्चे माल का शोधन करके कविताएँ-कहानियाँ भी लिखती हूँ।

...हो सकता है कि ये भाषा, ये बातें उनके लिए 'आउटडेटेड', घिसी हुई, नारेबाजी जैसी लगें जिनके लिए पराजय के महज एक धक्के के बाद समाजवाद, क्रान्ति, भौतिकवाद द्वन्द्ववाद जैसे शब्द पुराने पड़ चुके हैं। पर मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि ये बातें मैं हृदय की गहराई से, पूरी ईमानदारी से कह रही हूँ।

यूँ बहुतेरे कवियों की कविताएँ सशक्त लगती हैं, पर मुझे आत्मीयता महसूस होती है शाह ईरान की फासिस्ट सत्ता द्वारा गोली से उड़ा दी गई क्रान्तिकारी कवयित्री **मर्जियेह ओस्कुई** और उसकी कविताओं से, फाँसी चढ़ जाने वाले **केन सारो वीवा** के व्यक्तित्व और कृतित्व से, **राबसन** से और उसके उन गीतों से जिनके गाने पर बन्दिश लगा दी गई थी, फिलिस्तीन के बन्दूक उठाकर लड़ने वाले कवियों से उनकी कविताओं से, फिलिप्पींस की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक **होसे मारिया सिसोन** की कविताओं से, नक्सलबाड़ी संघर्ष के उत्कर्ष के दौरान शहीद होने वाले बंगाल के युवा कवियों की अनगढ़ पर ईमानदार कविताओं से, **सुब्बाराव पाणिग्रही, चेरबण्ड राजू** और **पाश** की कविताओं से....। और इन्हीं कारणों से **ब्रेख्त, नाज़िम हिक़मत** और **पाब्लो नेरुदा** भी मेरे प्रिय कवि हैं। हालाँकि ये यूँ भी कवि के रूप में बहुत बड़े हैं, पर मुझे बहुत अपने, बहुत आत्मीय इसलिए लगते हैं क्योंकि आतंक के खिलाफ ये कभी चुप नहीं हुए और वक्त पड़ने पर राजनीतिक सरगर्मियों में शिरकत के लिए भी तैयार रहे।

रिकार्डो सांचेज अमेरिका का एक कवि हुआ है, अपेक्षाकृत कम चर्चित, अभी पिछले ही वर्ष उसकी मृत्यु हुई है। चिकानो अल्पसंख्यक मूल का यह कवि, जो एक प्रोफ़ेसर था, जीवनपर्यन्त चिकानो, अन्य अमेरिकी अल्पसंख्यकों और आप्रवासी लातिन अमेरिकी मज़दूरों के पक्ष में न केवल लिखता रहा बल्कि आन्दोलनों में सक्रिय भागीदारी भी करता रहा। '70 के दशक में **चिकानो आन्दोलन** में, 1987 में गठित **'रिफ्यूज ऐण्ड रेजिस्ट'** आन्दोलन में और फिर आप्रवासी आबादी के दमन के प्रतिरोध के लिए गठित **'ला रेजिस्टेंशिया'** संगठन में वह सक्रिय रहा और एक लोकगायक की तरह आम मेहनतकशों के बीच लोकप्रिय रहा। मृत्यु के ठीक पहले एक साक्षात्कार

के दौरान ('रिवोल्यूशनरी वर्कर', 15 सितम्बर, 1996 में प्रकाशित) जब उससे पूछा गया कि दुनिया भर में घूमा हुआ एक प्रसिद्ध कवि और प्रतिष्ठित शिक्षक होने के बावजूद वह कौन-सी चीज़ थी जो उसे लगातार लोगों के संघर्षों में शिरकत के लिए प्रेरित करती रही, तो उसने कहा :

"उम्मीद! यह उम्मीद कि लोग एक दिन उठ खड़े होंगे और खुद को मुक्त कर लेंगे। और कि मुक्ति-संघर्ष का यह सिलसिला मेरे बच्चों तक और फिर उनके बच्चों तक भी जायेगा जबतक कि वे अपने को मुक्त नहीं कर लेंगे। लेकिन यह सिर्फ एक व्यक्तिगत भावना ही नहीं है। ऐसा कैसे हो सकता है कि एक कवि या एक कलाकार हालात से असंपृक्त बना रहे? यह एक कवि की आपराधिक लापरवाही होगी कि वह उन हालात के प्रति 'रिस्पॉण्ड' न करे जो लोगों को प्रभावित कर रहे हैं। कविता लोगों के बारे में होती है। यह गुलाबों के बारे में नहीं होती। इसका मतलब यह नहीं कि तुम गुलाबों के बारे में लिख नहीं सकते हो, पर इसका यह मतलब ज़रूर है कि तुम्हें लोगों के बारे में लिखना होगा। क्योंकि लोग सबसे उन्नत फूल हैं और वे बहुत सारे रंगों में होते हैं।

और इसलिए, एक कवि के रूप में, मैं अपने को कवि तब तक नहीं कह सकता जबतक कि मनुष्य के प्रति, मानवीय आवश्यकताओं के प्रति 'रिस्पॉण्ड' नहीं करता।"...

जीवन भर लगातार संघर्ष करते रहने के बारे में **सांचेज़** ने कहा, *"कोई और रास्ता भी तो नहीं है। कोई और तौरे-ज़िन्दगी नहीं है, जो मैं अपना सकूँ। तुम जानते हो? मैं एक कवि हूँ। और कविता मनोहर-रमणीय चीजों के बारे में नहीं होती। कविता मानवीय होने के बारे में होती हैं कविता गरिमा के बारे में होती है। कविता मुक्ति के बारे में होती है। कविता लोगों के साथ होने के बारे में होती है। कविता लोगों के बीच से आती है। यह शून्य से नहीं पैदा होती है। और इसलिए, एक कवि के रूप में एकमात्र 'रिस्पांस' मैं यही दे सकता हूँ कि जो कुछ भी हो रहा है उससे अछूता-असंपृक्त न बना रहूँ। नहीं तो मेरे शब्दों का कोई मतलब नहीं है। क्या होगा, इसकी चिन्ता किये बिना मुझे अपने शब्दों को शक्ति देने की क्षमता अर्जित करते ही रहना होगा। यह बहादुरी या वीरोचित जैसा कुछ नहीं है - यह सिर्फ मेरा कौल है।"*

इस कौल के लिए हृदय से ज़िन्दाबाद! यह कवित्व ज़िन्दाबाद! कविता की रेशमी कसीदाकारी, मुर्दाबाद!

यह किसके समय का चित्र है? मुक्तिबोध का या हमारा?

> "मिथ्याचारों-भ्रष्टाचारों की मध्य रात्रि
> में सभी ओर

काले-काले वीरान छोर।
खुदगर्जी की बदसूरत स्याह दरख्तों की
गठियल डालों पर रहे झूल
फाँसी के फन्दों में मानव-आदर्श-प्रेत!!
जैसे सूखे जंगली बबूल
वैसे निहेतुक जीवन की शुष्क कविता।
सत्ताधारी की पैशाचिक हड्डी के पँजे की सत्ता
जीवन-हत्यारों की काली यह रोमहर्षमय देश-कथा
अब क्षितिज-क्षितिज पर गूँज रहा
चीखता हुआ-सा एक शोर
शोषण के तलघर में अत्याचारों की चाबुक मार घोर।

('मालव निर्झर की झर-झर कंचन रेखा': मुक्तिबोध)"

इस पौरुषपूर्ण समय में एक स्त्री का होना और रचना

"अपने सपने में मैं एक हिलते-डोलते सफेद मंच पर खड़ा था। मैं लोगों को वह सब कुछ बता रहा था जो मेरे दिल में था और जिसे मैंने पहले कभी नहीं जाना था। मेरे विचार-अपरिचित-से थे जैसा कि सपने में हुआ करता है पर वे स्वतःस्फूर्त ढंग से अपने को अनुप्राणित और लयबद्ध शब्दों में सजाते जा रहे थे। जो मैं कह रहा था उस पर स्वयं मुझे आश्चर्य हो रहा था, लेकिन अपनी आवाज़ की ध्वनि सुनते हुए मैं स्वयं आह्लादित हो रहा था। मैं कुछ नहीं देख रहा था पर मैंने महसूस किया कि मेरे इर्द-गिर्द लोगों की भीड़ थी जिन्हें मैं जानता नहीं था, पर वे मेरे भाई थे। वे मेरे नज़दीक साँस ले रहे थे। दूर कहीं सागर गरज रहा था, एक भीड़ की तरह अंधकारपूर्ण।

"जब मैं बोलता था तो मेरी आवाज़ से उठने वाली हवा पूरे जंगल को आलोड़ित करने लगती थी। और वह हवा मुझे और समूची भीड़ को आनन्दविह्वल किये दे रही थी। जब मैं चुप हो जाता था तो सागर साँस लेता था। सागर और जंगल ही भीड़ थे। मेरी आँखें कुछ नहीं देख रहीं थीं पर सारी आँखें मेरे ऊपर टिकी हुई थीं। मैं उन्हें देखते हुए महसूस कर रहा था। यदि वे अपनी निगाहों से मुझे सम्हाले नहीं रहते तो मैं सीधा खड़ा भी नहीं रह पाता। यह मेरे लिए कठिन था और आनन्ददायी था। वे मुझे प्रभावित कर रहे थे, ठीक वैसे ही जैसे मैं उन्हें प्रभावित कर रहा था। मैं अपनी सत्ता के प्रति सचेत था और उन पर मेरी सत्ता असीम थी।

"सिर्फ एक आवाज़ मेरे भीतर कहती रही, "यह भयंकर है।" लेकिन मैं तेज, और तेज गति से, आगे, और आगे बढ़ता ही चला गया। मैं मुश्किल से साँस ले पा

रहा था। दबे हुए भय ने हर्षोन्माद को बढ़ा दिया और जिस मंच पर मैं सन्तुलन कायम किये हुए था, वह मुझे ऊपर, लगातार और ऊपर उठाता रहा। थोड़ा ही और, और सब कुछ समाप्त हो जाता। लेकिन कोई मेरे पीछे चल रहा था। मैंने किसी की अपरिचित मुक्त झलक महसूस की। मैं पीछे देखना नहीं चाहता था, पर अपने को रोक नहीं सका। मुझे पीछे देखना ही पड़ा। मैंने एक स्त्री को देखा और शर्म के एक अहसास से सराबोर-सा हो गया। मैं रुक गया। भीड़ को बिखरने का मौक़ा नहीं मिल पाया और हवा कराहती हुई उसके ऊपर से बहती रही।

"लोगों ने रास्ता नहीं दिया, लेकिन वह स्त्री शान्तिपूर्वक भीड़ में बिना विलीन हुए उसके बीच से गुजरती हुई आगे बढ़ी। मैं अपना सन्तुलन बनाये रखते हुए बोलना जारी रखना चाहता था पर शब्दों ने मेरा साथ नहीं दिया। मैं खुद को धोखा नहीं दे सका। मैं नहीं जानता था कि वह कौन है लेकिन उसकी हर चीज प्यारी थी और एक अदम्य शक्ति मुझे मधुरता और पीड़ा के साथ उसकी ओर खींच रही थी उसने एक पल के लिए मुझ पर दृष्टि डाली और फिर उदासीनतापूर्वक मोड़ ली। मैं उसके चेहरे की अस्पष्ट झलक ही देख पाया और उसकी प्रशान्त दृष्टि मेरे मनोमस्तिष्क पर अंकित-सी हो गई। उसकी आँखों में शालीनतापूर्ण उपहास और स्पष्टतः महसूस होने वाला तरस का भाव था। मैं जो कह रहा था उसे वह एकदम नहीं समझ रही थी और इस न समझने का उसे कोई अफ़सोस नहीं था पर मेरे लिए उसे अफसोस था। मैं उसकी दृष्टि से पीछा छुड़ा पाने में असमर्थ था। उसने हमारे हर्षोन्माद को देखा और उसे हमारे ऊपर तरस आई। वह खुशियों से भरी हुई थी। उसे किसी की ज़रूरत नहीं थी और इस वजह से मैंने महसूस किया कि मैं उसके बिना रह नहीं सकता। एक थरथराते हुए अन्धकार ने उसे मुझसे पूरी तरह छुपा लिया। मैं रोने लगा। मैंने लाज-शर्म पूरी तरह छोड़ दी और कभी भी लौटकर न आने वाली उस खुशी के लिए रोता रहा, किसी तरह की भावी खुशी की असम्भाव्यता पर रोता रहा, दूसरे लोगों की खुशियों पर रोता रहा... लेकिन उन आँसुओं ने वर्तमान की खुशियों की हिफाजत की।"

यह पूरी की पूरी गद्य कविता - **'द ड्रीम' मैंने बुढ़ऊ लेव तोल्स्तोय** से उध ार ली है जिनका दावा था कि स्त्री को उनसे अधिक सिर्फ ईश्वर ही जानता है। 1857 में उन्होंने इसे लिखा और 1863 में एक स्त्री **नतालिया ओखोत्लित्स्काया** के नाम से एक अख़बार में छपने को भेजा, पर "अबूझ और रहस्यमय" होने के कारण सम्पादक ने इसे छापने से मना कर दिया। इसके पूर्व 1858 में रोम में रह रहे **वासिली बोत्किन** और **तुर्गनेव** के पास प्रतिक्रिया के लिए इस रचना को भेजते समय तोल्स्तोय ने लिखा था कि रूसी समाज में नारी मुक्ति पर उन दिनों जारी अभूतपूर्व धुआँधार बहसों से वे तंग आ गये थे और उसी दौरान यह रचना लिखी थी जिसे वे प्रकाशित कराने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे। बहरहाल, इस रचना पर विस्तृत चर्चा से यहाँ

मुझे कतई बचना है।

मैं यह चाहती हूँ कि अभी हाल ही में जब इसे एक साथी ने सुनाया तो मुझे तुरत ही लगा कि यही, बस यही तो! इसी अमूर्त स्वप्न की तो मुझे आकाँक्षा थी। बीसवीं सदी के अन्त में बेशक ऐसा स्वप्न नहीं आ सकेगा, पर उन्नीसवीं सदी के किसी व्याख्यान से उधार तो लिया जा सकेगा! इसे सुनने के बाद मैंने रोना चाहा, खुशी और उदासी - दोनों से भरकर। ऐसा रोना जो कुछ-कुछ पुनर्जन्म की-सी अनुभूति दे, जो सदी की इस आखिरी दहाई में एक दुर्लभ वस्तु है।

एक रचनाकार के रूप में मैं इस स्वप्न के वर्णनकर्ता के साथ, 'नैरेटर' के साथ तादात्म्य स्थापित करती हूँ और एक स्त्री के रूप में इस स्वप्न की नारी के साथ, जो खुशियों से भरी हुई है, जिसे किसी की ज़रूरत नहीं है और इस नाते कोई उसके बिना रह नहीं सकता और जिसके लिए, जिस आज़ाद औरत के साथ के लिए, बेइन्तहाँ तड़पकर ही, रोकर ही, एक स्वाभिमानी, सर्जक पुरुष व्यक्तित्व अपने वर्तमान की खुशियों की हिफाजत कर सकता है। रचनाकार के रूप में मैं सोचती हूँ कि जब भी मैं कुछ लिखकर सोचूँ, "मैं ज़िन्दाबाद", तो वह, मेरा हमराज, मेरा हमदम मेरे भीतर से ही जैसे कि कह उठे, "यह भयंकर है" और मुझे तरस खाने के क़ाबिल बना दे। यह एक आज़ाद औरत (काल्पनिक या सुदूर भविष्य की नागरिक) कर सकती है, या फिर एक कामरेडाना समूह, जिसे अपनी मिट्टी और अपनी हवा के बीच जीने वाले लोगों के बीच से पाया गया हो, जिसका आविष्कार किया गया हो और जिसके बीच रोज़ अपना आविष्कार किया जाता हो।

मैं एक स्त्री रचनाकार के रूप में, स्त्री के रूप में, रचनाकार के रूप में सोचती हूँ तो चीज़ें कुछ स्वप्न-सी अमूर्त हो जाती हैं, उलझी हुई और तोल्स्तोय मुझे राह दिखाते हैं। जैसे वर्षों पहले उनकी आन्ना कारेनिना से मिलकर लगा था, 'द ड्रीम' की स्त्री ने और 'नैरेटर' ने उसी तरह की अनुभूति दी, उससे कहीं अधिक सघन अनुभूति! तोल्स्तोय ने यह रचना एक स्त्री के नाम से छपने को क्यों भेजी?...

...हम स्त्रियाँ एक पौरुषपूर्ण समय के अँधेरे में जी रही हैं और जी पा लेने की मानवीय शर्तों को पूरा करने में ही शेष हो जा रही हैं। ऐसे में चिन्तन और कला के मार्ग-दर्शन के बहाने भी हमपर पुरुष-आधिपत्य तो थोपा ही जाता है, कभी प्यार से तो कभी बड़े अधिकार से। मैं एक साहसी और बेहद मानवीय और साथ ही वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न पुरुष से ही कह सकती हूँ - यदि तुम एक आज़ाद औरत के सौन्दर्य को जान सको तो जीवन भर उसके लिए तड़पते रहोगे और एक बेहतर इंसान बनते चले जाओगे और तुम्हारी और इस पूरे समाज की मुक्ति के रास्ते कुछ और सुगम हो जायेंगे।

मेरी एक कविता है - 'इस पौरुषपूर्ण समय में' - "संकल्प चाहिए/अद्भुत अन्तहीन/ इस सान्द्र क्रूरता भरे अँधेरे में/ जीना ही क्या कम है/एक स्त्री के लिए/

जो वह रचने लगी कविता!”

जोखिम के बीच करती हूँ प्यार का आविष्कार और मृत्यु की कोख से जी उठती है दुनिया!

चेख़व की एक कहानी है, ठिठोली। ‘शरद के चमकीले दिन हैं। नायक एक ऊँची पहाड़ी से गहरे बर्फीले ढलान की ओर स्लेजगाड़ी में बैठकर फिसलने के लिए बेहद डरी हुई नायिका को किसी तरह तैयार करता है। बन्दूक की गोली की तरह नीचे उतरती स्लेज में, हवा के भारी शोक के बीच नायक डर से पीली पड़ी नायिका नादेन्का पेत्रोव्ना के कान के पास कहता है, “मैं तुम्हें प्यार करता हूँ नाद्या।” स्लेज से उतरकर नादेन्का सोचती है, और नायक के चेहरे को टटोलकर जानना चाहती है, कि उसने वाक़ई यह सुना या हवा के भारी शोर में उसे ऐसा वहम हुआ। नायक कुछ आभास नहीं देता। डरने के बावजूद वह फिर स्लेज की सवारी करती है और यहाँ तक कि रोज नायक के साथ स्केटिंग रिंग जाती है। हर बार नायक यही खेल दुहराता है। परेशान नादेन्का एक दिन अकेले भी जाकर स्लेज से फिसलती है, फिर भी कुछ तय नहीं कर पाती। भ्रम बना रहता है।

फिर वसन्त आ जाता है। नायक पीटर्सबर्ग लौटने वाला है। पास के बगीचे में बैठा हुआ वह नादेंका को अपने घर के बाहर खड़ा देखता है आँखों में आँसू लिये हुए। वह उसे नहीं देखती है। हवा का एक तेज झोंका जब पहाड़ी की ओर से शोर मचाता नादेंका के घर की दिशा में जाता है, फिर पेड़ों की ओट में बैठा नायक थोड़ी ऊँची आवाज़ में कहता है, “मैं तुम्हें प्यार करता हूँ नाद्या।” नाद्या खुशी से चीख पड़ती है।

बहुत दिन बीत जाते हैं। नाद्या अब शादीशुदा, बाल-बच्चेदार है। वह प्रसंग उसकी ज़िन्दगी की सबसे अधिक मर्मांतक और अकेली खूबसूरत यादगार है। नायक, जो बूढ़ा हो चला है और अकेला है, अभी भी सोचता रहता है कि उसने नादेन्का के साथ वह मजाक क्यों किया था।

प्यार के बारे में आज भी मेरी कुछ सोच ऐसी ही है जैसे नादेन्का का “वहम” - एक अयथार्थ-सा यथार्थ! शायद यह आज के समय की विशेषता हो कि प्यार एक अयथार्थ-सा लगता हो या शायद यह मेरी अतिरेकपूर्ण रूमानियत हो जो रचनाकार और रचना की सेहत के लिए नुकसानदेह हुआ करती है!

मेरे साथ चेखव की कहानी की त्रासदी नहीं घटित हुई। एक नासमझ, उत्कट रूमानी ढंग से ही सही, मैंने वास्तव में अपना प्यार अर्जित किया और तमाम कष्टों के बीच, “जीवन-पथ की घातें” सहते हुए उसे सहेजा भी। पर फिर भी यह मेरे लिए स्वप्निल-सा ही है। जैसे कि प्यार न हो, बस किसी के कानों में फुसफुसा देने का

वहम-सा हुआ हो, "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ नाद्या।"

ज़िन्दगी की तमाम निर्ममताओं-बर्बरताओं और सन्तोषदायी व्यस्तताओं के बीच जो भी कुछ प्यार के दिन या घण्टे मिल पाये हों, बीत जाने के बाद वे भ्रम का-सा बोध देते हैं। और मैं उनकी पुष्टि के लिए हमेशा ऊँची पहाड़ियों पर चढ़ती रहती हूँ और स्लेजगाड़ी में बैठकर ख़तरनाक बर्फीले ढलानों की ओर फिसलती रहती हूँ और लगातार, हवा के कानफाड़ू शोर और जोखिम के बीच अपने प्यार का आविष्कार करती रहती हूँ।

...आविष्कार इसलिए कि दुहराव तो मृत्यु से भी बदतर है। दुहराव से तो बेहतर है कि खो देने का भी जोखिम मोल लिया जाये, बिना यह सोचे हुए कि फिर मिल पाये, न मिल पाये क्या पता? दुहराव किसी भी रूप में नहीं। मेरी एक कविता है -

"घराना अलग, आलापचारी अलग
लयकारी अलग, आघात की जाति
और वज़न अलग।
फिर भी यह एक ही बन्दिश
आ रही है अलग-अलग रागों में
नये-नये रूप धरकर।
अलग भावस्थिति, अलग स्वर-रचना,
शब्दार्थ-गायन का अलग स्वर-विलास,
अलग विस्तार।
मुक्त करो, मुक्त करो मुझे
इस बन्दिश से,
अन्यथा मैं मर जाऊँगी।
जग को चकित कर जाऊँगी।"

और ज़िन्दगी, प्यार, कविता और राजनीतिक कार्यों के बीच का एक और द्वन्द्वात्मक अहसास -

"कविता में कहने की आदत आई
जब सोचा कि
अब न हो सकेगा
कविताएँ लिख पाना।
जीने का फलसफा
मौत के अहसास ने दिया।
सबसे विकट प्यार हुआ

उम्मीदें छोड़ देने के बाद
निर्जन में आविष्कृत हुआ
घनघोर शोर
जीवन का,
बर्फीली वादियों में
आँच लोक-ताप की।"

बहरहाल, बातें प्यार की हो रही थीं और मुझे कविता में कहने की आदत आ चुकी है और मैंने प्यार की बहुत सारी कविताएँ लिखी हैं, अतः प्यार के बारे में गद्य इतना ही। और अन्त में प्यार की सांद्र एन्द्रिक अनुभूति लिये ब्राजीली कवि **डोमिंगोस कार्लवाल्हो दा सिल्वा** के इस पद्यांश से -

"...अचेतन गुहाओं में निस्तब्ध शून्यता का राज होगा
ठीक झुलसी हुई पूली की मानिन्द
हमारी आवाज़ जर्दिया जाएगी।
एक दिन हम वहाँ होंगे मेरी प्रिया।
हम खनिजों की दुनिया में प्रविष्ट होंगे
और तब धरती खिल उठेगी
और तुम्हारी देह से अंकुरित होंगी
पाफरें और अबाबीलें
और मृत्यु की कोख से
फिर जी उठेगी दुनिया।"

मेरे सपने ज्यों ध्वस्त भीत के आले में दीपक

मैं एक स्वप्न देखती हूँ। बार-बार। यहाँ तक कि कभी-कभी जागी आँखों से भी। कि सागर का अनन्त विस्तार है। तूफान के प्रचण्ड आघात से हमारा जहाज टूट चुका है। मैं बड़े से तैरते-थपेड़े खाते पटरे पर अकेले हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। जहाज के कुछ टुकड़े दूर-दूर तैर रहे हैं उनपर भी कुछ लोग हैं। अलग-अलग। मेरी ही तरह। दूर कहीं सागर में बत्तियाँ दीख रही हैं। उठती-गिरती लहरों के बीच वे एक-दूसरे से मिल जाती हैं तो आग लगी होने का आभास होता है। रोशनी के चकत्ते जब फटकर अलग-अलग हो जाते हैं तो बत्तियों की कतार-सा, कारवाँ-सा लगता है। वे तट की बत्तियाँ हो सकती हैं, किसी टापू के जंगल में लगी आग हो सकती है या कोई बड़ा जहाज या जहाजों का कारवाँ हो सकती है या पानी की सतह पर किसी तरह से फैले

हुए, तेल की परत का जलना हो सकता है।

मुझे अपनी बहुत-सी कविताएँ, जो लोग पसन्द नहीं करते और मैं भूल चुकी हुई होती हूँ, सहसा एक के बाद एक याद आने लगती हैं। मेरे शब्द दूर-दूर जहाज के अवशेषों पर सवार अपने सहयात्रियों तक पहुँच रहे हैं और फिलहाल दूर दिखाई देती हुई रोशनी की ओर बढ़ने के साथ ही हम पास-पास आने की कोशिश भी कर रहे हैं यह बात किसी भी तरह से कविता में नहीं आ पाती। इसलिए स्मृतियों में टँगी रहती है। जागी आँखों का भी सपना बनी रहती है।

जागी आँखों का एक दूसरा सपना है, **मुक्तिबोध** की एक कविता की कुछ पंक्तियों जैसी ज़िन्दगी। यूँ तो अपने समय के कवियों में मुक्तिबोध सबसे निकट आज भी इसलिए लगते हैं शायद कि उनकी लम्बी कविताएँ हमारे समय के सभी अन्तरविरोधों-तनावों का जैसे काव्योतिहास हैं और उन कविताओं के बीच-बीच के लम्बे अंश, चाहे स्वप्न के रूप में वर्णित हों या नहीं, पर लगातार दुःस्वप्न की तरह, एक जीवित वास्तविकता के रूपान्तरित दुःस्वप्न की तरह 'हॉण्ट' करते रहते हैं। पर जो मेरा जागी आँखों का सपना है, बीहड़ मुक्तिबोध से अर्जित कुछ पंक्तियाँ, (जी हाँ, सुनने में भले अजीब लगे) मेरे लिए एक बेहद प्यारा, आत्मीय-सा व्यक्तिगत-सा लगने वाला सपना, जो मेरी ज़िन्दगी की वास्तविकता और आदर्श के बीच की द्वन्द्वात्मक स्थिति को प्रकट करता हुआ-सा लगता है और पिछले छः-सात वर्षों से ख़ासकर, मैं जिन पंक्तियों से जूझती-सी रही हूँ, वे हैं :

"ये तपी ज़िन्दगी के पठार
के कड़े कोस
चिलचिला रहे, आग-सी धूप,
अथवा विराट युग का व्यापा है क्रुद्ध रूप।
ज्यों लौह खण्ड के लाल सिरे पर स्वर्ण-शिखा
या क्षुब्ध पहाड़ी मिट्टी के कण में प्रचण्ड
रवि की कणिका
धधके,
वैसे, विचार भभके
मानो वे हों गहरे जन-संग के प्रसंग
या युग-युग की अनुभव-पीड़ा के लाल-लाल
पत्थर के ज्वलत् कोयले के दुर्धर स्फुलिंग
विस्फोटों से उत्पन्न
कि जिन विस्फोटों द्वारा ही
मेरे जन खनते रहते, इंसानी मिठास

के नये-नये
तालाब-कुएँ
मानव-सम्बन्धों के आशय अमृत-स्वरूप
ये तपी ज़िन्दगी के पठार चिलचिला रहे
...है भव्य धूप!!
भूरे वीरान खण्डहरों की ढूहों-खड्डों से कटी-पिटी
सुनसान भूमि में भी,
भीषण उदास टूटी-भीतों के आस-पास
गुंजान शून्य में भी,
ताज़े गुलाब के फूल चमकते रहते हैं;
चम्पा की डालों में नीला आकाश फँसा रहता,
वन-मुग्ध कुन्द के तारे हमें देखते हैं।
अस्तित्व-समस्याओं के फूटे आँगन में
त्यों मानवीय माधुर्य-अनुभवों की छवियाँ
घन-मौलसिरी, केवड़ा, करौंदी-सी अपनी
मृदु महक छाँह डालकर
कि दीप्ति किरण फेंककर
वीरानी में दिल की मिठास घोलतीं,
बेचैन किये रखतीं उदास भी करती हैं।
ज़िन्दगी और उलझा देतीं
वे मानवीय माधुर्य अनुभवों की छवियाँ।

ज़िन्दगी एक जंगल है
जिसकी पेचीदा पगडण्डी पर
ठोकर से, पैर-अँगूठे के
उखड़े नख में से बहते खून लाल ताज़े
का तेज़ दर्द भुलवा, कोई
द्युति-चुम्बन की झाँई आकर आत्मा विद्युन्मय करती है।
हम बीहड़ वन में सर्प भयावेष्टित
आलिंगन में आवण्टित चलते जाते हैं।
वे मानवीय माधुर्य-अनुभवों की छवियाँ
हमको सहारती जाती हैं
अकलाते क्षुब्ध रहित में, तीव्र न्यून में भी।

हम खण्डहर के वासी हैं...
कोमल खुली-खुली आकाश-नीलिमा को पीकर
तारों की गतिविधियाँ जीकर
गहरा दिक्-बोध हमें रहना स्वाभाविक है,
करते जाते हैं तीखा-तीखा विश्लेषण।
रखते हैं ध्वस्त भीत के आले में दीपक,
उसकी आलोक-महक में बालक हँसकर भी
गम्भीर-गहन, एकाग्र, पीत-मुख दिखते हैं;
माना कि ज़िन्दगी बदरंग विकृताकृति-सी है;
पर, उसके दरिद्र परिदृश्यों के भीतर भी
वे मानवीय माधुर्य अनुभवों की छवियाँ
जाने क्या-क्या कर सकती हैं,
दिल में मीठी ताकत-सी एक कसकती है,
व्यक्तित्व महकते रहते हैं।

ज्ञानात्मक संवेदन के कोमल पारिजात
की सुगन्ध-लहरों में से लपट निकलती है,
उन लपटों में से चन्द्र-सूर्य
द्युति-जगत् निकलते रहते हैं
आगामी के।
बस, इसीलिए
वे मानवीय-माधुर्य-अनुभवों की छवियाँ
यह कहती हैं -
'पार कर मुश्किलें सभी
जादुई अरुण कमल
उस दूर देश के रश्मि-विकीरणशील सरोवर का
तुमला देना,
एकाग्र प्रयत्नों का वह कोमल अमृत पिला देना,
सन्तापग्रस्त जीवन की दुर्निवार औषधि लानी होगी
यो मर-मर कर ज़िन्दगी यहाँ पानी होगी...
बस इसीलिए
हम प्रिय-जन की
मृदु कृपा दृष्टि या कोमल स्मित
के लिए तरसते रहते हैं;

इस कारण ही
व्यक्तित्व-भव्यता
जीवन-अनुशासन, समाज-परिवर्तन के
सपनों से कोमल रंग बरसते रहते हैं;
आत्मा विद्युन्मय होती है द्युति-चुम्बन से
अक्टूबर में भी और जून में भी।
('मालव निर्झर की झर-झर कंचन-रेखा': मुक्तिबोध)

मेरा तीसरा सपना बचपन की और बचपन के कुछ सपनों की यादों से जुड़ा है; वहीं जहाँ **'सात भाइयों के बीच चम्पा', 'हाकी खेलती लड़कियाँ'** जैसी कविताओं और **'बिट्टो अन्नू-राधा...'** और **'बाबा'** जैसी कहानियों की ज़मीन है। यह मेरा तीसरा सपना, और जहाँ इसके सीमान्तों से यादें आकर टकराती हैं, और जहाँ यादें **"सपनों की विराट समुद्री दुनिया में समा"** जाती हैं और फिर जहाँ सपने **"आगत की आहट", "नज़र की रोशनी"** और **"निर्माण की योजना"** में रूपान्तरित हो जाते हैं - यह सारा विस्तार मेरी एक पुरानी कविता **'यादें और सपनें'** में आपको दीखेगा।

और एक मेरा चौथा सपना है, वह एक खूबसूरत इच्छा के रूप में प्रकट हुआ है एक कविता में कि "एक ही सिगरेट/पियेंगे बाँटकर/कामरेडों के साथ रातभर/ और वह खत्म नहीं होगी।" यह सपना एक इच्छा के रूप में तब ढली जब क्रान्तिकारी आन्दोलन के बिखराव के तमाम विचारधारात्मक-राजनीतिक कारणों और वस्तुगत कारणों पर सोचने-विचारने के बावजूद, राजनीतिक-आत्मिक जीवन पर पड़ने वाले इसके प्रभावों और त्रासद मानवीय पहलुओं को लेकर मन में किंचित अवसाद-सा आ गया था। हम लोग उस समय बिखराव के एक यंत्रणादायी दौर से गुजर रहे थे। मैंने इस सपने से आगे बढ़ने की शक्ति अर्जित की थी और आज भी करती हूँ। यही सपना है जो इस जिद के रूप में प्रकट हुआ है कि "मौत की दया पर/जीने से/बेहतर है/ज़िन्दा रहने की ख़्वाहिश/ के हाथों मारा जाना" और इस मंसूबे के रूप में भी कि, "एक साजिश रची जाये/बारुदी सुरंगें बिछाकर/ उड़ा दी जाये/ चुप्पी की दुनिया।"

एक मेरा पाँचवाँ सपना है, कि जैसे भोर का समय हो। एक ओर ऊँचे पर्वतों पर जंगलों में आग लगी है। दूसरी ओर नीला समुद्र। मैं तट पर खड़ी दो लाल रंग के पक्षियों को लाल होते पूर्वी क्षितिज की ओर जाते देख रही हूँ। आप विश्वास करें, सचमुच मेंने इतना सजीव स्वप्न देखा था। हाँ, सपने के लाल-नीले रंग शायद मेरी कल्पना हों। क्योंकि मैं कभी यह नहीं याद कर पाई कि सपने श्वेत-श्याम होते हैं या रंगीन! बहरहाल, अपने इस सपने को विस्तार देकर मैंने तीन भावाकुल-सी

कविताओं की श्रृंखला लिखी - **'लाल परिन्दे नीले आसमान में।'** जब चारों ओर मार्क्सवाद की मृत्यु और समाजवाद की असफलता का शोर था, 'इतिहास के अन्त' के फतवे दिये जा रहे थे और मंगल ग्रह से उत्तर-आधुनिक प्राणियों का आगमन हो चुका था (मेरा विश्वास है कि ये मंगल या किसी दूसरे ग्रह से आये प्राणी हैं), उसी समय हम लोगों ने 1990 में **'मार्क्सवाद ज़िन्दाबाद मंच'** का गठन किया था और पूँजीवादी पुनर्स्थापना और समाजवाद की समस्याओं पर पाँच दिनों का एक सेमिनार आयोजित किया था। इसी सेमिनार की धुआँधार बहसों के दौरान दरअसल मैं समाजवादी संक्रमण के सभी पहलुओं को, संशोधनवाद की विचारधारा को और माओ के महान अवदानों के शीर्ष बिन्दु - यानी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति तक सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान की आरोही यात्रा को किसी सन्तोषजनक सीमा तक समझ पाई या यूँ कहें कि बोध (परसेप्शन) के धरातल पर उतार पाई। मुझे बहुत अच्छा लग रहा था और आने वाले लम्बे कठिन अंधकारमय समय से जूझने की आन्तरिक शक्ति-सी महसूस हो रही थी अपने भीतर। अपनी इस गहराती विचारधारात्मक आस्था को इसी पूर्ववर्णित सपने के जरिए मैंने कविता की दुनिया में विस्तार दिया जो **'लाल परिन्दे नीले आसमान में'** शीर्षक वाली तीन कविताओं में ढला। **'समकालीन तीसरी दुनिया'** में छपी थीं ये।

और कुछ व्यक्तिगत सपने हैं मेरे जो मेरी गुप्त सम्पत्ति हैं और कुछ दुःस्वप्न हैं जिन्हें समझना है और जिनसे मुक्त होना है।

सपने तो बहुतेरे होंगे, पर सबसे गहन-सान्द्र निहितार्थों वाले सपने तो वे होते हैं जो सुबह तक भूल चुके होते हैं। बहरहाल, मुझे इससे क्या? मुझे अपने सपनों के वास्तविक अर्थ या वैज्ञानिक विश्लेषण थोड़े ही जानने हैं फ्रायड या किसी और के जरिए। मेरे लिए तो सपने उत्प्रेरण देने भर को हैं या फिर कविता के लिए उचित 'फार्म' देने का बहाना भर।

बाकी बात यह कि मेरी कविताओं में आने वाले दूसरे सारे सपने दूसरों के हैं जिन्हें सुनकर मैंने अपना लिया है। या फिर वे मेरी कल्पना हैं। या फिर बहाना भर हैं कुछ वास्तविकताओं को काव्य-सत्य में ढालने के। वैसे तो हर सपना किसी न किसी रूप में किसी वास्तविकता का बयान ही हुआ करता है।

मृत्यु उतरे आकाश की गहराइयों से और कोई उधार न हो मेरे ऊपर!

मृत्यु मैं ऐसी चाहती हूँ जो आये नहीं, जन्म ले। मृत्यु यदि शरीर की, इन्द्रियों की मृत्यु है तो कैसी होगी मृत्यु की ऐन्द्रिक अनुभूति? क्या कुछ-कुछ ब्राजीली कवि आगस्टो फ्रेडरिको श्मिट की 'नींद का जन्म' जैसी? -

“आकाश की गहराइयों से नींद आयेगी
नींद आयेगी, अंतरिक्ष से होकर, बड़ी होती हुई
नींद आयेगी धरती से होकर चहलकदमी करती हुई
और वह क्लान्त चिड़ियों और फूलों
मछलियों और बूढ़े आदमियों के ऊपर से
दबे पाँव, बेखबर निकल जायेगी।

आकाश से नींद आयेगी परित्यक्त घाटियों में
पसरती हुई फिसलेगी
नींद आयेगी - मुलायम और डरावनी
और उसके हाथ नदियों के पानी और
गुलाबों की पँखुरियों को जमा देंगे।
उसके हाथ बच्चों के शरीर और
पेड़ों के कपड़े उतारेंगे।

आकाश की गहराइयों से नींद आयेगी
हर आदमी का गला निःशब्द चिल्लायेगा
और हर चीज़ गहरे रसातल की ओर सिर किये
गिरने लगेगी।”

मरते समय अपना सबसे प्रिय व्यक्ति साथ हो या न हो, किसी का कुछ उध ाार न रहे। सुकरात की तरह उधार मुर्गी का भी भुगतान किया जा सकता है। पर अपने लोगों के कर्ज का क्या होगा उसे तो लगातार ही उतारना है। यह तो चढ़ता ही जा रहा है। बेहतर यही है, लोगों में ही घुल जायें। पर यह इतना आसान होता तो क्या मुक्तिबोध जीवन भर आत्मसंघर्ष करते रहते,

व्यक्तित्वान्तरण के लिए यूँ जूझते रहते?

ज़िन्दगी पतझड़ ही मिले पर हृदय में गाता रहे लोर्का...

ऐसा क्यों है कि जो मैं कहना चाहती हूँ, वह मुझे अपनी कविताओं से अधि ाक, कहीं बहुत अधिक, दूसरों की, अपने प्रिय कवियों की कविताओं में मिलती हैं। जैसे कि ज़िन्दगी के बारे में अपने विचार रखने के लिए मैंने यह कविता अपने सबसे प्रिय कामरेड, सोलह वर्षों के जीवन और कविता के सहयात्री **शशि प्रकाश** की डायरी से चुरा ली है। (यदि मैं चुराती नहीं तो शायद उत्खनन होता कभी इसका, क्योंकि

ऐसी बहुतेरी कविताएँ उनकी बहुतेरी डायरियों में दबी पड़ी हैं) :

"एक अमूर्त चित्र मुझे आकृष्ट कर रहा है।
एक अस्पष्ट दिशा मुझे खींच रही है।
एक निश्चित भविष्य समकालीन अनिश्चय को जन्म दे रहा है।
(या समकालीन अनिश्चय एक निश्चित भविष्य में ढल रहा है?)
एक अनिश्चय मुझे निर्णायक बना रहा है।
एक अगम्भीर हँसी मुझे रुला रही है।
एक आत्यांतिक दार्शनिकता मुझे हँसा रही है।
एक अवश करने वाला प्यार मुझे चिन्तित कर रहा है।
एक असमाप्त कथा मुझे जगा रही है।
एक अधूरा विचार मुझे जिला रहा है।
एक त्रासदी मुझे कुछ कहने से रोक रही है।
एक सहज ज़िन्दगी मुझे सबसे जटिल चीज़ों पर
सोचने के लिए मज़बूर कर रही है।
एक सरल राह मुझे सबसे कठिन यात्रा पर लिये जा रही है।"

यही है मेरे ख़याल से एक सच्ची ज़िन्दगी का द्वन्द्ववाद - सच्चा भौतिकवादी 'डिडैक्टिक डायलेक्टिस।' मैं इस तक पहुँचना चाहती हूँ। इसे पाना चाहती हूँ।

यह एक ज़िन्दगी की चिट्ठी है, जिसके बाद, एक 'पुनश्च' भी लगाया जा सकता है, समकालीन मानवीय त्रासदी की द्वन्द्वात्मकता के रूप में, **शशि** की ही एक और कविता उधार लेकर -

"पतझड़ ने ही प्रतिरोध किया था
अलफ नंगे दिनों का।
हृदय में कहीं
लोर्का गा रहा था।
वसन्त के दिनों में
जब टूट रहे थे दिल
लोर्का की हत्या की जा चुकी थी।"

...जो जी रहा है आँखों से ओझल गहरे रहस्य में

सबसे अन्त में, लेनिन की शायद एकमात्र कविता की कुछ पंक्तियाँ। यह कविता उन्होंने 1905-07 की रूसी क्रान्ति की असफलता के बाद लिखी थी। यह हमारे समय की कविता की वसीयत हो सकती है आने वाले समय के नाम, भावी पीढ़ियों के नाम :

"पैरों से रौंदे गये आज़ादी के फूल
आज नष्ट हो गये हैं
अँधेरे की दुनिया के स्वामी
रोशनी की दुनिया का ख़ौफ देख खुश हैं
मगर उस फूल के फल ने पनाह ली है
जन्म देने वाली मिट्टी में
माँ के पेट में, आँखों से ओझल गहरे रहस्य में
विचित्र उस कण ने अपने को जिला रखा है
मिट्टी उसे ताकत देगी, मिट्टी उसे गर्मी देगी
उगेगा वह एक नये जन्म में
एक नई आज़ादी के बीज वह लायेगा
फाड़ डालेगा बर्फ की चादर वह विशाल वृक्ष
अपने लाल पत्तों को फैलाकर वह उठेगा
दुनिया को रौशन करेगा
सारी दुनिया को, जनता को
अपनी छाँह में इकट्ठा करेगा।

7 नवम्बर' 96
(अक्टूबर क्रान्ति दिवस)
(14 दिसम्बर, 1996 को इलाहाबाद में दिया गया अश्क स्मृति व्याख्यान)

अपने, अपनी कविताओं और उनकी रचना-प्रक्रिया के बारे में

तनाव, दुविधा और जोख़िम से भरी हुई एक बीहड़ स्थिति तब हर बार मेरे सामने होती है जब मेरे सामने ऐसा कोई आग्रह होता है कि मैं अपने बारे में, अपनी कविताओं और उनकी रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ कहूँ या लिखूँ।

हर बार ही ऐसा होता रहा है कि घटनाओं के ब्यौरों-तफ़सीलों और अनुभूतियों-विचारों के सूत्रीकरणों की कोशिशें यथार्थ की सतह मात्र को छू-खुरचकर रह जाती हैं और अपने बारे में या अपने आत्मिक जगत के बारे में जो कहना होता है, वह अनकहा ही रह जाता है।

इस बार जब यह जोख़िम भरी चुनौती सामने आई तो मैंने एक नया रास्ता ढूँढ़ निकाला और वह था, अपने और अपनी कविताओं के बारे में कविता की ही भाषा में बात करने का रास्ता। अलेक्सेई तोल्स्तोय के शब्दों में कहें तो मक्खन से बने चाकू से मक्खन को काटना कहा जा सकता है इसे। यह मेरा नया आविष्कार है। किया मैंने यह है कि पिछले दस वर्षों के दौरान अपनी डायरी में अपनी अनुभूतियों के बारे में, कविता के बारे में और सृजन-प्रक्रिया के बारे में जब-तब दर्ज़ किये गये कवितानुमा, कुछ हद तक अमूर्त-अनगढ़ और अनौपचारिक खुदरा विचारों को चुन-छाँटकर और तरतीबवार सजाकर यहाँ रख दिया है।

सृजन-कला के बारे में अलेक्सेई तोल्स्तोय की एक टिप्पणी को पढ़ते हुए मैंने उनके साथ विस्मयकारी तदनुभूति से अपने को भरा हुआ पाया और उसी समय यह विचार हठात् कौंधा कि ऐसा किया जाये...

इसलिए सबसे पहले तो यही उचित लग रहा है कि कलात्मक सृजन-विषयक अपने विचारों को अलेक्सेई तोल्स्तोय के शब्दों में ही प्रस्तुत कर दिया जाये।

सृजन-कला के बारे में अलेक्सेई तोल्स्तोय

"कुछ बातें ऐसी हैं जिनके बारे में खुलेआम कुछ कहना अच्छा या आवश्यक नहीं

है। ये निजी, गोपनीय और नाजुक बातें होती हैं। इनके बारे में कुछ कहना नहीं चाहिए जैसे किसी स्त्री को एक पुरुष के साथ अपनी पहली रात का वर्णन नहीं करना चाहिए। सृजन-क्रिया भी इन्हीं में से एक है। लोग प्रायः लेखकों की आत्मकथाओं में यही छिपी हुई बातें ढूँढ़ते रहते हैं। अगर उनमें ऐसी कुछ बातें मिलती भी हैं, तो भी सबसे महत्वपूर्ण बातें वहाँ नहीं होतीं।

"हम जानते हैं कि शिलर को सड़े सेब सूँघने से प्रेरणा मिलती थी। परन्तु शिलर ने यह नहीं बताया और कोई नहीं जानता कि किस गुप्त तरंग से सेबों की यह गन्ध लय तथा शब्दों के हाड़-माँस में रूपान्तरित हो जाती थी। यही बात, निस्सन्देह, सबसे विस्मयजनक है। मेरा विश्वास है कि वह दिन भी आयेगा जब विज्ञान को मस्तिष्क के क्रियाशील पदार्थ के ऑक्सीकरण का फार्मूला मिल जायेगा और वह मस्तिष्क की लहरिकाओं के बीच वोल्टेज़ को माप सकेगा, और मेडिकल विद्यार्थी सृजनात्मक स्थितियों का विश्लेषण-कार्य, रेखाओं, तालिकाओं और रासायनिक फार्मूलों के रूप में करेंगे। परन्तु यह विज्ञान है, एक विशेषीकृत विषय। इस बीच सृजन-क्रिया के रहस्यों को उसी सृजन-क्रिया के साधनों-शब्दों-का प्रयोग करके उद्घाटित करने का प्रयास वैसा ही है जैसे मक्खन से बने चाकू से मक्खन को काटना।

"किसी कलाकार की आत्मकथा में दिलचस्पी की बात क्या रह जाती है? उसका जीवन? मैं समझता हूँ कि जिस घड़ी कोई आदमी सृजनशील व्यक्ति बन जाता है, उसका जीवन-मार्ग निर्धारित हो जाता है। उसका सृजन उसे जिधर ले जाता है उधर ही वह जाता है, उसको अपने सृजन-कार्य के लिए जो कुछ चाहिए, वही वह देखता है। सांयोगिक घटनाएँ महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनसे कलाकार की सामग्री किसी हद तक समृद्ध बनती है, मगर वे अक्सर बाधाएँ सिद्ध होती हैं जो उसको उसके सीधे सृजन-मार्ग से, उसकी कलात्मक क्षमता को प्रकट होने से रोकती हैं।

"कलाकार जिस वातावरण का अध्ययन करता है वह शीशे के उन छोटे-छोटे टुकड़ों की तरह है जो लाटो बोर्ड अंकित स्थानों पर रख दिये जाते हैं। लाटो की बिसात मेरे भीतर निहित क्षमता है। मैं भी धरती पर घूमता फिरूँगा, उन छोटे-छोटे शीशे के टुकड़ों को ढूँढूँगा, जिस तरह शैतान (गोगोल की एक परीकथा का एक पात्र) अपने लाल जादुई कोट की कटी-आस्तीन के पीछे भागता फिरता था। मुझमें इच्छाएँ, सपने और विचार पड़े सोते हैं। सांकल्पिक रूप में नहीं जैसे कि किसी नेता, सेनापति, जीवन-निर्माता में होते हैं, बल्कि स्त्रीवत् भावनात्मक, सृजनात्मक, रूप में। नेता, निर्माता और सेनापति क्रियाशील होते हैं, वे जीवन के ढर्रे को तोड़ते और उसका पुनर्निर्माण करते हैं, मगर कलाकार प्रतीक्षा और खोज करता है, स्वीकार करता है, और फिर अपनी कलाकृतियों में जीवन के ढर्रे का निर्माण करता है।

"कभी-कभी ऐसा होता है - और सृजन-कला के लिए चमत्कार की बात यही है

- कि एक वाक्य, कोई गन्ध, रोशनी की कोई आकस्मिक झलक, भीड़ में मुड़ता हुआ कोई चेहरा कलाकार की तनावमय क्षमता के भीतर इस तरह आ गिरता है जैसे किसी झील की चिकनी सतह पर कोई पत्थर, और एक चित्र का निर्माण हो जाता है, किसी पुस्तक या संगीत की रचना हो जाती है। और कलाकार इस पर आश्चर्यचकित रह जाता है, जैसे किसी चमत्कार पर, कि अपने आप और बिना किसी प्रयास के एक सामंजस्यपूर्ण कृति का निर्माण हो रहा है मानो कोई उसे लिखवा रहा हो या कोई अन्य हाथ ब्रश को चला रहा है।"

कविता के अभिलेखागार में...

अक्टूबर क्रान्ति के दो वर्षों बाद, लेनिन ने 'एक महान शुरुआत' नामक प्रसिद्ध लेख लिखा था। उसे पढ़ते हुए सहसा इन सान्द्र काव्यात्मक पंक्तियों पर निगाह पड़ी -

"बात यह है कि जो कुछ भी नया है,
हमें उनका पालन-पोषण करना होगा।
उनमें जो कुछ भी सर्वोत्कृष्ट होगा, उपयोगी और सुन्दर होगा,
जीवन उन्हें चुन लेगा।"

...तो कविता के अभिलेखागार में क्या-क्या सुरक्षित सँजोया जाये भविष्य के लिए?

बात यह है कि
जो भी नया है
वह सब हमें चाहिये
सँजोकर रखने के लिए सुरक्षित
उस दिन तक
जब उन पर ज़िन्दगी फैसला देगी।
और वह, जो पुराना लग रहा है
वह भी दे दो हमें
वह कल तक नया था
और फैसला उसके बारे में भी होना बाक़ी है अभी।
मुझे वे सभी शब्द दे दो
जो बरते जा रहे हैं
चीज़ों को रचते हुए और बरतते हुए।
प्रसव की हर दारुण चीख,
भिंचे होंठों से छलक आया रक़्त,

नवजात के होंठों के प्रथम संस्पर्श से पहले
स्तनों का तनाव,
कोमल लाल फुनगियाँ और टूसे
और अंकुर और शिशु पंखों की
आकुल-उत्कण्ठित फड़फड़ाहट,
ऋतु का पहला फूल,
फसल पकने की गमक
अप्रेण्टिस मज़दूर द्वारा ढाला गया पहला बोल्ट,
नींव की पहली ईंट,
झाड़ू, रेगमाल, छेनी-हथौड़ी, पेचकस और तमाम औज़ार,
कविता की पहली बिम्बावली,
कठिन समय में उम्मीद की बातों की पहली शुरुआत,
दोस्ती का बढ़ा हुआ हाथ,
सीने की धड़कन तेज होने का क्षण
उदासी की बर्फ़ पिघलने की शुरुआत,
नये सफ़र के लिए उठा हर पहला कदम,
ग़लतियों की हर ईमानदार आत्मस्वीकृति,
ज़ेहन में उभरा हर नया तर्क -
इन्हें सुरक्षित रखना है स्मृतियों में
और कविताओं में,
आनेवाले दिनों के लिए
पालना-पोसना है इन्हें,
जब ज़िन्दगी चुनाव करेगी,
फ़ैसला देगी इनके बारे में
दिनों को कल्पना की नई ऊँचाइयाँ देती हुई,
उर्वरता के नये कीर्तिमान रचती हुई
और तब उनके ख़िलाफ़ मुक़दमों की
सुनवाई भी होगी
जो चीज़ों से उनकी पहचान छीन लेना चाहते हैं
नयेपन को एक घिसा सिक्का बना देना चाहते हैं
और उम्मीद को भी
जो ज़िन्दगी को शब्दों का खेल बताते हैं
उनसे एक दिन ज़िरह करेगी ज़िन्दगी

और उनके लिए
सज़ा भी मुकर्रर करेगी।

(डायरी, जून, 2001)

...कविता मेरा अपना आविष्कार है!

कविताएँ मुझे अपनी रोज़मर्रे की ज़िन्दगी की सघन-सान्द्र दबावों के बीच लिखनी होती हैं। शायद ये उन दबावों की परिणति भी है और उन्हें वहन करने का साधन भी। इस मायने में, हर कवि की तरह, कविता मेरा अपना आविष्कार है।

कविताओं को सुघड़ तराश देने का समय मेरे पास न कभी रहा, न होगा। बस एक ही बार में जो बन पड़ता है, सो बन पड़ता है। कई सुधी आलोचक कहते-लिखते रहते हैं कि मैं मूलतः एक 'पोलिटिकल ऐक्टिविस्ट' हूँ। वे एकदम सही कहते हैं। पर, तब क्या मैं कविताएँ लिखने की अधिकारी नहीं रह जाती? सभी रचनाकार रचना-कर्म के अतिरिक्त बहुत कुछ करते हैं। मैं आन्दोलनों के बीच हूँ तो भला यह अलग से रेखांकित करने की चीज़ क्यों है? बात जब कविताओं पर हो रही हो तो उन्हीं पर केन्द्रित होनी चाहिए।

तक़रीबन बाइस वर्ष पहले नाटकों में भागीदारी से मेरे सामाजिक जीवन की शुरुआत हुई। फिर राजनीतिक सक्रियता तक इस दायरे का विस्तार रहा, मैं कस्बाई मध्यवर्गीय कूपमण्डूकता के अँधेरे में पैदा हुई, पली-बढ़ी। न खेतों-कारखानों की उत्पादक गतिविधियों से पहले कोई परिचय रहा, न ही सामाजिक रसातल के अँधेरे में घुटते मेहनतकशों के जीवन से। काफ़ी हाउसों, पुस्तकालयों, कला-वीथियों की दुनिया भी कभी अपनी नहीं रही। संघर्षों की ऊष्मा से न सिर्फ़ ऊर्जस्विता मिली, बल्कि जीवन के इन विविध रूपों से परिचय भी हुआ।

दुःखों और अकेलेपन के ही किसी दौर में किसी ने सुझाया - 'कविता लिखो।' और मैं लिखने लगी। मेरे जीवनानुभव मेरी राजनीतिक सक्रियता की देन हैं और मेरी कविताएँ भी।

शशि प्रकाश की दो कविताएँ हैं जो मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं। अपनी कविता और अपने जीवन के बारे में यदि मुझे कुछ बयान करना हो, तो मैं इन दो कविताओं को ही शब्दशः उधार लेकर अपनी बात कहना चाहूँगी।

पहली कविता, हमारे समय की सच्ची स्वीकारोक्ति है -

"कुछ ज़िम्मेदारियाँ हैं
कविता जिन्हें पूरा नहीं कर पा रही है
कुछ विचार हैं

कविता जिन्हें बाँध नहीं पा रही है।
कुछ गाँठें हैं
कविता जिन्हें खोल नहीं पा रही है।
कुछ स्वप्न हैं
कविता जिन्हें भाख नहीं पा रही है।
कुछ स्मृतियाँ हैं
कविता जिन्हें छोड़ नहीं पा रही है।
कुछ आगत है
कविता जिसे देख नहीं पा रही है।
कुछ अनुभव हैं
कविता जिनका समाहार नहीं कर पा रही है।

यही सब कारण है
कि तमाम परेशानियों के बावजूद
कविता फिर भी है
इतना सबकुछ कर पाने की कोशिशों के साथ,
अपने अधूरेपन के अहसास के साथ,
अक्षमता के बोध के साथ
हमारे इतने निकट।”

और शशि की एक दूसरी कविता तमाम हम-जैसों के जीवन का ‘डायलेक्टिक्स’ है

“एक अमूर्त चित्र मुझे आकृष्ट कर रहा है।
एक अस्पष्ट दिशा मुझे खींच रही है।
एक निश्चित भविष्य समकालीन
अनिश्चय को जन्म दे रहा है।
(या समकालीन अनिश्चय
एक निश्चित भविष्य में ढल रहा है?)
एक अनिश्चय मुझे निर्णायक बना रहा है।
एक अगम्भीर हँसी मुझे रुला रही है।
एक आत्यंतिक दार्शनिकता मुझे हँसा रही है।
एक अवश कर देनेवाला प्यार मुझे चिन्तित कर रहा है।
एक असमाप्त कथा मुझे जगा रही है।
एक अधूरा विचार मुझे जिला रहा है।
एक त्रासदी मुझे कुछ कहने से रोक रही है।

एक सहज ज़िन्दगी मुझे सबसे जटिल चीज़ों पर
सोचने के लिए मजबूर कर रही है।
एक सरल राह मुझे
सबसे कठिन यात्रा पर लिये जा रही है।"

(डायरी, मार्च, 2001)

राज्यसत्ता और कविता

राज्यसत्ता एक शक्तिशाली रहस्य है हमारे सामने, एक कुहरीली आतंककारी चमक से ढँकी हुई।

लोग अपनी बेहद मानवीय ज़रूरतों से संचालित, विवश विद्रोह करते हैं और विचार इस प्रक्रिया में उन तक पहुँचता है।

वे समझते हैं राज्यसत्ता की शक्ति का रहस्य, और जीवन क उन्नततर नैसर्गिकता के लिए तोड़ते हैं वह रहस्य जो वस्तुतः रहस्य नहीं होता।

कविता जो स्वयं मानवीय ज़रूरत रही है, मानवीय ज़रूरतों की तड़प पैदा करती हुई, वह प्रकृति से वर्चस्व-विरोधी होती है और एक औज़ार भी होती है राज्य के रहस्य को भेदने-समझने का, जैसे कि जीवन के तमाम भेदों को जानने-समझने का।

कविता अपने तमाम प्रकट-अप्रकट, गोपन-अगोपन सौन्दर्य, अमूर्तन और दूसरी अभिलाक्षणिकताओं के साथ, बुनियादी तौर पर रहस्य-विरोधी है।

कविता को रहस्य बनाना उसे राज्यसत्ता के पक्ष में खड़ा करना है। कविता को कर्मकाण्ड बनाना उसे कर्मकाण्ड के पक्ष में खड़ा करना है, जैसे कि कविता को विद्रोही बनाना उसे विद्रोह के पक्ष में खड़ा करना है।

कविता की प्रेतपूजा, या उसके प्रति अंधश्रद्धा, माल-अंधश्रद्धा या माल की प्रेतपूजा (कमोडिटी फेटिशिज़्म) का ही एक रूप है। कविता एक बेहद मामूली, रोज़मर्रे के ज़रूरी सामान के रूप में होनी चाहिए, जैसे कि बागवानी के लिए खुरपी, सफाई के लिए झाड़ू, खाने के लिए थाली, आँसू पोंछने के लिए रूमाल, घिसाई के लिए रेगमाल।

पर आज कविता एक माल है। और माल के रूप में कविता के अन्त का संघर्ष भी समाजवाद के लिए संघर्ष का एक एजेण्डा है।

(डायरी, अगस्त, 2000)

मुर्दाबाद! मुर्दाबाद!

न चाहते हुए भी, कविताओं से अलग जाकर यह देखने की कोशिश करने लगती

हूँ कि कोई कवि अपनी ज़िन्दगी में ईमानदार, सच्चा, शिशुवत्, सरल, नरमदिल और गरमदिल, विद्रोही और कुछ पगलेट टाइप है या नहीं!

कैसा लगता है एक कवि, घर बनवाता, फ़्लैट खरीदता, बीमे और बचत की रकम जोड़ता, बॉस की खुशामद करता, अर्जियाँ लिखता...? भला वह कविता कैसे लिख लेता है? क्यों लिखता है? उसे अपने से घृणा नहीं होती? क्या आत्महत्या करने का विचार उसके दिल में नहीं आता?

राजेश शर्मा ने कर ली। क्या यह उनकी ईमानदारी थी?

... तो यह भी भारतीय कविता की दुर्दशा का एक कारण है!

बन्तू, पाखण्डी, कूपमण्डूक, तिकड़मी, घरबारू कवि - मुर्दाबाद! सुरक्षा की कामना - मुर्दाबाद! सम्मान की चाहत - मुर्दाबाद!

(डायरी, अगस्त, 2000)

जब आयेंगे दिन कविता के

क्या कविता की प्रकृति में ही एक किस्म की अराजकता-उच्छृंखलता रची-बसी होती है?

क्या कविता और राजनीतिक कर्म के बीच एक सतत तनाव की स्थिति अपरिहार्य होती है?

राजनीतिक कर्म सामाजिक जीवन में संरचनात्मक बदलाव का अग्रणी कर्म है। इस रूप में उसके साथ कविता की आत्मा हर हमेशा मौजूद रहनी चाहिए। माओ हमेशा इस बात पर अनायास नहीं ज़ोर देते थे कि हमारे चिन्तन के केन्द्र में हर हमेशा इंसान होना चाहिए, न कि योजनाएँ और नीतियाँ।

और कविता के साथ राजनीति की एक सुनिश्चित समझ ज़्यादा से ज़्यादा सचेतन और मज़बूत होनी चाहिए। पर राजनीति कविता की संरचना और बनावट-बुनावट में दीखती रहे तो कविता कुरूप हो जाती है। राजनीति वहाँ जीवन और प्रकृति की नैसर्गिकता की तरह होनी चाहिए। बेशक कहीं-कहीं उसे प्रत्यक्ष भी होना चाहिए। आख़िरकार जीवन में भी तो ऐसा ही होता है।

लेकिन फिर भी यह सवाल उमड़ता-घुमड़ता रहता है कि क्या कविता की प्रकृति में ही कुछ अराजकता-उच्छृंखलता अन्तर्निहित होती है? या यह चीज़ महज़ उस पूँजीवादी समाज की प्रतिक्रिया है जो आज अपनी प्रकृति से ही काव्यनिषेधी है, और मानवद्रोही है। **मार्क्स** ने भी तो लिखा था, *"पूँजीवादी उत्पादन आत्मिक उत्पादन के कुछ रूपों से, उदाहरण के लिए, कला तथा काव्य से शत्रुता रखता है।"*

...क्या कारण है कि कविता में राजनीति को साधने की कोशिशें हमेशा सफल नहीं

हो पातीं? कभी-कभी तो तनाव इतना होता है कि या तो सब कुछ बेसुरा-बेताल हो जाता है या फिर तार ही टूट जाते हैं।

...सबसे सुगम होता है, सहज रूप से लिखते जाना, राजनीति जितनी रची-पची है, आ जाये अपने-आप सभी अच्छाइयों-कमज़ोरियों को उघाड़ती हुई।

कुछ लोग कविता में राजनीति को साधने का काम चालाकी या बेईमानी से कर ले जाते हैं। उनकी कविता में तराश हो भी तो अपनापा नहीं महसूस होता। या फिर वह कविता ही नहीं लगती क्योंकि राजनीति साधने में कविता का सिरा हाथ से छूट जाता है।

जो कवि ईमानदारी से इस काम को करने की कोशिश करते हैं, वे भयानक तनाव और मानसिक यंत्रणा झेलते हैं और कभी-कभी लिखना अचानक बन्द कर देने, पागलपन या आत्महत्या की नियति तक जा पहुँचते हैं। मायकोव्स्की और येस्येनिन जैसों की आत्महत्या के पीछे उनके मानस में सक्रिय कुछ ऐसे ही कारण तो नहीं थे?

जब श्रम-विभाजन जनित 'एलियनेशन' नहीं होगा, जब 'सेल्फ-एलियेनेशन' नहीं होगा, तब शायद राजनीति में कविता और कविता में राजनीति एक द्वन्द्वात्मक सन्तुलन की स्थिति में मौजूद रहेगी। तब शायद किसी मायकोव्स्की या येस्येनिन को मृत्यु का विकल्प न चुनना पड़े।

ऐसे समाज में कवि और कविता का जीवन सुरक्षित होगा। और जीवन की कविता भी। उस कविता के आगे आज की महान कविता भी 'प्रोटोटाइप' लगेगी।

वे कविता के दिन होंगे। वे ज़रूर आयेंगे। भले ही एक या दो शताब्दियों का समय क्यों न लग जाये!

(डायरी, जून, 2000)

कविता का स्रोत

मेरे लिए, कविता सर्वोपरि तौर पर, बुनियादी तौर पर, बिम्बों का एक पूरा संसार है, उनका विधान है।

हमें कविता का कच्चा माल लाना होता है - दो खदानों से - स्मृतियों की और कल्पना की खदानों से।

सवाल यह उठता है कि वहाँ तक पहुँचे कैसे? इसके लिए उस खौलते हुए तरल धातु की नदी में उतरना होता है जो हमारे आसपास की ज़िन्दगी है - अपूर्ण कामनाओं-लालसाओं, विद्रोहों, हारों-जीतों, कामयाबियों-नाकामयाबियों से भरी हुई, कोमल-कठोर, सुन्दर-असुन्दर के द्वन्द्वात्मक संघातों से उत्तप्त, गतिमान। हम इस नदी में उतरते हैं, वे ठोस नहीं होतीं। वे ऊर्जा जैसी होती हैं। उन्हें हम बिम्बों में रूपान्तरित

करके कविता में उतारते हैं तो वे ठोस, वस्तुगत यर्थाथ बन जाती हैं। यह ऊर्जा को पदार्थ में बदलने का कविता का अपना भौतिकशास्त्रीय विधान है, जिसे सिर्फ़ सच्चे कवि ही समझते हैं।

(डायरी, मई, 2000)

अपने बारे में

नाम कुछ कठिन ज़रूर है मेरा
पर बिना किसी समझदारी के रखा गया।

मैं जिस अँधेरे से आई हूँ वहाँ अविश्वसनीय है मेरी कविता,
अनादृत और शायद छिपा देने लायक़ भी।

प्रतिभा मेरे अन्दर कोई खास नहीं थी, न पढ़ने की, न चाहत,
न कोई महत्वाकांक्षा, बस नियमों के प्रति अनादर था
और भय नहीं था कभी कोई

यहीं कहीं से एक विद्रोह जन्मा, सीझने लगे विचार
पर समझ बनी रही फिर भी काफ़ी हद तक अनुभववादी।

अनुभव से चलती हूँ या सत्संग-प्राप्त ज्ञान से
फिर भी आग्रह रखती हूँ विज्ञान का, जानकर कि यही सही है।

जिनसे सीखा बहुत कुछ, उनमें से बहुतेरे आज शत्रु हैं
कृतज्ञ हूँ अपने बहुतेरे शत्रुओं की, कृतघ्न नहीं।

सोना मुझे खूब प्रिय है और चटोरपन भी
मोटापे की चिन्ता किये बिना।

शत्रुता सिर्फ़ बड़े लोगों से करती हूँ,
बाकियों के लिए मेरी उपेक्षा काफ़ी है।

बहुत कठिन है चीज़ों को बदलना
पर और भी कठिन है बदलना खुद को।

इस कठिन काम में लगी हूँ फिर भी
जानते हुए कि एकदम निश्चित नहीं कुछ भी अभी।

फिर भी एक दिशा है सामने। समय ही है कठिन

जैसा कि मेरा नाम ही कठिन है तो क्या करें?

शोहरत की आँच पर सिंकते कवियों का कबाब खाती
नरभक्षी होने से डरे बिना, पर नरभक्षी नहीं हूँ।

मित्र? - बहुत हैं शायद।
मैं उन्हें जानती नहीं।

प्यार के बारे में भी बताऊँगी बहुत सारी बातें
थोड़ा और कर लूँ, अभी जो किया वह तो कुछ भी नहीं।

यह सब कुछ जो बताया मैंने अपने बारे में
यह तो कुछ भी नहीं है
और बहुत कुछ ग़लतबयानी भी है इसमें

मत कीजिये मुझपर बहुत अधिक भरोसा
इससे बहुत घुटन होती है, छिनती है आज़ादी भी।

वैसे चाहें तो कर भी सकते हैं भरोसा मुझपर
अगर आपको गच्चा खाने का शौक हो।

मुझे विश्वास में लेकर कीजिये कोई राज़ की बात
और उम्मीद कीजिये कि कल के अखबारों में वह छपी होगी।

इतने ख़तरनाकपन के बावजूद, पूरी गर्मजोशी और ईमानदारी से
है मेरा यह प्रस्ताव - आइये दोस्ती करें और बातें करें बेहिसाब।

यदि आप भी होना चाहते हैं एक ख़तरनाक आदमी
तो स्वीकारिये मेरा प्रस्ताव, इधर आइये अपने रहस्यों के साथ।

(डायरी, मार्च, 2000)

कुछ भविष्यवाणियाँ, कुछ फ़ैसले

...वे जो भाषा को बदलकर, शब्दों को मनमाने अर्थ देकर हमसे चीज़ों की पहचान छीनने की कोशिश कर रहे हैं, इतिहास उन्हें भीषण शाप देगा। लोक-स्मृतियाँ तो फिर भी रहेंगी। कविता तो फिर भी रहेगी। और वे शापित लोग जब कभी सपनों की घाटी में जाना चाहेंगे, सरहदों पर उन्हें रोक दिया जायेगा। उनके पास पारपत्र नहीं होंगे। तब वे कविता की ज़रूरत महसूस करेंगे, पर अवश होंगे। वे भटकते रहेंगे, बिलखते-बिसूरते रहेंगे और विस्मृति में, पागलपन में - कहीं भी उन्हें शरण नहीं मिलेगी।

और तब, पूरी दुनिया में एक बार फिर भूकम्प आयेगा। और यही वह समय होगा, जब कविता उन तक जायेगी, जिनको हमेशा उसकी सबसे अधिक ज़रूरत रही है, और जिनसे वह बलपूर्वक काफ़ी पहले छीन ली गयी थी, जैसे कि वे तमाम चीज़ें छीन ली गयी थीं जो उनकी थीं, जो उन्होंने पैदा किया था। एक अच्छा-से-अच्छा कवि भी यह भूलेगा तो तंग दर्रों-घाटियों में रास्ता भटककर आत्महत्या, स्मृतिलोप या आत्मनिर्वासन की अँधी गुफ़ा तक जा पहुँचेगा।

...जो रहस्य हम कविगण जानते हैं और कविता की तहों में छुपाकर रखते हैं और ब्रेष्ट की तरह मुल्क-दर-मुल्क भटकते रहते हैं और लोर्का की तरह मौत के सुपुर्द कर दिये जाते हैं, वह फिर भी हमारा अपना नहीं है। वह एक अमानत है। सच्ची कविता निजी स्वामित्व के ख़िलाफ़ है और सच्चा कवि भी। इसलिए कवि को कभी-कभी लड़ना भी होता है, बन्दूक भी उठानी पड़ती है और फ़ौरी तौर पर कविता के ख़िलाफ़ लगनेवाले कुछ फैसले भी लेने पड़ते हैं। ऐसे दौर आते रहे हैं और आगे भी आयेंगे।

(डायरी, दिसम्बर, 1997)

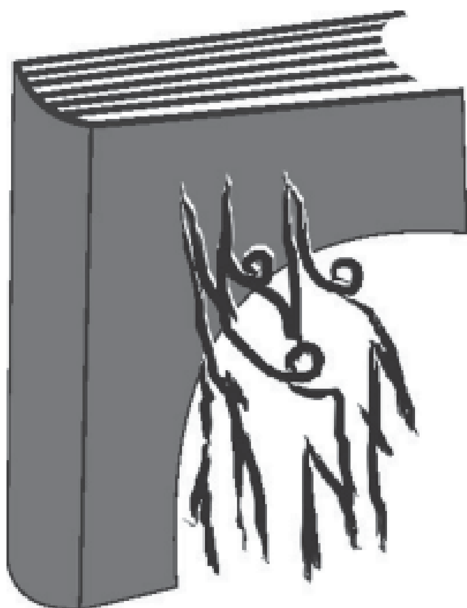


परिकल्पना प्रकाशन
लखनऊ

ISBN:81-87425-21-0
मूल्य / रु. 90-00

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता
बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना



सम्पूर्ण सूचीपत्र

हम हैं सपनों के हरकारे
हम हैं विचारों के डाकिये

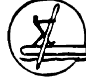
आम लोगों के लिए
ज़रूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुँचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।
घर–घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज़ हवा का झोंका बन जाना होगा
ज़िन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन–जन तक पहुँचाना होगा।

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन–जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी–सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी–सी दुकान और फ़ुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी–छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर–घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। एक बड़े और एक छोटे प्रदर्शनी वाहन के माध्यम से जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला–सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन–संघर्ष–सृजन–प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइये, आप सभी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

सम्पूर्ण सूचीपत्र



परिकल्पना प्रकाशन

उपन्यास

1.	**तरुणाई का तराना**/याङ मो		...
2.	**तीन टके का उपन्यास**/बेर्टोल्ट ब्रेष्ट		...
3.	**माँ**/मक्सिम गोर्की		...
4.	**वे तीन**/मक्सिम गोर्की		75.00
5.	**मेरा बचपन**/मक्सिम गोर्की		...
6.	**जीवन की राहों पर**/मक्सिम गोर्की		...
7.	**मेरे विश्वविद्यालय**/मक्सिम गोर्की		...
8.	**फ़ोमा गोर्देयेव**/मक्सिम गोर्की		55.00
9.	**अभागा**/मक्सिम गोर्की		40.00
10.	**बेकरी का मालिक**/मक्सिम गोर्की		25.00
11.	**असली इन्सान**/बोरिस पोलेवोई		...
12.	**तरुण गार्ड**/अलेक्सान्द्र फ़देयेव	(दो खण्डों में)	160.00
13.	**गोदान**/प्रेमचन्द		...
14.	**निर्मला**/प्रेमचन्द		...
15.	**पथ के दावेदार**/शरत्चन्द्र		...
16.	**चरित्रहीन**/शरत्चन्द्र		...
17.	**गृहदाह**/शरत्चन्द्र		...
18.	**शेषप्रश्न**/शरत्चन्द्र		...
19.	**इन्द्रधनुष**/वान्दा वैसील्युस्का		65.00
20.	**इकतालीसवाँ**/बोरीस लव्रेन्योव		...
21.	**दास्तान चलती है** (एक नौजवान की डायरी से)/अनातोली कुज़्नेत्सोव		70.00

22. **वे सदा युवा रहेंगे**/ग्रीगोरी बकलानोव 60.00
23. **मुर्दों को क्या लाज-शर्म**/ग्रीगोरी बकलानोव 40.00
24. **बख़्तरबन्द रेल 14-69**/व्सेवोलोद इवानोव 30.00
25. **अश्वसेना**/इसाक बाबेल 40.00
26. **लाल झण्डे के नीचे**/लाओ श 50.00
27. **रिक्शावाला**/लाओ श 65.00
28. **चिरस्मरणीय** (प्रसिद्ध कन्नड़ उपन्यास)/निरंजन 55.00
29. **एक तयशुदा मौत** (एनजीओ की पृष्ठभूमि पर)/मोहित राय ...
30. **Mother**/*Maxim Gorky* 250.00
31. **The Song of Youth**/*Yang Mo* ...

कहानियाँ

1. **श्रेष्ठ सोवियत कहानियाँ** (3 खण्डों का सेट) 450.00
2. **वह शख़्स जिसने हैडलेबर्ग को भ्रष्ट कर दिया** (मार्क ट्वेन की दो कहानियाँ) 60.00

मक्सिम गोर्की

3. **चुनी हुई कहानियाँ** (खण्ड 1) ...
4. **चुनी हुई कहानियाँ** (खण्ड 2) ...
5. **चुनी हुई कहानियाँ** (खण्ड 3) ...
6. **हिम्मत न हारना मेरे बच्चो** 15.00
7. **कामो : एक जाँबाज़ इन्क़लाबी मज़दूर की कहानी** 10.00

अन्तोन चेख़व

8. **चुनी हुई कहानियाँ** (खण्ड 1) ...
9. **चुनी हुई कहानियाँ** (खण्ड 2) ...
10. **दो अमर कहानियाँ**/लू शुन ...
11. **श्रेष्ठ कहानियाँ**/प्रेमचन्द 80.00
12. **पाँच कहानियाँ**/पुश्किन ...
13. **तीन कहानियाँ**/गोगोल 30.00
14. **तूफ़ान**/अलेक्सान्द्र सेराफ़ीमोविच 60.00
15. **वसन्त**/सेर्गेई अन्तोनोव 60.00
16. **वसन्तागम**/रओ शि 50.00

17. **सूरज का ख़ज़ाना**/मिख़ाईल प्रीश्विन 40.00
18. **स्नेगोवेत्स का होटल**/मत्वेई तेवेल्योव 35.00
19. **वसन्त के रेशम के कीड़े**/माओ तुन 50.00
20. **क्रान्ति झंझा की अनुगूँजें** (अक्टूबर क्रान्ति की कहानियाँ) 75.00
21. **चुनी हुई कहानियाँ**/श्याओ हुङ 50.00
22. **समय के पंख**/कोन्स्तान्तीन पाउस्तोव्सकी ...
23. **श्रेष्ठ रूसी कहानियाँ** (संकलन) ...
24. **अनजान फूल**/आन्द्रेई प्लातोनोव ...
25. **कुत्ते का दिल**/मिख़ाईल बुल्गाकोव 70.00
26. **दोन की कहानियाँ**/मिख़ाईल शोलोख़ोव 35.00
27. **अब इन्साफ़ होने वाला है** ...
(भारत और पाकिस्तान की प्रगतिशील उर्दू कहानियों का प्रतिनिधि संकलन)
(ग्यारह नयी कहानियों सहित परिवर्द्धित संस्करण)/स. **शकील सिद्दीक़ी**
28. **लाल कुरता**/हरिशंकर श्रीवास्तव ...
29. **चम्पा और अन्य कहानियाँ**/मदन मोहन 35.00

कविताएँ

1. **पानी है तो फूटेगा**/राजेश सकलानी नयी 100.00
2. **वाचाल दायरों से दूर**/मलय नयी 125.00
3. **सवालों का कारख़ाना**/सरिता तिवारी (नेपाली कविताएँ) नयी 100.00
4. **जब मैं जड़ों के बीच रहता हूँ**/पाब्लो नेरूदा 60.00
5. **आँखें दुनिया की तरफ़ देखती हैं**/लैंग्सटन ह्यूज 60.00
6. **उम्मीद-ए-सहर की बात सुनो** (फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के संस्मरण और चुनिन्दा शायरी, सम्पादक: शकील सिद्दीक़ी) ...
7. **माओ त्से-तुङ की कविताएँ** (राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियाँ एवं अनुवाद : सत्यव्रत) 20.00
8. **इकहत्तर कविताएँ और तीस छोटी कहानियाँ - बेर्टोल्ट ब्रेष्ट**
(मूल जर्मन से अनुवाद : मोहन थपलियाल)
(ब्रेष्ट के दुर्लभ चित्रों और स्केचों से सज्जित) 130.00
9. **समर तो शेष है...** (इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का संकलन) 65.00

8. **मध्यवर्ग का शोकगीत**/हान्स माग्नुस एन्त्सेन्सबर्गर 30.00
9. **जेल डायरी**/हो ची मिन्ह 40.00
10. **ओस की बूँदें और लाल ग़ुलाब**/होसे मारिया सिसों 25.00
11. **इन्तिफ़ादा :** फ़लस्तीनी कविताएँ/स. रामकृष्ण पाण्डेय ...
12. **लहू है कि तब भी गाता है**/पाश ...
13. **लोहू और इस्पात से फूटता ग़ुलाब :** फ़लस्तीनी कविताएँ (द्विभाषी संकलन)
    A Rose Breaking Out of Steel and Blood (Palestinian Poems) ...
14. **पाठान्तर**/विष्णु खरे 50.00
15. **लालटेन जलाना** (चुनी हुई कविताएँ)/विष्णु खरे 60.00
16. **ईश्वर को मोक्ष**/नीलाभ 60.00
17. **बहनें और अन्य कविताएँ**/असद ज़ैदी ...
18. **सामान की तलाश**/असद ज़ैदी ...
19. **कोहेकाफ़ पर संगीत-साधना**/शशिप्रकाश 50.00
20. **पतझड़ का स्थापत्य**/शशिप्रकाश 75.00
21. **सात भाइयों के बीच चम्पा**/कात्यायनी (पेपरबैक) ...
    (हार्डबाउंड) 125.00
22. **इस पौरुषपूर्ण समय में**/कात्यायनी ...
23. **जादू नहीं कविता**/कात्यायनी (पेपरबैक) ...
    (हार्डबाउंड) 200.00
24. **फ़ुटपाथ पर कुर्सी**/कात्यायनी 80.00
25. **राख-अँधेरे की बारिश में**/कात्यायनी 15.00
26. **यह मुखौटा किसका है**/विमल कुमार 50.00
27. **यह जो वक्त है**/कपिलेश भोज 60.00
28. **देश एक राग है**/भगवत रावत ...
29. **बहुत नर्म चादर थी जल से बुनी**/नरेश चन्द्रकर 60.00
30. **दिन भौंहें चढ़ाता है**/मलय 120.00
31. **देखते न देखते**/मलय 65.00
32. **असम्भव की आँच**/मलय 100.00
33. **इच्छा की दूब**/मलय 90.00
34. **इस ढलान पर**/प्रमोद कुमार 90.00
35. **तो**/शैलेय 75.00

नाटक

1. **करवट**/मक्सिम गोर्की 40.00
2. **दुश्मन**/मक्सिम गोर्की 35.00
3. **तलछट**/मक्सिम गोर्की ...
4. **तीन बहनें** (दो नाटक)/अन्तोन चेख़व 45.00
5. **चेरी की बग़िया** (दो नाटक)/अ. चेख़व 45.00
6. **बलिदान जो व्यर्थ न गया**/व्सेवोलोद विश्नेव्स्की 30.00
7. **क्रेमलिन की घण्टियाँ**/निकोलाई पोगोदिन 30.00

संस्मरण

1. **लेव तोल्स्तोय : शब्द-चित्र**/मक्सिम गोर्की 20.00

स्त्री-विमर्श

1. **दुर्ग द्वार पर दस्तक** (स्त्री प्रश्न पर लेख)/कात्यायनी 130.00

ज्वलन्त प्रश्न

1. **कुछ जीवन्त कुछ ज्वलन्त**/कात्यायनी 90.00
2. **षड्यन्त्ररत मृतात्माओं के बीच**
(साम्प्रदायिकता पर लेख)/कात्यायनी 25.00
3. **इस रात्रि श्यामला बेला में** (लेख और टिप्पणियाँ)/सत्यव्रत 30.00

व्यंग्य

1. **कहें मनबहकी खरी-खरी**/मनबहकी लाल 25.00

नौजवानों के लिए विशेष

1. **जय जीवन!** (लेख, भाषण और पत्र)/निकोलाई ओस्त्रोव्स्की ...

वैचारिकी

1. **माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य**/रेमण्ड लोट्टा 25.00

साहित्य-विमर्श

1. **उपन्यास और जनसमुदाय**/रैल्फ़ फ़ॉक्स 75.00
2. **लेखनकला और रचनाकौशल**/गोर्की, फ़ेदिन, मयाकोव्स्की, अ. तोल्सतोय ...
3. **दर्शन, साहित्य और आलोचना**/
बेलिंस्की, हर्ज़ेन, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव 65.00

4.	**सृजन-प्रक्रिया और शिल्प के बारे में**/मक्सिम गोर्की	40.00
5.	**मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ**/स्तालिन	20.00

नयी पीढ़ी के निर्माण के लिए

1.	**एक पुस्तक माता-पिता के लिए**/अन्तोन मकारेंको	...
2.	**मेरा हृदय बच्चों के लिए**/वसीली सुखोम्लीन्स्की	...

आह्वान पुस्तिका शृंखला

1.	**प्रेम, परम्परा और विद्रोह**/कात्यायनी	50.00

सृजन परिप्रेक्ष्य पुस्तिका शृंखला

1.	**एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के वैचारिक-सांस्कृतिक कार्यभार**/कात्यायनी, सत्यम	25.00



राहुल फ़ाउण्डेशन

नौजवानों के लिए विशेष

1.	**नौजवानों से दो बातें**/पीटर क्रोपोटकिन	15.00
2.	**क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा**/भगतसिंह	15.00
3.	**मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका**/भगतसिंह	15.00
4.	**बम का दर्शन और अदालत में बयान**/भगतसिंह	15.00
5.	**जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो**/भगतसिंह	15.00
6.	**भगतसिंह ने कहा...**(चुने हुए उद्धरण)/भगतसिंह	15.00

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़

1.	**भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़**/स. सत्यम	350.00
2.	**शहीदेआज़म की जेल नोटबुक**/भगतसिंह	100.00
3.	**विचारों की सान पर**/भगतसिंह	50.00

क्रान्तिकारियों के विचारों और जीवन पर

1.	**बहरों को सुनाने के लिए**/एस. इरफ़ान हबीब (भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और कार्यक्रम)	...
2.	**क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास**/शिव वर्मा	25.00
3.	**भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति**/बिपन चन्द्र	20.00
4.	**यश की धरोहर**/ भगवानदास माहौर, शिव वर्मा, सदाशिवराव मलकापुरकर	50.00
5.	**संस्मृतियाँ**/शिव वर्मा	80.00
6.	**शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक**/स. डॉ. हरदीप सिंह	40.00

महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक संकलन

1. **उम्मीद एक ज़िन्दा शब्द है**
   ('दायित्वबोध' के महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय लेखों का संकलन) 75.00
2. **एनजीओ : एक ख़तरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र** 60.00
3. **डब्ल्यूएसएफ़ : साम्राज्यवाद का नया ट्रोजन हॉर्स** 50.00

ज्वलन्त प्रश्न

1. **'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफ़ी नहीं, अम्बेडकर भी काफ़ी नहीं, मार्क्स ज़रूरी हैं** / रंगनायकम्मा ...
2. **जाति और वर्ग : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण** / रंगनायकम्मा 60.00

दायित्वबोध पुस्तिका शृंखला

1. **अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएँ**/दीपायन बोस 30.00
2. **समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति**/शशिप्रकाश 30.00
3. **क्यों माओवाद?**/शशिप्रकाश 20.00
4. **बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में**/चाङ चुन-चियाओ 5.00
5. **भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास**/सुखविन्दर 35.00

आह्वान पुस्तिका शृंखला

1. **छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?** 20.00
2. **आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष** 20.00
3. **आतंकवाद के बारे में : विभ्रम और यथार्थ** 20.00
4. **क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन** 25.00
5. **भ्रष्टाचार और उसके समाधान का सवाल सोचने के लिए कुछ मुद्दे** 50.00

बिगुल पुस्तिका शृंखला

1. **कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा**/लेनिन 20.00
2. **मकड़ा और मक्खी**/विल्हेल्म लीब्नेख़्त 5.00
3. **ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीक़े**/सेर्गेई रोस्तोवस्की ...
4. **मई दिवस का इतिहास**/अलेक्ज़ेण्डर ट्रैक्टनबर्ग 10.00
5. **पेरिस कम्यून की अमर कहानी** 20.00

6. **अक्टूबर क्रान्ति की मशाल** 25.00
7. **जंगलनामा : एक राजनीतिक समीक्षा**/डॉ. दर्शन खेड़ी 10.00
8. **लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस** ...
9. **संशोधनवाद के बारे में** 10.00
10. **शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी**/हावर्ड फ़ास्ट 20.00
11. **मज़दूर आन्दोलन में नयी शुरुआत के लिए** 20.00
12. **मज़दूर नायक, क्रान्तिकारी योद्धा** 15.00
13. **चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही** 15.00
14. **बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ** 15.00
15. **राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन**/अभिनव 30.00
16. **फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?**/अभिनव 125.00
17. **नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार**/आलोक रंजन 55.00
18. **कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है** आलोक रंजन/आनन्द सिंह ...

मार्क्सवाद

1. **धर्म के बारे में**/मार्क्स-एंगेल्स ...
2. **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र**/मार्क्स-एंगेल्स 50.00
3. **साहित्य और कला**/मार्क्स-एंगेल्स 150.00
4. **फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष**/कार्ल मार्क्स 40.00
5. **फ़्रांस में गृहयुद्ध**/कार्ल मार्क्स 20.00
6. **लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर**/कार्ल मार्क्स 35.00
7. **उजरती श्रम और पूँजी**/कार्ल मार्क्स 15.00
8. **मज़दूरी, दाम और मुनाफ़ा**/कार्ल मार्क्स 20.00
9. **गोथा कार्यक्रम की आलोचना**/कार्ल मार्क्स 40.00
10. **लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त**/फ़्रेडरिक एंगेल्स 20.00
11. **जर्मनी में क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति**/फ़्रेडरिक एंगेल्स 30.00
12. **समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक**/फ़्रेडरिक एंगेल्स ...
13. **पार्टी कार्य के बारे में**/लेनिन 15.00
14. **एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे**/लेनिन 60.00

15. **जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद के दो रणकौशल**/लेनिन 25.00
16. **समाजवाद और युद्ध**/लेनिन 20.00
17. **साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था**/लेनिन 30.00
18. **राज्य और क्रान्ति**/लेनिन 80.00
19. **सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काउत्स्की**/लेनिन ...
20. **दूसरे इण्टरनेशनल का पतन**/लेनिन 15.00
21. **गाँव के ग़रीबों से**/लेनिन 50.00
22. **मार्क्सवाद का विकृत रूप तथा साम्राज्यवादी अर्थवाद**/लेनिन 20.00
23. **कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा**/लेनिन 20.00
24. **क्या करें?**/लेनिन ...
25. **"वामपन्थी" कम्युनिज़्म - एक बचकाना मर्ज़**/लेनिन ...
26. **पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन**/लेनिन 15.00
27. **जनता के बीच पार्टी का काम**/लेनिन 70.00
28. **धर्म के बारे में**/लेनिन 50.00
29. **तोल्स्तोय के बारे में**/लेनिन 10.00
30. **मार्क्सवाद की मूल समस्याएँ**/जी. प्लेख़ानोव 30.00
31. **जुझारू भौतिकवाद**/प्लेख़ानोव 35.00
32. **लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त**/स्तालिन 50.00
33. **सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास** 90.00
34. **माओ त्से-तुङ की रचनाएँ : प्रतिनिधि चयन** (एक खण्ड में) ...
35. **कम्युनिस्ट जीवनशैली और कार्यशैली के बारे में**/माओ त्से-तुङ ...
36. **सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना**/माओ त्से-तुङ ...
37. **दर्शन विषयक पाँच निबन्ध**/माओ त्से-तुङ 70.00
38. **कला-साहित्य विषयक एक भाषण और पाँच दस्तावेज़** / माओ त्से-तुङ 15.00
39. **माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण** 50.00

अन्य मार्क्सवादी साहित्य

1. **राजनीतिक अर्थशास्त्र, मार्क्सवादी अध्ययन पाठ्यक्रम** 300.00
2. **ख्रुश्चेव झूठा था**/ग्रोवर फ़र 300.00
3. **राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त** (दो खण्डों में) (दि शंघाई टेक्स्टबुक ऑफ़ पोलिटिकल इकोनॉमी) 160.00
4. **पेरिस कम्यून की शिक्षाएँ** (सचित्र)/एलेक्ज़ेण्डर ट्रैक्टनबर्ग ...

5. **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र**/डी. रियाज़ानोव 100.00
(विस्तृत व्याख्यात्मक टिप्पणियों सहित)
6. **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**/डेविड गेस्ट ...
7. **इतिहास ने जब करवट बदली**/विलियम हिण्टन 25.00
8. **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**/वी. अदोरात्स्की 50.00
9. **अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन**/अल्बर्ट रीस विलियम्स 90.00
(महत्त्वपूर्ण नयी सामग्री और अनेक नये दुर्लभ चित्रों से सज्जित परिवर्द्धित संस्करण)
10. **सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना**/मार्टिन निकोलस 50.00

राहुल साहित्य

1. **तुम्हारी क्षय**/राहुल सांकृत्यायन 40.00
2. **दिमाग़ी ग़ुलामी**/राहुल सांकृत्यायन 40.00
3. **वैज्ञानिक भौतिकवाद**/राहुल सांकृत्यायन 65.00
4. **राहुल निबन्धावली**/राहुल सांकृत्यायन 50.00
5. **स्तालिन : एक जीवनी**/राहुल सांकृत्यायन 150.00

परम्परा का स्मरण

1. **चुनी हुई रचनाएँ**/गणेशशंकर विद्यार्थी 100.00
2. **सलाखों के पीछे से**/गणेशशंकर विद्यार्थी ...
3. **ईश्वर का बहिष्कार**/राधामोहन गोकुलजी 30.00
4. **लौकिक मार्ग**/राधामोहन गोकुलजी 20.00
5. **धर्म का ढकोसला**/राधामोहन गोकुलजी 30.00
6. **स्त्रियों की स्वाधीनता**/राधामोहन गोकुलजी 30.00

जीवनी और संस्मरण

1. **कार्ल मार्क्स जीवन और शिक्षाएँ**/ज़ेल्डा कोट्स 25.00
2. **फ़्रेडरिक एंगेल्स : जीवन और शिक्षाएँ**/ज़ेल्डा कोट्स 80.00
3. **कार्ल मार्क्स : संस्मरण और लेख** ...
4. **अदम्य बोल्शेविक नताशा**
(एक स्त्री मज़दूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी)/एल. काताशेवा 30.00
5. **लेनिन कथा**/मरीया प्रिलेज़ायेवा 70.00
6. **लेनिन विषयक कहानियाँ** 75.00

7. **लेनिन के जीवन के चन्द पन्ने**/लीदिया फ़ोतियेवा ...
8. **स्तालिन : एक जीवनी**/राहुल सांकृत्यायन 150.00

इतिहास

1. **विस्मृत विद्रोह :** 1946 के नौसैनिक विद्रोह की प्रेरक गाथा/ नयी
सं. सुरेन्द्र कुमार 50.00

विविध

1. **फाँसी के तख़्ते से**/जूलियस फ़्यूचिक ...
2. **पाप और विज्ञान**/डायसन कार्टर 100.00
3. **सापेक्षिकता सिद्धान्त क्या है?**/लेव लन्दाऊ, यूरी रूमेर ...

Rahul Foundation

MARXIST CLASSICS

KARL MARX

1.	**A Contribution to the Critique of Political Economy**	...
2.	**The Civil War in France**	...
3.	**The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte**	...
4.	**Critique of the Gotha Programme**	50.00
5.	**Preface and Introduction to A Contribution to the Critique of Political Economy**	25.00
6.	**The Poverty of Philosophy**	80.00
7.	**Wages, Price and Profit**	50.00
8.	**Class Struggles in France**	50.00

FREDERICK ENGELS

9.	**The Peasant War in Germany**	70.00
10.	**Ludwig Feuerbach and the End of Classical German Philosophy**	65.00
11.	**On Capital**	55.00
12.	**The Origin of the Family, Private Property and the State**	100.00
13.	**Socialism: Utopian and Scientific**	60.00
14.	**On Marx**	30.00
15.	**Principles of Communism**	5.00

MARX and ENGELS

16.	**Historical Writings** (Set of 2 Vols.)	700.00
17.	**Manifesto of the Communist Party**	50.00
18.	**Selected Letters**	...

V. I. LENIN

19.	**Theory of Agrarian Question**	160.00
20.	**The Collapse of the Second International**	25.00
21.	**Imperialism, the Highest Stage of Capitalism**	80.00
22.	**Materialism and Empirio-Criticism**	150.00

23. **Two Tactics of Social-Democracy in the Democratic Revolution** 55.00
24. **Capitalism and Agriculture** 50.00
25. **A Characterisation of Economic Romanticism** ...
26. **On Marx and Engels** 35.00
27. **"Left-Wing" Communism, An Infantile Disorder** ...
28. **Party Work in the Masses** 55.00
29. **The Proletarian Revolution and the Renegade Kautsky** 75.00
30. **One Step Forward, Two Steps Back** ...
31. **The State and Revolution** 80.00

MARX, ENGELS and LENIN

32. **On the Dictatorship of Proletariat,** ***Questions and Answers*** 50.00
33. **On the Dictatorship of the Proletariat:** ***Selected Expositions*** 10.00

PLEKHANOV

34. **Fundamental Problems of Marxism** ...

J. STALIN

35. **Marxism and Problems of Linguistics** 25.00
36. **Anarchism or Socialism?** 25.00
37. **Economic Problems of Socialism in the USSR** ...
38. **On Organisation** 15.00
39. **The Foundations of Leninism** 70.00
40. **The Essential Stalin** *Major Theoretical Writings 1905–52* 175.00
    (Edited and with an Introduction by Bruce Franklin)

LENIN and STALIN

41. **On the Party** 30.00

MAO TSE-TUNG

42. **Five Essays on Philosophy** 80.00
43. **A Critique of Soviet Economics** 70.00
44. **On Literature and Art** 80.00

45. **Selected Readings from the Works of Mao Tse-tung** ...

46. **Quotations from the Writings of Mao Tse-tung** ...

OTHER MARXISM

1. **Political Economy,** ***Marxist Study Courses*** (Prepared by the British Communist Party in the 1930s) 275.00
2. **Fundamentals of Political Economy** (The Shanghai Textbook) 150.00
3. **Reader in Marxist Philosophy**/ *Howard Selsam & Harry Martel* ...
4. **Socialism and Ethics**/*Howard Selsam* ...
5. **What Is Philosophy?** (A Marxist Introduction)**/** *Howard Selsam* 100.00
6. **Reader's Guide to Marxist Classics/***Maurice Cornforth* 70.00
7. **From Marx to Mao Tse-tung /**George Thomson 120.00
8. **Capitalism and After/**George Thomson 100.00
9. **The Human Essence/**George Thomson 80.00
10. **Mao Tse-tung's Immortal Contributions/***Bob Avakian* ...
11. **A Basic Understanding of the Communist Party** (Written during the GPCR in China) 150.00
12. **The Lessons of the Paris Commune/** *Alexander Trachtenberg (Illustrated)* 15.00

BIOGRAPHIES & REMINISCENCES

1. **Reminiscences of Marx and Engels** (Collection) ...
2. **Karl Marx And Frederick Engels:** An Introduction to their Lives and Work/David Riazanov 150.00
3. **Joseph Stalin: A Political Biography** *by The Marx-Engels-Lenin Institute* 80.00

PROBLEMS OF SOCIALISM

1. **How Capitalism was Restored in the Soviet Union, And What This Means for the World Struggle (Red Papers 7)** 175.00

2. **Preface of Class Struggles in the USSR** / *Charles Bettelheim* 30.00
3. **Nepalese Revolution: History, Present Situation and Some Points, Some Thoughts on the Road Ahead** / *Alok Ranjan* 75.00
4. **Problems of Socialism, Capitalist Restoration and the Great Proletarian Cultural Revolution** / *Shashi Prakash* 40.00

ON THE CULTURAL REVOLUTION

1. **Hundred Day War:** The Cultural Revolution At Tsinghua University / *William Hinton* ...
2. **The Cultural Revolution at Peking University** / *Victor Nee* with *Don Layman* ...
3. **Mao Tse-tung's Last Great Battle** / *Raymond Lotta* 25.00
4. **Turning Point in China** / *William Hinton* ...
5. **Cultural Revolution and Industrial Organization in China** / *Charles Bettelheim* 55.00
6. **They Made Revolution Within the Revolution /** *Iris Hunter* ...

ON SOCIALIST CONSTRUCTION

1. **Away With All Pests:** An English Surgeon in People's China: 1954–1969 */ Joshua S. Horn* ...
2. **Serve The People:** Observations on Medicine in the People's Republic of China /*Victor W. Sidel* and *Ruth Sidel* ...
3. **Philosophy is No Mystery** (Peasants Put Their Study to Work) ...

CONTEMPORARY ISSUES

New
1. **Subversive Interventions** (An Anthology) **/** *Abhinav Sinha* 500.00

New
2. **On the Caste Question: Towards a Marxist Understanding /** *Abhinav Sinha* 200.00
3. **Caste and Class: A Marxist Viewpoint /** *Ranganayakamma* 60.00

DAYITVABODH REPRINT SERIES

1. **Immortal are the Flames of Proletarian Struggles /** *Deepayan Bose* 30.00
2. **Problems of Socialism, Capitalist Restoration and the Great Proletarian Cultural Revolution** / *Shashi Prakash* 40.00
3. **Why Maoism? /** *Shashi Prakash* 25.00

AHWAN REPRINT SERIES

1. **Where Should Students and Youth Make a New Beginning?** 20.00
2. **Reservation: Support, Opposition and Our Position** 20.00
3. **On Terrorism : Illusion and Reality /** *Alok Ranjan* 20.00

BIGUL REPRINT SERIES

1. **Still Ablaze is the Torch of October Revolution** 30.00
2. **Nepalese Revolution History, Present Situation and Some Points, Some Thoughts on the Road Ahead /** *Alok Ranjan* 75.00

WOMEN QUESTION

1. **The Emancipation of Women** / *V. I. Lenin* ...
2. **Breaking All Tradition's Chains: Revolutionary Communism and Women's Liberation /** *Mary Lou Greenberg* ...

MISCELLANEOUS

1. **Probabilities of the Quantum World /** *Daniel Danin* ...
2. **An Appeal to the Young /** *Peter Kropotkin* 20.00

"The books that help you most are those which make you think the most. The hardest way of learning is that of easy reading; but a great book that comes from a great thinker is a ship of thought, deep freighted with truth and beauty."

– Pablo Neruda



अरविन्द स्मृति न्यास के प्रकाशन

1. **इक्कीसवीं सदी में भारत का मज़दूर आन्दोलनः निरन्तरता और परिवर्तन, दिशा और सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ** (दूसरी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेख) 40.00
2. **भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलनः दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ** (तीसरी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेख) 80.00
3. **जाति प्रश्न और मार्क्सवाद** (चौथी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेख) 150.00

PUBLICATIONS FROM ARVIND MEMORIAL TRUST

1. **Working Class Movement in the Twenty-First Century: Continuity and Change, Orientation and Possibilities, Problems and Challenges** (Papers presented in the Second Arvind Memorial Seminar) 40.00
2. **Democratic Rights Movement in India: Orientation, Problems and Challenges** (Papers presented in the Third Arvind Memorial Seminar) 80.00
3. **Caste Question and Marxism** (Papers presented in the Fourth Arvind Memorial Seminar) 200.00

जनचेतना इन पुस्तकों की भी मुख्य वितरक है

1. **बच्चों के लिए अर्थशास्त्र (मार्क्स की 'पूँजी' पर आधारित पाठ)**/रंगनायकम्मा 120.00
2. **For the Solution of the 'Caste' Question, Buddha is not enough, Ambedkar is not enough either, Marx is a must**/*Ranganayakamma* 80.00
3. **Economics for Children [Lessons based on Marx's 'Capital']**/*Ranganayakamma* 150.00



अनुराग ट्रस्ट

1.	**बच्चों के लेनिन**	35.00
2	**Stories About Lenin**	35.00
3.	**सच से बड़ा सच**/रवीन्द्रनाथ ठाकुर	25.00
4.	**औज़ारों की कहानियाँ**	20.00
5.	**गुड़ की डली**/कात्यायनी	20.00
6.	**फूल कुंडलाकार क्यों होते हैं**/सनी	20.00
7.	**धरती और आकाश**/अ. वोल्कोव	...
8.	**कजाकी**/प्रेमचन्द	35.00
9.	**नीला प्याला**/अरकादी गैदार	40.00
10.	**गड़रिये की कहानियाँ**/क़यूम तंगरीकुलीयेव	35.00
11.	**चींटा और अन्तरिक्ष यात्री**/अ. मित्यायेव	35.00
12.	**अन्धविश्वासी शेकी टेल**/सेर्गेई मिखाल्कोव	20.00
13.	**चलता-फिरता हैट**/एन. नोसोव, होल्कर पुक्क	20.00
14.	**चालाक लोमड़ी** (लोककथा)	20.00
15.	**दियांका-टॉमचिक**	20.00
16.	**गधा और ऊदबिलाव**/मक्सिम गोर्की, सेर्गेई मिखाल्कोव	20.00
17.	**गुफा मानवों की कहानियाँ**/मैरी मार्स	...
18.	**हम सूरज को देख सकते हैं**/मिकोला गिल, दायर स्लावकोविच	20.00
19.	**मुसीबत का साथी**/सेर्गेई मिखाल्कोव	20.00
20.	**नन्हे आर्थर का सूरज**/हद्याक ग्युलनज़रयान, गेलीना लेबेदेवा	20.00
22.	**आकाश में मौज-मस्ती**/चिनुआ अचेबे	20.00
23.	**ज़िन्दगी से प्यार** (दो रोमांचक कहानियाँ)/जैक लण्डन	40.00
24.	**एक छोटे लड़के और एक छोटी लड़की की कहानी**/मक्सिम गोर्की	20.00
25.	**बहादुर**/अमरकान्त	15.00
26.	**बुन्नू की परीक्षा** (सचित्र रंगीन)/शस्या हर्ष	...

27.	**दान्को का जलता हुआ हृदय**/मक्सिम गोर्की	15.00
28.	**नन्हा राजकुमार**/आतुआन द सैंतेक्ज़ूपेरी	40.00
29.	**दादा आर्खिप और ल्योंका**/मक्सिम गोर्की	30.00
30.	**सेमागा कैसे पकड़ा गया**/मक्सिम गोर्की	15.00
31.	**बाज़ का गीत**/मक्सिम गोर्की	15.00
32.	**वांका**/अन्तोन चेख़व	15.00
33.	**तोता**/रवीन्द्रनाथ टैगोर	15.00
34.	**पोस्टमास्टर**/रवीन्द्रनाथ टैगोर	...
35.	**काबुलीवाला**/रवीन्द्रनाथ टैगोर	20.00
36.	**अपना-अपना भाग्य**/जैनेन्द्र	15.00
37.	**दिमाग़ कैसे काम करता है**/किशोर	25.00
38.	**रामलीला**/प्रेमचन्द	15.00
39.	**दो बैलों की कथा**/प्रेमचन्द	25.00
40.	**ईदगाह**/प्रेमचन्द	...
41.	**लॉटरी**/प्रेमचन्द	20.00
42.	**गुल्ली-डण्डा**/प्रेमचन्द	...
43.	**बड़े भाई साहब**/प्रेमचन्द	20.00
44.	**मोटेराम शास्त्री**/प्रेमचन्द	...
45.	**हार की जीत**/सुदर्शन	...
46.	**इवान**/व्लादीमिर बोगोमोलोव	40.00
47.	**चमकता लाल सितारा**/ली शिन-थ्येन	55.00
48.	**उल्टा दरख़्त**/कृश्नचन्दर	35.00
49.	**हरामी**/मिखाईल शोलोख़ोव	25.00
50.	**दोन किहोते** /सर्वान्तेस (नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	...
51.	**आश्चर्यलोक में एलिस** /लुइस कैरोल (नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	30.00
52.	**झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई**/वृन्दावनलाल वर्मा (नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	35.00
53.	**नन्हे गुदड़ीलाल के साहसिक कारनामे**/सुन यओच्युन	...
54.	**लाखी**/अन्तोन चेख़व	25.00
55.	**बेझिन चरागाह**/इवान तुर्गनेव	12.00

56.	**हिरनौटा**/द्मीत्री मामिन सिबिर्याक	25.00
57.	**घर की ललक**/निकोलाई तेलेशोव	20.00
58.	**बस एक याद**/लेओनीद अन्द्रेयेव	20.00
59.	**मदारी**/अलेक्सान्द्र कुप्रिन	35.00
60.	**पराये घोंसले में**/फ्योदोर दोस्तोयेव्स्की	20.00
61.	**कोहकाफ़ का बन्दी**/तोल्सतोय	30.00
62.	**मनमानी के मज़े**/सेर्गेई मिखाल्कोव	30.00
63.	**सदानन्द की छोटी दुनिया**/सत्यजीत राय	15.00
64.	**छत पर फँस गया बिल्ला**/विताउते जिलिन्सकाइते	35.00
65.	**गोलू के कारनामे**/रामबाबू	25.00
66.	**दो साहसिक कहानियाँ**/होल्गार पुक्क	15.00
67.	**आम ज़िन्दगी की मज़ेदार कहानियाँ**/होल्गार पुक्क	20.00
68.	**कंगूरे वाले मकान का रहस्यमय मामला**/होल्गार पुक्क	20.00
69.	**रोज़मर्रे की कहानियाँ**/होल्गार पुक्क	20.00
70.	**अजीबोग़रीब क़िस्से**/होल्गार पुक्क	...
71.	**नये ज़माने की परीकथाएँ**/होल्गार पुक्क	25.00
72.	**किस्सा यह कि एक देहाती ने दो अफ़सरों का कैसे पेट भरा**/मिखाइल सल्तिकोव-श्चेद्रिन	15.00
73.	**पश्चदृष्टि-भविष्यदृष्टि** (लेख संकलन)/ कमला पाण्डेय	30.00
74.	**यादों के घेरे में अतीत** (संस्मरण)/ कमला पाण्डेय	100.00
75.	**हमारे आसपास का अँधेरा** (कहानियाँ)/ कमला पाण्डेय	60.00
76.	**कालमन्थन** (उपन्यास)/ कमला पाण्डेय	60.00

हमारे पास आपको मिलेंगे

- विश्व क्लासिक्स
- स्तरीय प्रगतिशील साहित्य
- भगतसिंह और उनके साथियों का सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य
- मक्सिम गोर्की की पुस्तकों का सबसे बड़ा संग्रह
- भारतीय इतिहास के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी दस्तावेज़
- मार्क्सवादी साहित्य
- जीवन और समाज की समझ तथा विचारोत्तेजना देने वाला साहित्य
- प्रगतिशील क्रान्तिकारी पत्र–पत्रिकाएँ
- दिमाग़ की खिड़कियाँ खोलने और कल्पना की उड़ानों को पंख देने वाला बाल–साहित्य
- सुन्दर, सुरुचिपूर्ण, प्रेरक पोस्टर और कार्ड
- क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट
- साहित्यिक व क्रान्तिकारी उद्धरणों–चित्रों वाली टीशर्ट, कैलेण्डर, बुकमार्क, डायरी आदि ...

ऐसा साहित्य जो सपने देखने और भविष्य–निर्माण के लिए प्रेरित करता है!

(हिन्दी, अंग्रेज़ी, पंजाबी और मराठी में)

किताबें नहीं,
हम आने वाले कल के सपने लेकर आये हैं
किताबें नहीं,
हम असली इन्सान की तरह
जीने का संकल्प लेकर आये हैं

जनचेतना

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फ़ोन : 0522-4108495

अन्य केन्द्र :

- 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर-273001, फ़ोन : 7398783835
- दिल्ली : 9999750940
- नियमित स्टॉल : कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ
  शाम 5 से 8 बजे तक

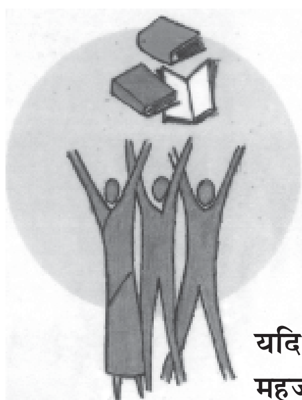
सहयोगी केन्द्र

- जनचेतना पुस्तक विक्रय केन्द्र, दुकान नं. 8, पंजाबी भवन, लुधियाना (पंजाब) फ़ोन : 09815587807

ईमेल : **info@janchetnabooks.org**
वेबसाइट : **www.janchetnabooks.org**

हमारी बुकशॉप और प्रदर्शनियों से पुस्तकें लेने के अलावा आप हमसे डाक से भी किताबें मँगा सकते हैं। हमारी वेबसाइट पर जाकर पुस्तक सूची से पुस्तकें चुनें और ईमेल या फोन से हमें ऑर्डर भेज दें। आप मनीऑर्डर या चेक से या सीधे हमारे बैंक खाते में भुगतान कर सकते हैं। आप वेबसाइट पर दिये **Instamojo** के लिंक से भी भुगतान कर सकते हैं। हमारी किताबें आप **Amazon** और **Flipkart** से भी ऑनलाइन मँगा सकते हैं।

बैंक खाते का विवरणः
Acc. Name: Janchetna Pustak Pratishthan Samiti
Acc. No. 0762002109003796
Bank: Punjab National Bank



यदि आपको महज़ मनोरंजन चाहिए,
महज़ नशे की एक ख़ुराक,
दिल को बहलाने के लिए एक ख़याल
तो नहीं हैं ऐसी किताबें हमारे पास।
हम ऐसी किताबें लेकर आये हैं
जो आपकी मोहनिद्रा झकझोरकर तोड़ दें,
जो आज के हालात पर
आपको सोचने के लिए मजबूर कर दें।
हम किताबें नहीं
लड़ने की ज़िद
और हालात की बेहतरी की उम्मीदें
लेकर आये हैं,
हम आने वाले कल के सपने लेकर आये हैं।
हम लेकर आये हैं
एक सार्थक, स्वाभिमानी, मुक्त जीवन की तड़प।
किताबें नहीं
हम असली इंसान की तरह
जीने का संकल्प लेकर आये हैं।

जनचेतना

एक सांस्कृतिक मुहिम
एक वैचारिक प्रोजेक्ट
वैकल्पिक मीडिया का एक मॉडल